
RC

ओ३म्

शांकर-भाष्यालोचन

लेखक

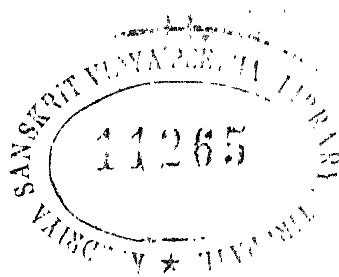
मंगलाप्रसाद—पारितोषिक प्राप्तकर्त्ता

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

[प्रणेता—आस्तिकवाद, अद्वैतवाद, जीवात्मा, मनुस्मृति, आर्य्यसमाज, विधवा-विवाह-मीमांसा, आर्य्य ट्रैकट माला, सर्वसिद्धान्त-संग्रह, शंकर रामानुज दयानन्द, राजा राममोहनराय केशवचन्द्रसेन दयानन्द, भगवद्-कथा, हम क्या खावें। हिन्दी शेक्सपियर (छः भाग), अँग्रेज़ जाति का इतिहास, धम्मपद, महिला-व्यवहार-चन्द्रिका, समाज-सुधार आदि आदि]

मुद्रक तथा प्रकाशक

कला प्रेस, प्रयाग।


SANSKRIT VIDYAPEETH LIBRARY
11265

ओ३म्

शाङ्कर भाष्यालोचन

प्राक्कथन

श्री शङ्कराचार्य जी का स्थान आर्यावर्त के नहीं अपितु समस्त जगत् के दार्शनिकों में बहुत ऊँचा है। उन्होंने अपने समय में जिस प्रकार नास्तिक मतों का प्रबल युक्ति परम्परा से निराकरण करके ब्रह्मवाद की स्थापना की उसके लिये प्रत्येक आस्तिक उनके लिये आदर का भाव रखता और उनके आगे नतमस्तक हो जाता है। उनकी विचार धारा से पौरस्त्य और पाश्चात्य देशों के बहुत से दार्शनिक अनेक अंशों में प्रभावित हुए हैं। ऐसे दार्शनिक से स्पष्ट शब्दों में मतभेद का करना और उनके सुप्रसिद्ध वेदान्त भाष्य की आलोचना करना संभवतः साहस का कार्य समझा जाए किन्तु इसमें न कोई आश्चर्य की बात है और न कोई अनौचित्य। श्री रामानुजाचार्य, श्री मध्वाचार्य, (स्वामी आनन्दतीर्थ) श्री निम्बार्काचार्य वल्लभाचार्य आदि अनेक आचार्यों ने श्री जी के सिद्धान्तों और उनके भाष्यों की की। किन्तु जितनी सरल और युक्ति युक्त शैली से इस अद्भुत दार्शनिक ग्रन्थ 'शाङ्कर भाष्यालोचन' के सुयोग्य लेखक श्री पं० गंगाप्रसाद एम० ए० ने शाङ्कर मत और उनके वेदान्तादि भाष्यों की विस्तृत विवेचना की है उतनी बहुत कम ग्रन्थों में दिखाई देती है। अद्वैत जैसे शुष्क दार्शनिक विषय को सुयोग्य लेखक महोदय ने जिस उत्तमता से उसकी सारी युक्ति परम्परा का सरल और रोचक रीति से निराकरण किया है वह पढ़ते ही बनता है। मुझे निश्चय है कि सभी विचारशील पाठक इस ग्रन्थ की सरल और युक्तियुक्त से प्रभावित होंगे। स्वप्न मीमांसा, पर,

अपर ब्रह्म, शाङ्कर चतुः सूत्री में वर्णित प्रतिपत्तियाँ, श्री शङ्कर द्वारा कर्ममीमांसा, सांख्य वैशेषिक मत खण्डन इत्यादि सब विषयों पर सुयोग्य लेखक ने अनेक नवीन उदाहरण और मौलिक युक्तियाँ देकर विषय को सुगम बनाते हुये विवेचन किया है जिसको देख कर मैं तो मुग्ध रह गया हूँ। उस युक्ति परम्परा में कुछ भी जोड़ने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। हाँ, एक विषय पर थोड़ा सा प्रकाश डालना चाहता हूँ जो विद्वानों के लिये उपयोगी होगा। श्री शङ्कराचार्य जी अपने मन्तव्य को वेदान्त के नाम से प्रतिपादित करते हैं। वेद के विषय में श्री शङ्कराचार्य ने 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्रह्म सूत्र १।१।३) के भाष्य में लिखा कि :—

'महत ऋग्वेदादिः शास्त्रस्यानेक विद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञ कल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न हीदृशस्यर्ग्वेदादि लक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति "तथा वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूप विषये।" तस्माद् वेद विरुद्ध विषये स्मृत्यनवकाश प्रसंगो न दोषः॥ (शाङ्कर भाष्य २।१।१)

अर्थात् सर्वविद्याओं के भण्डार सब विषयों के यथार्थ प्रकाशक ऋग्वेदादि शास्त्र का मूल कारण ब्रह्म है ऐसे सर्वज्ञ गुणों से युक्त ऋग्वेदादि की सर्वज्ञ से अतिरिक्त उत्पत्ति नहीं हो सकती। सूर्य के समान वेद स्वतः प्रमाण हैं। परन्तु आश्चर्य की बात है कि वेदों पर इतनी श्रद्धा रखते हुये भी श्री शङ्कराचार्य जी ने बौद्धमत के आचार्यों से प्रभावित होकर जगन्मिथ्यावाद और को कैसे अपनाया। वेदों में सैकड़ों मंत्र हैं जो बिना खींचातानी के जगत् की यथार्थता एवं ब्रह्म और जीव के भेद को प्रतिपादित करते हैं। जैसे—

(१) द्वासुपर्णेति (ऋ० १।१६४।२०)

(२) न तं विदाथेति (ऋ० १०।८२।३)

(३) इन्द्र क्रतुं नेति (ऋ० ७।३२।२६)

(४) यो भूतानामिति (यजु० २०।३२)

(५) त्वं हि शश्वतीनामिति (ऋ० ८।६५।३)

(६) युञ्जतेमन इति (यजु० ११।४) इत्यादि इत्यादि ।

इनमें से अनेकों का विस्तृत प्रतिपादन इस शांकर-भाष्य-आलोचन में आ गया है। इस पुस्तक के छठे अध्याय के अवलोकन से पाठकगण जान सकेंगे कि श्री शङ्कराचार्यजी को स्वयं ब्रह्म और जीव के भेद का वर्णन करना पड़ा और वह उसका येन केन प्रकारेण प्रत्याख्यान करने में सफल नहीं हुये।

अन्त में मैं इस 'शाङ्कर-भाष्यालोचन' के सुयोग्य लेखक श्री पं० गंगाप्रसादजी उपाध्याय को ऐसी उत्तम रचना पर जो दार्शनिक साहित्य में बड़ा उच्च स्थान प्राप्त करेगी ऐसा मुझे निश्चय है हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ और समस्त पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि वे इस ग्रन्थ में प्रदर्शित मौलिक युक्ति परम्परा तथा विचारसरणी पर पक्षपात रहित होकर विचार करें तथा सत्य ग्रहण करने में संकोच न करें। यदि संस्कृत में इस अद्भुत दार्शनिक ग्रन्थ का अनुवाद हो जाए तो वह अद्वैतवादी विद्वानों के विचारों में अद्भुत क्रान्ति उत्पन्न करने का साधन होगा।

बलिदान भवन, देहली
१०-१२-४७

धर्मदेव विद्यावाचस्पति
तर्क मनीषी

सम्मति

श्री पण्डित गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय विरचित 'शाङ्कर भाष्यालोचन' ग्रन्थ को मैंने आद्योपान्त पढ़ा है। आपने शाङ्कर भाष्य के विभिन्न प्रकरणों को उद्धृत कर श्री शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद का खण्डन तथा द्वैतवाद का मण्डन करते हुए अपने आलोचनात्मक विचार इस ग्रन्थ रत्न में अंकित किये हैं। मुझे यह लिखने में कोई संकोच नहीं कि यह समालोचना, मार्मिक युक्ति युक्त और स्पष्ट है। आप की कृतियों का पहिले भी आर्य जगत् में पर्याप्त आदर हुआ है। अपने महत्व के कारण आपकी यह कृति पहिली कृतियों की अपेक्षा भी अधिक आदर प्राप्त करेगी यह मुझे आशा है।

गुरुकुल
रावलपिण्डी

आत्मानन्द
आचार्य

धन्यवाद

मैं श्री धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति तर्क मनीषी, सम्पादक सार्वदेशिक दिल्ली तथा श्री स्वामी आत्मानन्द जी (श्री पं० मुक्तिराम जी) आचार्य गुरुकुल रावलपिण्डी का अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने मेरी पुस्तक शांकर-भाष्यालोचन की हस्तलिखित लिपि को आद्योपान्त पढ़ के उस पर अनेक महत्वपूर्ण सुझाव दिये और पुस्तक की उपयोगिता बढ़ाने में मेरी सहायता की।

गंगाप्रसाद उपाध्याय

विषय-सूची

(६) *स्मृति विरोध १३७-१४०*—श्वेताश्वतर में न शांकर अद्वैत है न सांख्य का विरोध १३८, कपिल और मनु की प्रशंसा १३६

(७) *विलक्षणत्व १४०-१५१*—कार्य्य कारण से विलक्षण नहीं होता इसलिये ब्रह्म उपादान कारण नहीं १४१, यदि ब्रह्म और आकाश दोनों में सत्ता लक्षण है तो जगत् सत् हो गया १४४, सुषुप्ति और समाधि का दृष्टान्त १४५-१४६, प्रलय और अद्वैत १४८-१४६, सांख्य वेद और ईश्वर दोनों को मानता है १५१,

(८) भोक्ता और भोग का भेद १५१, समुद्र और तरंगों का दृष्टान्त अद्वैत को सिद्ध नहीं करता १५३,

(९) *कारण और कार्य्य का अनन्यत्व १५४-१८४*—असत्कार्य्यवाद के ८ हेतुः १५४-१५५, बुद्धिभेद, नामभेद, प्रयोजनभेद, कालभेद, संख्याभेद, आकारभेद, कर्तुसार्थक्य, नित्यानित्यविवेक सत्कार्यवाद १५६ वेदान्त सूत्र में 'अनन्यत्व' १५७, यदि कारण और कार्य में अनन्यत्व है और कार्य्य जगत् १५८, असत् है तो ब्रह्म भी असत् होगा महाकाश और ऊसर का दृष्टान्त गलत है १५९, वृक्ष और ब्रह्म की तुलना ठीक नहीं १६०, छान्दोग्य का तत्वमसि जीव के लिये है न कि ब्रह्म के लिये १६०-१६१, एकत्व मानने से हानियाँ :—नानात्व का निषेध, शास्त्र की व्यर्थता, गुरु शिष्य का निषेध १६१, शंकर स्वामी का उत्तर सन्तोषजनक नहीं १६१-१६४, व्यवहार को परमार्थतः मिथ्या मानने के दोष १६४-१६६, ब्रह्म परिणामी नहीं तो उपादान कैसे १६६, यदि नाम-रूप कल्पित हैं तो कल्पक कौन है? १६७, अनिर्वचनीय और अवक्तव्य का एक ही अर्थ है फिर माया अनिर्वचनीय कैसे? १६८, रामानुजाचार्य्य का अविद्यावाद का खण्डन १६९-१७१, जगत् सत्य है। बादरायण और छान्दोग्य की साक्षी १७१, सत्कार्य और

भूमिका

श्रीयुक्त शङ्कराचार्यजी महाराज न केवल भारतवर्ष के अपितु संसार के दार्शनिकों में एक उच्च स्थान रखते हैं। इस प्रकार के दार्शनिक जो अपने नवीन विचारों से जगत् को कम्पायमान कर दें और विद्वन्मण्डली तथा विद्या-शून्य सर्वसाधारण की विचारधारा को बदल दें जगतीतल पर कभी-कभी ही उत्पन्न होते हैं। शंकर स्वामी भारतवर्ष में उस समय उत्पन्न हुये जब बौद्ध-दर्शन काल का प्राबल्य था और विशेष कर माध्यमिकों और योगाचारों का। इनका मूल सिद्धान्त था आत्म-नास्तिक्य और वेदों का अप्रमाणत्व। श्री शंकर स्वामी ने इन दोनों सिद्धान्तों का प्रबल युक्तियों से निराकरण किया और आत्मसत्ता तथा श्रुति के प्रामाण्य दोनों को पुनः स्थापित कर दिया।

इसके लिये शङ्कर स्वामी के प्रयोग में सब से बड़ा अस्त्र जो आया वह वेदान्त दर्शन (बादरायण या व्यास के सूत्रों) का शारीरक भाष्य है। यह एक महान ग्रंथ है। इसकी भाषा अत्यन्त विशद और कोमल है। और युक्तियों की शैली तो इतनी विलक्षण है कि जो मनुष्य दार्शनिक क्षेत्र में मास्तिष्किक भोजन चाहता है उसे अवश्य ही बड़े परिश्रम और सावधानी के साथ इसका अध्ययन करना चाहिये। प्रतिपक्ष का खण्डन तो शंकर महाराज की आश्चर्य-जनक विशेषता है। राजा बालि के लिये प्रसिद्ध है कि जब वह प्रतिद्वन्द्वी के समक्ष आता था तो उसके प्रतिपक्षी का आधा बल उसमें आ जाता था। वह आधा बल दूसरे आधे को परास्त करने के लिये पर्याप्त हो जाता था अपने बल को प्रयोग में लाने की आवश्यकता नहीं होती थी। श्री स्वामी शंकराचार्य जी अपने दार्शनिक जगत् के राजा बालि हैं। प्रतिपक्षी की प्रतिज्ञाओं और लक्षणों का ऐसा अद्भुत विश्लेषण करते हैं और यथासंभव जितने विकल्प उठ सकते हैं उनको उठाकर परिशेष न्याय (Proof by Exhaustion) द्वारा

उसका इस प्रकार खंडन करते हैं कि प्रतिपक्षी स्वयं डाँवाडोल हो जाता है और दर्शक तो शंकर स्वामी के पक्ष में करतलध्वनि किये बिना रह ही नहीं सकते। यही कारण था कि शंकर स्वामी इतनी थोड़ी आयु में ही दिग्विजय कर सके और चारों ओर से त्यागे हुये वैदिक धर्म को फिर से पुनर्जीवित करने में सफल हुये।

जिस प्रकार काव्य जगत् में 'उपमा कालिदासस्य' प्रसिद्ध है इसी प्रकार दार्शनिक जगत् में शंकर स्वामी के दृष्टान्त भी विचित्र विशेषता रखते हैं। इनकी विजय श्री का मुख्य साधन इनके दृष्टान्त हैं। दृष्टान्तों की खोज और उनके प्रयोग की शैली दोनों ही अद्भुत हैं। योद्धा के लिये शस्त्र ही पर्याप्त नहीं है। उन शस्त्रों के प्रयोग का औचित्य भी अनिवार्य है। शंकर स्वामी दोनों बातों में दक्ष हैं। उनके तरकश में दोनों प्रकार के तीर हैं। कठोर आघात के लिये कठोर और कोमल आघात के लिये कोमल। शत्रु की हड्डियाँ चूर करनी हों तो वज्र उठा लेते हैं और यदि शत्रु पुष्पमुखी हो तो तुषार से काम चला लेते हैं। यदि कोई उचित तथा उपयुक्त दृष्टान्त न भी मिलता हो तो किसी दृष्टान्त को उठाकर इस प्रकार प्रदर्शन कर देते हैं कि चित्रपट सौन्दर्यपूर्ण हो जाता है। इस अन्तिम बात के लिये एक उदाहरण दे देना अनुपयुक्त न होगा। चतुःसूत्री में प्रश्न उठाया कि यदि ब्रह्म के विषय में विधि और निषेध का प्रश्न असंगत है तो शास्त्र में लिङ् लकार का प्रयोग क्यों है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका समुचित समाधान संभव ही नहीं है। यदि शास्त्र को मानते हैं तो सिद्धान्तहानि होती है और यदि सिद्धान्त पर आग्रह करते हैं तो भी सिद्धान्तहानि होती है क्योंकि शास्त्र का प्रामाण्य भी तो सिद्धान्त का एक अंग है। यदि शास्त्र विपक्षी बनकर आता तो शंकर स्वामी किसी न किसी वज्र से उसकी हड्डियाँ चूर चूर कर देते। अपने ही शरीर के दो अंग यदि एक दूसरे से लड़ पड़ें तो क्या किया जाय। साधारण महारथी तो शस्त्र रख कर पराजय स्वीकार कर लेता। परन्तु शङ्कर स्वामी ने अत्यन्त सौन्दर्य के साथ एक अद्भुत दृष्टान्त

उपस्थित कर दिया जिससे शङ्का का समाधान न होने पर भी सर्वसाधारण की दृष्टि में उसका प्राबल्य नष्ट हो जाता है। वे कहते हैं :—

तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्य विषयत्वात् कुण्ठी भवन्ति, उपलादिषु प्रयुक्त-क्षुरतैक्ष्ण्यादिवत्।

(पृष्ठ १६)

अर्थात् यद्यपि श्रुति में लिङ् आदि का प्रयोग है तथापि विषय नियोज्य नहीं है इसलिये जैसे पत्थर पर छुरा मारने से कुण्ठित हो जाता है इसी प्रकार लिङ् आदि का प्रयोग भी कुण्ठित हो जाता है।

ऐसे दृष्टान्त बहुत मिलेंगे जो दार्ष्टान्त के अनियोज्य होने के कारण पत्थर पर छुरे के तुल्य कुण्ठित हो गये हैं। परन्तु चाहे छुरे की धार भले ही कुण्ठित हो गई हो छुरे की चमक-दमक तो वैसी ही बनी हुई है। अपितु शङ्कर स्वामी के मायावी हाथों में आकर बढ़ गई है।

परन्तु इतनी प्रशंसनीय विशेषताओं के होते हुये भी शंकर स्वामी का मायावाद सर्वसम्मत नहीं हो सका।

दूराद्धि पर्वता रम्याः।

शांकर भाष्य के पश्चात् विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत, तथा द्वैत सिद्धान्तों के पोषक अनेक भाष्य हुये। जिनमें अपने अपने ढंग से शांकर मायावाद की कड़ी आलोचना की गई, और अब भी की जा रही है, शंकर स्वामी की प्रशंसा सब करते हैं परन्तु शांकर मायावाद के तद्वत् मानने वाले बहुत कम हैं। यद्यपि शंकर स्वामी को शिष्य भी भाग्यवश ऐसे उत्तम मिले जिन्होंने अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य से अपने गुरु के सिद्धान्त रूपी दुर्ग के टूटे फूटे अंशों की भली भांति लीपापोती कर दी, शांकर भाष्य के भी कई भाष्य और उनपर टीकायें निकल चुकी हैं, जो साधारण विद्यार्थी को जीवन भर पढ़ने के लिये पर्याप्त हैं, फिर भी मायावाद है एक जर्जरित सिद्धान्त। कोई युक्ति, कोई शैली, कोई पाण्डित्य इसकी त्रुटियों को मिटा नहीं सकता।

प्रश्न इतने हैं :—

(१) क्या शंकर मत युक्ति युक्त है ?

(२) क्या वेदान्त सूत्र इसका प्रतिपादन करते हैं ?

(३) क्या वेद और उपनिषदों द्वारा इसकी पुष्टि होती है ?

पहली बात तो तर्क से सम्बन्ध रखती है। तर्क के अप्रतिष्ठान की अवस्था में दूसरी और तीसरी बातों का आश्रय लेना है। यदि यह दोनों ठीक हैं तो यह कहना पड़ेगा कि शांकर भाष्य ही एक स्वीकार करने योग्य भाष्य है अन्य सब त्याज्य हैं। परन्तु ऐसा कहना दुस्साहस मात्र है। उसके कारण स्पष्ट हैं। और भाष्य पर एक गहरी दृष्टि डालते ही अवगत हो जाते हैं।

जितने भाष्य वेदान्त पर पाये जाते हैं उनकी तुलना करके शुद्धाशुद्ध का निर्णय कठिन है। शांकर भाष्य से पुराना कोई भाष्य नहीं मिलता। बोधायन मुनि के भाष्य का नाममात्र ही शेष है। वह क्या था पता नहीं, शंकर स्वामी ने भी कहीं इसका उल्लेख नहीं किया। एक दो स्थानों पर शंकर स्वामी ने कुछ वेदान्तियों का उल्लेख किया है जिनका मत उनके मत से भिन्न था। जैसे

'केचित् पुनः पूर्वाणि पूर्वपक्षसूत्राणि भवन्त्युत्तराणि सिद्धांत-सूत्राणीत्येतां व्यवस्थामनुरुध्यमानाः परविषया एव गतिश्रुतीः प्रतिष्ठापयन्ति तदनुपपन्नं गन्तव्यत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मणः।

(शां० भा० ४।३।१४ पृष्ठ ४६७)

अर्थ—कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पहले सूत्र पूर्व पक्ष के हैं और पिछले सिद्धान्त पक्ष में। और इस प्रकार आत्मा की गति का विषय पराविद्या के अन्तर्गत है। परन्तु यह ठीक नहीं। "ब्रह्म में गन्तव्यत्व कैसा ?"

इसी प्रकार

अपरे तु वादिनः ˜ ˜ जैवं रूपमिति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च केचित्।

(शां० भा० १।३।१६। पृष्ठ ११५)

अर्थ—कुछ लोग जीव का रूप पारमार्थिक मानते हैं। हममें से कुछ लोग भी।

यह 'केचित्' और 'अपरे' कौन हैं यह पता नहीं। परन्तु यह तो सिद्ध ही है कि शंकर स्वामी से पहले भी कुछ ऐसे भाष्यकार या वृत्तिकार रहे होंगे जिनका शांकर मत से मौलिक भेद था। क्योंकि ऊपर जो उदाहरण दिये वे मूल-सिद्धान्त से सम्बन्ध रखते हैं। गौण बातों से नहीं।

श्री रामानुजाचार्य जी ने अपने श्रीभाष्य में तथा अपने वेदार्थ-संग्रह में बोधायन, टंक, द्रमिड़, गुहदेव, कपर्दिन, भारुचि का उल्लेख किया है और यत्र-तत्र कुछ उद्धरण भी किये हैं। परन्तु इनमें से कोई भाष्य प्राप्य नहीं है। और धारणा तो ऐसी है कि रामानुजाचार्य को भी देखने को नहीं मिले। इन्होंने अन्य पुस्तकों में ही संकेत पाया होगा।

यह परिस्थिति बड़ी कठिन है। वेदान्त सूत्रों का ही स्वतन्त्र अध्ययन किया जाय और भाष्यों की सहायता सर्वथा छोड़ दी जाय। इससे भी काम नहीं चलता। क्योंकि बहुत से सूत्रों में केवल संकेत से कोई स्वतंत्र अर्थ नहीं निकलते। 'शब्दात्' 'आह' 'श्रुतेः' से यह पता चलना असंभव है कि किस वेद का कौन सा मंत्र अभीष्ट है या कौन सी उपनिषद् का कौन सा वाक्य। इस विषय में शंकर स्वामी ने जो सीमेण्ट की पक्की सड़क बना दी है उसी पर अन्य भाष्यकार भी चल पड़े हैं चाहे उनका सिद्धान्त कितना ही विरुद्ध क्यों न हो। सूत्रों का प्रायः वही अधिकरण और उपनिषदों के प्रायः वही कथन। मुझे तो प्रतीत होता है कि शंकर स्वामी की पूरी पूरी छाप सभी भाष्यों पर है। किसी ने स्वतंत्र खोज नहीं की। केवल अपने निज सिद्धान्त की पुष्टि के लिये कहीं कहीं एक दो पग इधर उधर बढ़ाया है परन्तु शीघ्र ही फिर उसी मार्ग पर आ गये हैं। एक विचित्र बात है वह है सोचने योग्य। '[illegible]' में बादरायण वेद का प्रामाण्य मानते हैं, फिर क्या कारण है कि 'शब्दाद्'

'श्रुतेः' 'आह' इत्यादि से सम्पूर्ण उपनिषदों के ही उदाहरण लिये जायँ न कि वेदों के ? शांकर भाष्य में वेदों के दो चार प्रमाणों से अधिक नहीं मिलते। एक तो 'सूर्याचन्द्रमसौधाता' है और दूसरा 'द्वासुपर्णा'। पिछला मन्त्र उपनिषत् में भी है। ऐसे ही बहुत खोज के पश्चात् दो चार शायद और मिलें। श्री रामानुजाचार्य ने श्रीभाष्य में स्मृति के अन्तर्गत विष्णु पुराण के उद्धरणों की भरमार कर दी है। श्री आनन्दतीर्थ के अणु-भाष्य में अन्य पुराणों के भी उद्धरण हैं। वेद के प्रमाण क्यों नहीं हैं ? यह एक टेढ़ा प्रश्न है। आजकल के आर्य्य सामाजिक भाष्यकार दो हैं एक आर्य्यमुनि जिनका भाष्य हिन्दी में है और दूसरे स्वामी हरिप्रसाद जिनकी वेदान्तसूत्र वैदिकवृत्ति संस्कृत में है। स्वामी हरिप्रसाद ने वेदों के भी उद्धरण स्वतन्त्रतापूर्ण दिये हैं। परन्तु इन भाष्यों की ओर विद्वानों का ध्यान गया ही नहीं है। दूसरे इन भाष्यों में भी कितनी मौलिकता है यह एक प्रश्न है।

एक बात मुझे और खटकी। परन्तु इसका समाधान नहीं मिला। जैसे 'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' (वे० १।३।१) में 'स्व' शब्द पड़ा है। इससे प्रतीत होता है कि किसी ऐसी श्रुति की ओर संकेत है जिसमें 'स्व' शब्द हो। परन्तु मुण्डक उपनिषद् २।२।५ की जो श्रुति दी जाती है उसमें 'स्व' शब्द नहीं। इसके स्थान पर 'आत्म' शब्द है। यदि यही श्रुति सूत्रकार को अभीष्ट होती तो 'आत्मशब्दात्' ऐसा कहते। पर्य्याय देने का क्या प्रयोजन था ? जैसे 'समिद्वती' ऋचा वह है जिसमें 'समिद्' शब्द आया हो और 'सावित्री' वह है जिसमें 'सविता' शब्द आया हो। इसी प्रकार 'स्थित्यदनाभ्याम् च' (१।३।७) में 'द्वासुपर्णा' (मु० ३।१।१) की ओर संकेत बताया जाता है। इसमें भी न 'स्थिति' शब्द है न 'अदन'। ऐसे ही अन्यत्र भी कई मिलेंगे। कहीं कहीं तो ठीक है जैसे 'स्वाप्ययात्' (१।१।९) का सम्बन्ध 'यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति' इत्यादि (छा० ६।८।१) से है। फिर भी यह वेदमन्त्र नहीं है। इस ओर अभी तक किसी विद्वान् का ध्यान नहीं गया।

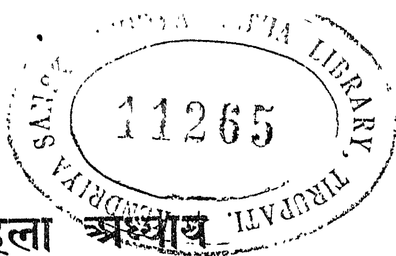
फिर 'अनुमान' शब्द सांख्य के प्रधान या प्रकृति का वाचक कैसे और कब से बन गया और सांख्यमत के किस ग्रन्थ में यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है इसका पता नहीं चलता। श्री रामानुज आदि अन्य भाष्यकारों ने इसकी विवेचना की ओर इसलिये ध्यान नहीं दिया कि वे स्वयं सांख्य के विरोधी थे। इन्होंने तो केवल उसी स्थल की जाँच की है जहाँ उनके प्रयोजन का प्रश्न था। यह भी तो संभव है कि जहाँ हमारे सिद्धान्त की हानि न होती हो वहाँ भी युक्ति या उदाहरण समीचीन न हो।

एक और प्रश्न है। वर्तमान भाष्यकार यह मानकर चले हैं कि वैदिक षड् दर्शनों में केवल इतना ही सामञ्जस्य है कि वे वेदों को किसी न किसी रूप में प्रामाण्य मानते हैं। अन्यथा उनमें परस्पर घोर विरोध है। अंगरेजी भाषा वाले तो इनको Six Schools of Philosophy कहते हैं अर्थात् यह छः अलग अलग सम्प्रदाय हैं। मध्यकालीन भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की परस्पर नोक-झोंक तो प्रसिद्ध ही है। वेदान्ती अपने को दर्शन रूप बन का केसरी मानते हैं। और अन्य सम्प्रदायों को शृगाल मात्र। न्याय आदि वेदान्तियों को यह पदवी देना नहीं चाहते। उन्होंने भी इस कल्पित केसरी के दाँत और नख तोड़ डालने का भरसक प्रयत्न किया है।

यदि यह मान लिया जाय कि यह छहों दर्शन बौद्ध और जैन काल के पश्चात् बने और उनका खण्डन तथा वेद की स्थापना करने के लिये। तो इनमें परस्पर विरोध कैसे हो गया? आर्य्य समाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में यह संकेत किया है कि यह छः दर्शन मौलिक सिद्धान्तों में विभिन्न नहीं हैं। केवल शैली का भेद है। परन्तु इस पर कोई अच्छी पुस्तक लिखी नहीं गई जिसमें विस्तार से इस बात की मीमांसा की गई हो। यदि यह बात ठीक है तो वेदान्त दर्शन के भाष्य में बहुत बड़ी उथल पुथल करनी पड़ेगी। परन्तु इसके लिये बहुत बड़ा संगठित उद्योग चाहिये।

वेदान्त दर्शन के शांकर भाष्य के अध्ययन में हमको जो कुछ सूझ पड़ा उसको हम शांकर-भाष्यालोचन के रूप में जनता के समक्ष रखते हैं। शांकर-भाष्य को उद्धृत करते हुये हमने वेदान्त दर्शन के अध्याय, पाद, सूत्रों के वे अङ्क दिये हैं जिन पर शंकर स्वामी का भाष्य है। और पाठकों की सुविधा के लिये निर्णयसागर बम्बई की प्रकाशित "ब्रह्म-सूत्र शांकर-भाष्यम् सटिप्पनं मूल मात्रम्" द्वितीय सस्करण शाके १८४६ सन् १६२७ के पृष्ठ दिये हैं।

गंगाप्रसाद उपाध्याय



पहला अध्याय

स्वप्न की मीमांसा और उसका शांकर मत में स्थान !

शास्त्रकारों ने जीव की पाँच अवस्थायें मानी हैं, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और मोक्ष। इनके अतिरिक्त छठी अवस्था अभी तक कल्पना में नहीं आई। तुरीय या समाधि अवस्था केवल योगियों को प्राप्त है। मोक्ष संसारित्व से परे की चीज है। परन्तु शेष तीन अवस्थाओं से सभी प्राणी भली भांति परिचित हैं। जागना, स्वप्न देखना और गहरी नींद सोना।

विज्ञानवेत्ताओं के लिये जागृत अवस्था ही सब कुछ है। उनका विषय है बाह्य जगत्। बाह्य जगत् का सम्बन्ध है प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्षाश्रित प्रमाणों द्वारा सिद्ध हुये अनुभवों से। सांसारिक समस्त व्यवहार इन्हीं से चलते हैं। भौतिकी, रसायन, जीव-शास्त्र, इतिहास, भूगोल, खगोल, गणित, समाजशास्त्र, प्रजननशास्त्र, अर्थशास्त्र, संगीत, कला, चित्रण सभी जागृत अवस्था के अनुभवों के आश्रित हैं। परन्तु मनोविज्ञान एक ऐसा शास्त्र है जिसका विषय-क्षेत्र जागृत अवस्था से चलकर स्वप्न और सुषुप्ति तक विस्तृत है। वैद्यक-शास्त्र का भी स्वप्न और सुषुप्ति से घनिष्ठ संबन्ध है। क्योंकि स्वस्थ मनुष्य को मीठी नींद आती है। बीमार को या तो नींद नहीं आती, या सोते ही वह स्वप्न देखने लगता है। औषध द्वारा सुषुप्ति से भी गहरी अचेतना उत्पन्न कर देते हैं। वह और सब बातों में सुषुप्ति ही है परन्तु सुषुप्त को साधारण आघात से जगा सकते हैं। औषध द्वारा मूर्छित को नहीं।

परन्तु दार्शनिक जगत में 'स्वप्न' को बहुत ही उच्च स्थान प्राप्त है। उसके द्वारा मूल तत्व की खोज की जाती है। किसी किसी दार्शनिक

सम्प्रदाय के लिये तो स्वप्न जाग्रत आदि समस्त अनुभवों की कुंजी है। या यों कहना चाहिये कि तत्त्व एक विशाल दुर्गम दुर्ग है। उसमें एक बड़ा ताला पड़ा है और स्वप्न उस ताले की ताली है। वह आरम्भ ही स्वप्न से करते हैं। केवल इतना वैचित्र्य है कि यह अनुभव जाग्रत अवस्था में संयोजित किये जाते, जाग्रत अवस्था में उनकी मीमांसा की जाती, जाग्रत अवस्था में उनको लिखा और प्रकाशित किया जाता, जाग्रत अवस्था में उनपर व्याख्यान दिये जाते हैं। इसी वैचित्र्य के आक्षेप से बचने के लिये कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि हम जागते नहीं, सोते हैं, यह संसार स्वप्नवत् है। उपमान उपमेय से बड़ा होता है। जिस तराज़ू में किसी वस्तु को तोलते हैं वह वस्तु तराज़ू से छोटी होती है। "स्वप्नवत् संसार" में संसार उपमेय है और स्वप्न उपमान। स्वप्न बड़ा हुआ। स्वप्न को आदर्श मान कर हम जाग्रत की बात की जांच करते हैं।

क्या यह ठीक है? कौन कहे? कैसे कहे?

श्री गौडपादाचार्य जी लिखते हैं :—

स्वप्न जागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥

(कारिका २।५)

बुद्धिमान् लोग स्वप्न और जाग्रत अवस्थाओं को एक ही बताते हैं। भेदों के प्रसिद्ध समत्व (सादृश्य) के कारण।

सर राधाकृष्णन् लिखते हैं :—

Gandapad urges that dream experiences are on a par with the waking ones. If the dream states donot fit into the context of the general experience of our fellow men or of our normal experience, it must be understood that it is not because they fall short of absolute reality, but because they do not conform to our *conventional*

standards. They constitute a separate class of experiences and, within their order, they are coherent. The water in the dream can quench the thirst in the dream, and to say that it does not quench the real thirst is irrelevant. To say so is to assume that waking experience is real in itself and is the one real. The two waking & dream states, are equally real within their own orders or equally unreal in an absolute sense. Gandapad recognizes that the objects of waking experience are common to us all, while those of dreams are the private property of the dreamer. Yes he says. "As in dream, so in waking, the objects seen are unreal."

(*Indian Philosophy Vol. II. P. 454*)

गौड़पादाचार्य का आग्रह है कि स्वप्न-प्रत्यय जाग्रत-प्रत्ययों के तुल्य हैं। यदि स्वप्न के प्रत्यय हमारे साथियों के साधारण अनुभवों या हमारे सामान्य प्रत्ययों से मेल नहीं खाते तो यह नहीं समझना चाहिये कि स्वप्न-प्रत्ययों की तथ्यता में कोई त्रुटि है। बात यह है कि वे हमारे कल्पित मानों (पैमानों) से तोले नहीं जा सकते। इन प्रत्ययों की कोटि ही अलग है। और अपनी कक्षा में समन्वित हैं। स्वप्न में देखा हुआ जल स्वप्नानुभूत प्यास को बुझा सकता है। यह कहना प्रसंग के विरुद्ध है कि वह जाग्रत की असली प्यास को नहीं बुझा सकता। ऐसा कहने का अर्थ यह है कि हमने मान लिया है कि जाग्रत-प्रत्यय ही तात्विक हैं और इन के अतिरिक्त कोई अन्य प्रत्यय तात्विक नहीं। जाग्रत और स्वप्न अपनी अपनी कक्षाओं में एक से ही सत्य या एक से ही असत्य हैं और पारमार्थिक दृष्टि से दोनों असत्य। गौड़पादाचार्य मानते हैं कि जाग्रत के प्रत्यय हम सब के समान हैं। परन्तु स्वप्न के प्रत्यय स्वप्न देखने वाले की निज की जायदाद है। उनका कहना है :—

यथातत्र तथा स्वप्नं संवृतत्वेन भिद्यते। (कारिका २।४)

'जैसे जाग्रत में, वैसे स्वप्न में चीजें अतथ्य हैं।'

श्री राधाकृष्णन् जी ने दो पाश्चात्य विद्वानों के वचन इसी सम्बन्ध में टिप्पणी में दिये हैं :—

"When I consider the matter carefully, I do not find a single characteristic by means of which I can certainly determine whether I dream. The visions of a dream & the experiences of my waking states are so much alike, that I am completely puzzled and I do not really know that I am not dreaming at this moment."

(Descartes : *Meditations p. 1*)

डिकार्ट कहता है कि

"जब मैं सावधानी से विचार करता हूँ तो मुझे कोई एक भी विशेषता ऐसी नहीं प्रतीत होती जिससे मैं निश्चय-पूर्वक जान सकूँ कि मैं जागता हूँ या स्वप्न देख रहा हूँ। स्वप्न के दृश्य और जाग्रत अवस्था के प्रत्यय एक दूसरे के इतने समान हैं कि मैं सर्वथा असमञ्जस में पड़ जाता हूँ। मैं सचमुच नहीं जानता कि मैं इस घड़ी स्वप्न नहीं देख रहा।"

"Pascal is right when he asserts that if the same dream came to us every night we should be just as much occupied by it as by the things which we see every day. To quote his words: If an artisan were certain that he would dream every night for fully twelve hours that he was a king, I believe that he would he just as happy as a king who dreams every night for twelve hours that he is an artisan." (*Indian Philosophy Vol. II p. 454. footnote*)

पास्कल का कथन है कि यदि प्रत्येक रात्रि को हमको एक से ही स्वप्न हुआ करें तो हम उनमें भी उतने ही संलग्न रहें जैसे उन चीजों में जिनको हम प्रतिदिन देखते हैं। पास्कल के शब्द ये हैं, 'यदि किसी मज़दूर को यह निश्चय हो जाय कि मैं हर रात्रि को पूरा १२ घंटे यह स्वप्न

देखूँगा कि मैं राजा हूँ तो उसको उतनी ही प्रसन्नता होगी जितनी उस राजा को जो हर रात को बारह घंटे तक यह स्वप्न देखता है कि मैं मज़दूर हूँ।"

इन कथनों की परीक्षा करने से पूर्व सब से पहले हमको यह देखना है कि क्या स्वप्न-प्रत्यय और जागृत-प्रत्यय बिना किसी परस्पर सम्बन्ध के एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। अथवा उनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध है।

सर्वथा असंबद्ध तो प्रतीत नहीं होते। क्योंकि प्रथम तो हमको स्वप्न की स्मृति जागृति में रहती है। हम कहते हैं "रात हमने अमुक स्वप्न देखा।" यदि जागृत और स्वप्न सर्वथा भिन्न और असम्बद्ध अवस्थायें होतीं तो जागृति में स्वप्न की स्मृति न होनी चाहिये थी। दूसरे यह कि हम उन्हीं चीज़ों का स्वप्न देखते हैं जिनका जागृति में अनुभव किया है। उनमें उतना ही हेर फेर हो सकता है जितना अनुभवों के आधार पर की हुई कल्पनाओं में सम्भव है। तीसरे स्वप्न के कतिपय भीषण प्रत्ययों का प्रभाव जागने पर शेष रहता है। जैसे स्वप्न में देखा कि हम किसी ऊँचे स्थान से गिर पड़े। उससे दिल धड़कने लगा। यह दिल की धड़कन जागने पर भी स्पष्ट प्रतीत होती है। एक पुरुष के लिये कहा जाता है कि उसने स्वप्न में देखा कि सीढ़ी से गिर कर उसकी हड्डी टूट गई। उस दिन से यद्यपि उसकी हड्डी ठीक है उसके पैर में दर्द हुआ करता है। इसलिये यह कहना कि इन दोनों अवस्थाओं का क्षेत्र सर्वथा अलग है ठीक नहीं है। यह ठीक है कि स्वप्न-दृष्ट जल से स्वप्नानुभूत प्यास बुझ जाती है। परन्तु इसका क्या कारण है कि स्वप्न की प्यास भी जागृत के समान हो और जागृत के समान जल से ही जागृत के समान उपाय द्वारा बुझती हो। जागृत और स्वप्न में यह समानता (Parallelism) क्यों है?

इसका एकमात्र उत्तर यह है कि स्वप्न और जागृत का द्रष्टा तो एक ही है। जिसको आत्मा कहते हैं। इसी की यह दो अवस्थायें हैं। मूल वही है। यह उत्तर ही ठीक है। इससे आत्मा की सिद्धि होती है।

इससे पाया जाता है कि क्षण क्षण पर बदलने वाले प्रत्ययों के मूल में एक सत्ता है जिसको यह भिन्न प्रत्यय हुआ करते हैं।

परन्तु इससे स्वप्न और जागृति के परस्पर सम्बन्ध पर प्रकाश नहीं पड़ता। यदि स्वप्न और जागृति के प्रत्यय सर्वथा स्वतन्त्र हैं जैसा कि डिकार्ट का कथन है और यदि वे समकक्ष हैं तो स्वभावतः यह प्रश्न उठेगा कि या तो यह दोनों सत्य हैं या दोनों असत्य। यहाँ प्रश्न करने में कुछ अनिश्चितता है। प्रश्न का स्वरूप समझ लेने पर ही उस पर विचार किया जा सकता है। सत्यता और असत्यता का क्या अर्थ है। मैंने स्वप्न देखा कि एक मक्खी की टाँग पर एक हाथी बैठा हुआ है और मैं उस पर सवार हूँ। ऐसा स्वप्न देखना असम्भव नहीं है। अब प्रश्न यह है कि क्या यह स्वप्न मिथ्या है। मैंने देखा है। मुझे याद है। मैं झूठ नहीं बोलता। मेरी स्वप्न के विषय में रिपोर्ट ठीक है। मैंने अपनी ओर से बनावट नहीं की। अतः स्पष्ट है कि यह स्वप्न के रूप में सत्य है। यह उसी प्रकार सत्य है जैसे मेरा सूरज को देख कर उस अनुभव का कथन करना। मिथ्या बोलने वाले जागृति के प्रत्ययों को भी अन्यथा कह सकते हैं और स्वप्न के प्रत्ययों को भी। उनके कथन हमारी मीमांसा के प्रसंग से बाहर हैं। परन्तु जब हम प्रश्न करते हैं कि स्वप्न मिथ्या है या सत्य तो हमारे प्रश्न का तात्पर्य यह होता है कि स्वप्न में चीज़ें जैसी देखी थीं वैसा ही उनका स्वरूप है या अन्यथा। मैंने स्वप्न में देखा कि मेरे द्वार पर दो पुरुष लड़ रहे हैं। मैं जाग पड़ा, द्वार पर कोई न पाया गया। ऐसी दशा में मैं कहूँगा कि मेरा स्वप्न असत्य था। जागृत अवस्था में मैंने कान से सुना कि द्वार पर कोई आवाज़ दे रहा है। जाकर देखा तो एक मनुष्य को बुलाते हुये पाया। मैंने कहा मेरा जागृत-प्रत्यय ठीक है। यदि न पाया तो कहूँगा कि शायद सुनने में कोई भ्रान्ति हो गई है। ऐसी भ्रान्तियाँ जागृत में बहुधा हुआ करती हैं।

आचार्य गौड़पाद का कहना है कि यदि स्वप्न के प्रत्ययों और जागृति के प्रत्ययों को बाहरी चीज़ों की अपेक्षा से देखना छोड़ दो

तो दोनों सत्य हैं परन्तु यदि उनकी सत्यता को बाह्य पदार्थों की अपेक्षा से तोलना चाहते हो तो दोनों असत्य हैं। स्वप्न में द्वार पर बुलाने वाले को यदि तुम स्वप्न में देखते तो उसे द्वार पर खड़ा पाते। तुमको क्या अधिकार है कि स्वप्न में बुलाने वाले को जाग्रत में देखो और जाग्रति की तराजू से तोल कर निर्णय करो कि स्वप्न झूठा है? वह एक पग और आगे जाते हैं। वह कहते हैं:—

"जैसे स्वप्न को तुम मिथ्या कहते हो उसी प्रकार जाग्रति के प्रत्ययों को भी मिथ्या कहना चाहिये। क्योंकि दोनों एक से हैं।"

यदि ऐसा कहें तो किसी बाह्य पदार्थ की सिद्धि नहीं होती। जिस सूर्य्य को हम जाग्रति में देखते हैं वह सूर्य्य है नहीं। भासता है। कैसे? जैसे स्वप्न का सूर्य्य था नहीं। केवल भासता था।

यहाँ दृष्टि-कोण में भेद हो गया। हमने स्वप्न के प्रत्ययों को जाग्रति की तराजू से तोला और आचार्य गौड़पाद ने जाग्रति के प्रत्ययों को स्वप्न की तराजू से। एक और भेद हुआ। उसको भूलना नहीं चाहिये। हम तो तोलने का काम जाग्रति में कर रहे थे अतः जाग्रति की तराजू हमारे पास थी। श्री गोड़पादाचार्य जी जाग्रत हुए स्वप्न की तराजू से तोल रहे हैं। प्रश्न यह है कि इनके पास स्वप्न की तराजू कहाँ से आ गई? अभी स्मृति का प्रश्न अलग है क्योंकि स्मृति की स्वयं परीक्षा होनी है।

इसलिये यह कहना कि

They do not conform to our conventional standards.

"वे हमारे कल्पित मानों के अनुकूल नहीं है" ग़लत है। हमारी तराजू को कल्पित बताना, अपनी को वास्तविक, सर्वथा अनुचित है।

डीकार्टे के समान प्रत्येक पुरुष कभी-कभी असमंजस में पड़ सकता है कि वह जाग रहा है या स्वप्न देख रहा है। अभी मैं भूखों चिल्ला रहा था। मेरे पास पाई तक न थी। थोड़ी देर में मेरे तकिये के नीचे से अचानक एक लाख का नोट निकला। ऐसी विभिन्नता को देखकर मुझे

संदेह होगा कि मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा। परन्तु यह संदेह ही स्वप्न के स्वरूप को भी बताता है। अर्थात् संदेह वहीं होता है जहाँ विलक्षण हो। इस विलक्षणता का पूरा पूरा ज्ञान हो जाय तो स्वप्न और जागृति की पहचान होने में कोई कठिनता नहीं होती। इस विलक्षणता को पकड़ लेना और उसको उचित शब्दों में प्रकट करना ही आगे की मीमांसा में सहायक हो सकता है। शंकराचार्य जी ने इसको इन शब्दों में व्यक्त किया है :—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥

(वेदान्त २।२।२६)

(१) यदुक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादि-प्रत्ययवज् जागरित-गोचरा अपि स्तम्भादि प्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वा-विशेषादिति। तत् प्रतिवक्तव्यम्। (पृ० २५०)

बाह्य पदार्थों की सत्ता न मानने वाले कहते हैं कि जैसे स्वप्न के प्रत्यय बिना बाहरी पदार्थों के होते हैं उसी प्रकार जागृति के प्रत्यय भी खंभे आदि बिना बाहरी पदार्थों के होंगे। क्योंकि इन प्रत्ययों में तो कोई विशेषता नहीं है। (नोट—डिकोर्ट ने भी यही कहा था The visions of a dream & the experiences of my waking state are so much alike etc.) शंकर स्वामी कहते हैं कि इस सिद्धान्त का खण्डन करना है।

(२) अत्रोच्यते—न स्वप्नादि प्रत्ययवज् जागृत्प्रत्यया भवितु मर्हन्ति।

जागृति के प्रत्यय स्वप्न के प्रत्ययों के समान नहीं हो सकते।

(३) कस्मात् ?

क्यों ?

(४) वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः।

समानधर्मी न होने से। स्वप्न और जागृति एक से नहीं हैं।

(५) किं पुनर्वैधर्म्यम् ?

वह भिन्नता क्या है ?

(६) बाधाबाधाविहि* ब्रूमः—

हमारा कहना है कि बाध और अबाध ।

(७) बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजन समागम इति, न ह्यस्ति मम महाजन समागमो निद्राग्लग्नं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति ।

स्वप्न में देखी हुई वस्तु जागने पर मिथ्या सिद्ध हो जाती है। जैसे मैंने स्वप्न में देखा कि अमुक बड़े आदमी से भेंट हुई, जागा तो ज्ञात हुआ कि कोई बड़ा आदमी नहीं है। मेरा मन नींद में था। इसी से ऐसी भ्रान्ति हो गई।

(८) एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः ।

जादू में भी ऐसा बाध होता है।

(९) नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते ।

जागने में जो खंभे आदि देखे जाते हैं। उनका बाध किसी अवस्था में नहीं होता।

(शां० भा० २।२।२९ पृष्ठ २५०)

यह है विलक्षणता। जिसका विचार श्री गौड़पादाचार्य तथा अन्य विचारकों ने छोड़ दिया है। यह **बाध अबाध** नोट करने की चीज़ है। इनको नहीं भूलना चाहिये।

पास्कल के कथन में शङ्का का समाधान भी छिपा हुआ है। अनायास ही उनकी कलम से निकल गया कि "यदि वही स्वप्न सदा एक सा रहे तो उस पर भी विश्वास करना होगा।" इस 'यदि' में ही तो समस्त रहस्य छिपा हुआ है। 'एक सा' होता कैसे ? यदि 'एक सा' होता तो

*स्वप्न प्रत्ययो बाधितो जाग्रत् प्रत्ययश्चाबाधितः। (भामती)

बाध न होता। यदि बाध न होता तो स्वप्न न होता। दूसरे शब्दों में यह कहेंगे कि यदि स्वप्न-प्रत्यय जाग्रत-प्रत्यय होते तो हम उन पर उसी भांति विश्वास कर लेते। कोई कारीगर हर रात को बारह घंटे राजा होने का स्वप्न नहीं देखता और न कोई राजा कारीगर होने का। श्री शंकर स्वामी स्पष्ट कहते हैं कि मन सदा तो निद्रालग्न नहीं रह सकता। न भ्रान्ति ही सदा रहती है। भ्रान्ति वही है जिसका बाध हो सके। मेरे हाथ में पाँच उगलियाँ हैं। यदि अचानक छठी उँगली की प्रतीति हो उठे। और सावधानी से गिनने में पाँच ही उँगलियाँ निकलें तो कहेंगे कि छठी उँगली की प्रतीति भ्रान्ति मात्र थी। परन्तु यदि इस क्षण के पश्चात् छठी उँगली की प्रतीति न केवल मुझको ही हो अपितु सबको तो कहेंगे कि किसी कारण छठी उँगली उत्पन्न हो गई है।

श्री गौड़पादाचार्य लिखते हैं :—

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषोनान्यहेतुकः॥

(कारिका २।१४)

नान्यश्चित्तकालव्यतिरेकेण परिच्छेदकः कालो येषां ते चित्त-कालाः। कल्पना काल एवोपलभ्यन्त इत्यर्थः। द्वयकालाश्च भेद काला अन्योन्यपरिच्छेद्याः।

(शां० भा०)

चित्त में उठने वाले भाव कल्पना काल भावी हैं और बाहर के पूर्वापर कालभावी। ये दोनों कल्पित हैं। कोई विशेषता उनमें नहीं। 'द्वय काल' का अर्थ है बहुकाल। इसी को सर राधाकृष्णन् कहते हैं:—

"The objects of waking experience are common to us all, while those of dreams are the private property of the dreamer."

मैं समझता हूँ कि स्वप्न की पराधीनता दिखाने के लिये इतना पर्य्याप्त है। यदि मुझे अपनी आँखों के सामने साँप उड़ते हुए दिखाई

देते हैं और मैं काँप-काँप कर चिल्ला रहा हूँ और यदि मेरे आस-पास किसी अन्य को ऐसा प्रतीत नहीं होता तो इसमें मेरे मस्तिष्क का ही दोष है सब के मस्तिस्क का नहीं। इसी का नाम भ्रांति है। क्योंकि इसका बाध होता है, यही बाध स्वप्न के प्रत्ययों को मिथ्या सिद्ध करता है और जाग्रत्प्रत्ययों को सत्य।

श्री गौड़पादाचार्य का कथन है :—

स्वप्नमाये यथादृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥

(कारिका २।३१)

जैसे स्वप्न, जादू तथा इन्द्रजाल आदि मिथ्या होते हैं उसी प्रकार बुद्धिमान् वेदान्ती सब विश्व को मिथ्या समझते हैं।

इसी को सर राधाकृष्णन् ने इस प्रकार व्यक्त किया है।

We accept the waking world as objective, not because we experience other people's mental states, but because we accept their testimony. (*Indian Philosophy II 454*)

हम जाग्रत्प्रत्यय द्वारा सूचित संसार को बाहर उपस्थित मान लेते हैं। इसलिये नहीं कि हमको दूसरे पुरुषों के मनोभावों का अनुभव है किन्तु केवल इसलिये कि हम उनकी साक्षी पर विश्वास रखते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि हमने कल्पना कर ली है कि दूसरों का देखा हुआ ठीक ही होगा। इसीलिये विलक्षण बात देख कर हम उसको अपने मस्तिष्क की भ्रान्ति मान बैठते हैं। या जाग्रत्प्रत्ययों से बाधित पाकर हम स्वप्न के प्रत्ययों को अतथ्य समझने लगते हैं।

परन्तु यदि हम अपने मस्तिष्क की वृत्तियों पर विचार करें तो हम को ऊपर के कथन से मतभेद करना पड़ता है। श्री शंकर स्वामी कहते हैं—

नाभाव उपलब्धेः।

(वे० २।२।२८)

न खल्वभावो बाह्यास्यार्थस्याध्यवसतुं शक्यते। कस्मात्। उपलब्धेः। उपलभ्यते हि ‍ ‍ ‍ ‍ बाह्योर्थः स्तम्भः कुड्यं। घटः पट इति।

(शा० भा० पृष्ठ २४८)

अर्थात् हर एक जाग्रत्प्रत्यय में केवल प्रत्यय ही नहीं है अपितु पदार्थ के बाहर होने का भी भाव है। मैं मेज़ देख रहा हूँ। इसका केवल यही अर्थ नहीं कि मेरे मन में मेज़ का ज्ञान है अपितु साथ में यह भी ज्ञान है कि "मेज़ एक पदार्थ है जो बाहर है।" अर्थात् मैं मेज़ के बाहर होने को केवल दूसरों की साक्षी द्वारा नहीं मानता। सब से बड़ी साक्षी मेरे अपने ज्ञान की है। यह मेरे मन की कल्पना नहीं है। यदि मैं चाहूँ कि यह मेज़ एक तेज़ घोड़ा बन जाय तो मैं उस पर सवार नहीं हो सकूँगा।

पूर्वपक्षः—ननु नाहमेवं ब्रवीमि न कंचिदर्थमुपलभ इति किंतूपलब्धि व्यतिरिक्तं नोपलभ इति ब्रवीमि।

(तदेव—Ibid)

मैं यह नहीं कहता कि मुझे किसी अर्थ का ज्ञान नहीं होता। मैं कहता हूँ कि ज्ञान से अतिरिक्त किसी बाहरी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता।

शां० स्वा०—बाढमेवं ब्रवीषि निरङ्कुशत्वात्ते तुण्डस्य। न तु युक्त्युपेतं ब्रवीषि। यत उपलब्धि व्यतिरेकोऽपि बलादर्थस्याभ्युपगन्तव्य उपलब्धेरेव। न हि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भः कुड्यं चेत्युपलभन्ते उपलब्धि विषयत्वेनैव तु स्तम्भ कुड्यादीन् सर्वे लौकिका उपलभन्ते। अतश्चैवमेव सर्वे लौकिका उपलभन्ते यत् प्रत्याचक्षाणा अपि बाह्यार्थमेव व्याचक्षते यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद्बहिर्वद्वभासते इति।

(शां० भा० पृष्ठ २४८)

तुम्हारे मुँह में लगाम नहीं। तुम जो चाहे कहो। युक्तियुक्त तो

नहीं कहते ज्ञान के स्वरूप से ही बाह्य पदार्थों को सिद्धि होती है। कोई दीवार या खंभे को केवल ज्ञान मात्र नहीं मानता अपितु ज्ञान का विषय मानता है। जो बाहर के पदार्थों का अस्तित्व नहीं भी मानते वे भी एक प्रकार से मानते ही हैं। क्योंकि वे कहते हैं कि ये 'बहिर्वत्' बाहर के समान प्रतीत होते हैं, 'वत्' शब्द के प्रयोग से ही पता चल गया कि बाहरी कोई पदार्थ हैं जिनकी समानता 'वत्' शब्द द्वारा बताई गई।

पूर्व पक्षः—बाह्यास्यार्थस्यासंभवाद् बहिर्वदवभासते।

बाहर का पदार्थ असम्भव है। इसलिये कहा कि उस असम्भव के समान प्रतीत होता है। अर्थात् है नहीं।

उत्तर पक्ष—(१) नायं साधुरध्यवसायो यतः प्रमाण प्रवृत्त्य-प्रवृत्तिपूर्वकौ संभवासंभवाववधार्याविति न पुनः संभवासंभपपूर्विके प्रमाण प्रवृत्त्यप्रवृत्ती। यद्धि प्रत्यक्षादीनामन्य-तमेनापि प्रमाणे-नोपलभ्यते तत् संभवति। यत् तु न केनचिदपि प्रमाणेन पलभ्यते तन्न संभवति।

अरे भाई सम्भव तो वही है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध हो। जो प्रमाणों से सिद्ध न हो वह असंभव। किसी पदार्थ की संभवता या असंभवता तो प्रमाणों की प्रवृत्ति अप्रवृत्ति के अनुसार ही होगी। अन्यथा नहीं।

(२) बहिरूपलब्धेश्च विषयस्य।

(शां० भा० २।२।२८ पृष्ठ २८६)

पदार्थ का ज्ञान तो बाहर होता है। अर्थात् हमारे ज्ञान का यह भी अंग है कि पदार्थ बाहर हैं।

यहाँ एक शङ्का हो सकती है। वह यह कि स्वप्न में भी तो जो ज्ञान होता है वह बाहर ही होता है। हम स्वप्न में शेर देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि शेर हमारे सामने बाहर खड़ा है। परन्तु होता नहीं। इसलिये जाग्रत में भी वैसा ही समझना चाहिये।

यह एक मुख्य प्रश्न है और इस पर सावधानी से विचार करना चाहिये। इसमें देखने के कारण पर विचार करना होगा अर्थात् स्वप्न क्यों होते हैं।

स्मृतिरेषा। यत् स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरित दर्शनम्। स्मृत्युपलब्धयोश्च प्रत्यक्षमन्तर स्वयमनुभूयतेऽर्थविप्रयोगसंप्रयोगात्मकमिष्टं पुत्रं स्मरामि। नोपलभ उपलब्धुमिच्छामीति। तत्रैवंसति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धि रुपलब्धित्वात् स्वप्नोपलब्धिवत् इति उभयोरन्तरं स्वयमनुभवता।

(शां० भा० २।२।२६ पृष्ठ २५०)

स्वप्न में तो मनुष्य स्मृत पदार्थों को ही देखता है। जागते में वास्तविक ज्ञान होता है। याद में और प्रत्यक्ष में तो स्पष्ट भेद है। प्रत्यक्ष में पदार्थ होता है। याद में नहीं होता। जब कहता हूँ कि पुत्र की याद आ रही है तो आशय यह है कि पुत्र है नहीं। उसको देखना चाहता हूँ। इसलिये स्वप्न की उपलब्धि के समान जागृत की उपलब्धि को मिथ्या कैसे कह सकते हो ?

शंकर स्वामी के शब्दों में स्वप्नवाद का यह अच्छा खंडन है। इसी को उन्होंने एक और स्थान पर दिया है। वेदान्त दर्शन के तीसरे अध्याय के दूसरे पाद का तीसरा सूत्र है :—

मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात्।

इस पर शंकर स्वामी लिखते हैं :—

(१) मायैव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थ-गन्धोऽप्यस्ति।

(पृ० ३४४)

स्वप्न की सृष्टि सर्वथा मिथ्या है। उसमें तथ्यता की गंध भी नहीं।

(२) कुतः—कात्स्न्र्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात्। नहि कात्स्न्र्येन परमार्थवस्तु धर्मेणाभिव्यक्त स्वरूपः स्वप्नः।

क्यों ?—इसलिये कि स्वप्न में देखी हुई वस्तुओं में वास्तविक वस्तुओं के समान पूर्णता नहीं होती। अर्थात् कहीं न कहीं ऐसी त्रुटि होती है जिससे स्पष्ट पता लग जाता है कि यह भ्रान्ति है।

(३) किं पुनरत्र कात्स्न्र्यमभिप्रेतं देशकाल निमित्त संपत्तिर-बाधश्च। न हि परमार्थ वस्तु विषयाणि देशकाल निमित्तान्य-बाधश्च स्वप्ने संभाव्यन्ते।

कात्स्न्र्य (पूर्णता) का क्या अर्थ है ? देश, काल, निमित्त और परिस्थिति का अबाध। (हम अबाध का अर्थ ऊपर दे चुके हैं) स्वप्न की चीज़ों में असली चीज़ों के समान देश, काल, निमित्त सम्बन्धी अबाध नहीं होता।

अब यहाँ बाध अबाध के कुछ उदाहरण देते हैं।

(४) न तावत् स्वप्ने रथादीनामुचितो देशः संभवति।

स्वप्न में रथ आदि के लिये स्थान नहीं होता। जागते हुये रथ देखना चाहो तो स्थान चाहिये। स्वप्न में तंग कोठरी में चारपाई पर पड़े बड़े-बड़े रथों को देख सकते हो।

(२ नहि सुप्तस्य जन्तोः क्षणमात्रेण योजनशातान्तरितं देशं पर्येतुं विपर्येतुं च ततः सामर्थ्यं सभाव्यते।

(पृ० ३४५)

सोने वाले का यह सामर्थ्य नहीं कि क्षण भर में सैकड़ों मील दौड़ जाय।

(३) क्वचिच्च प्रत्यागमनवर्जितं स्वप्नं श्रावयति।

कभी देखता है कि मैं कलकत्ते से दिल्ली पहुँचा गया। और लौटा नहीं। इतने में आँख खुल गई। यदि वस्तुतः दिल्ली गया होता तो आँख खुलने पर दिल्ली में होता। परन्तु है पड़ा कलकत्ते में ही, इससे सिद्ध है कि स्वप्न की बात झूठ है।

(४) येन चायं देहेन देशान्तरमश्नुवानो मन्यते तमन्ये पार्श्वस्थाः शयनदेश एव पश्यन्ति।

सब पास वाले देखते हैं कि देह कलकत्ते में पड़ी है। स्वप्न वाला समझता है कि दिल्ली पहुँच गई।

(५) यथाभूतानि चायं देशान्तराणि स्वप्ने पश्यति न तानि तथा भूतान्येव भवन्ति।

स्वप्न में देखते हैं कि दिल्ली में अमुक तिथि को अमुक घटना हुई। जाँचने से पता चलता है कि ऐसी कोई घटना नहीं हुई।

(६) रजन्यां सुप्तो वासरं भारतवर्षे मन्यते।

सोता रात में है और समझता है कि भारतवर्ष में दिन है।

(७) मुहूर्तमात्र वर्तिनि स्वप्ने कदाचिद् बहुवषपूगानतिवाहयति।

घड़ी भर सोया और स्वप्न में देखता है कि बहुत वर्ष हो गये।

(८) निमित्तान्यपि च स्वप्ने न बुद्धये कर्मणे वोचितानि विद्यन्ते। करणोपसंहाराद्धि नास्य रथादिग्रहणाय चक्षुरादीनि सन्ति।

स्वप्न में ज्ञान या कर्म के लिये उपयुक्त साधन भी नहीं होते। न तो देखने के लिये आँख न पकड़ने के लिये हाथ। यह कैसे संभव है कि क्षण भर में उसको नये उपकरण मिल जावें। क्योंकि आँख, हाथ आदि ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तो निष्क्रिय हो जाती हैं।

(९) बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे।

जागने पर स्वप्न में देखे हुये रथ आदि का बाध हो जाता है।

(१०) आद्यन्तयोर्व्यभिचारदर्शनात्। रथोऽयमिति हि कदाचित् स्वप्ने निर्धारितः क्षणेन मनुष्यः संपद्यते मनुष्योऽयमिति निर्धारितः क्षणेन वृक्षः।

स्वप्न में देखी हुई चीज़ आदि में कुछ होती है अन्त में कुछ और आदि में रथ था। वही थोड़ी देर में मनुष्य हो गया। जिस को समझा कि यह मनुष्य है वह वृक्ष हो गया।

(११) स्पष्टं चाभावं रथादीनां स्वप्ने श्रावयति शास्त्रम्–'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति।'

(बृ० ४।३।१०)

शास्त्र में भी स्वप्न में देखे हुये पदार्थों का अभाव बताया है। वृहदारण्यक उपनिषत् कहती है कि वहाँ न रथ होते हैं, न घोड़े, न मार्ग। परन्तु दिखाई देते हैं।

(शां० भा० ३-२-३—३४५)

(१२) जागरित् प्रभववासना निर्मितत्वात् तु स्वप्नस्य तत्-तुल्य-निर्भासत्वाभिप्रायं तत्। तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य माया मात्रत्वम्।

(शां० भा० ३।२।६ पृष्ठ ३४८)

उपनिषद् के ऊपर के वाक्य का अभिप्राय यह है कि जागृत अवस्था में जो प्रत्यक्ष अनुभव होते हैं उनकी वासनाओं से स्वप्न की उत्पत्ति होती है। इसलिये स्वप्न जागृत के समान प्रतीत होते हैं। 'भासत्व' का अर्थ है कि वे जागृत के तुल्य हैं नहीं। तुल्य प्रतीत होते हैं। इसलिये सिद्ध हुआ कि स्वप्न अतथ्य हैं।

इन सब युक्तियों से दो बातें सिद्ध होती हैं जिनके ऊपर अलग-अलग विचार होना चाहिये।

(१) स्वप्न प्रत्यय जाग्रत्प्रत्ययों की वासनाओं या स्मृति से बनते हैं। इसलिये वह अतथ्य हैं। अतथ्य का अर्थ याद रखना चाहिये। अतथ्य का यह अर्थ नहीं कि स्वप्न स्वप्न-रूप में नहीं। अतथ्य का अर्थ है कि उनके विषय अतथ्य हैं। रथ प्रतीत होता है, पर है नहीं।

(२) जागृत्प्रत्ययों की वासनाओं से उत्पन्न होने के कारण उनके सदृश प्रतीत होते हैं।

एक मोटा उदाहरण लीजिये। मैं हूँ और मेरा चित्र है। चित्र एक अंश में तो तथ्य है। अर्थात् उसकी आकृति मेरी आकृति के सदृश है। अच्छा कलाकार ऐसा चित्र बना सकता है कि विशेष दूरी से विशेष

प्रकार के प्रकाश में आप पहचान न सकें कि मैं हूँ अथवा मेरा चित्र। परन्तु आप चित्र को एक अंश में मिथ्या कह सकते हैं। उस का अधिक परीक्षा करने से बाध हो जाता है उसमें मेरे समान हड्डियाँ, शरीर, निमेष उन्मेष आदि नहीं हैं।

मेरे चित्र में और मुझ में साधर्म्य भी है और वैधर्म्य भी। यदि साधर्म्य न होता तो कौन कहता कि यह मेरा चित्र है; परन्तु यदि वैधर्म्य न होता तो मेरे चित्र को भी लोग 'मैं हूँ' ऐसा सकझ लेते।

परन्तु इससे एक और बात का पता चलता है। वह यह कि मैं मुख्य हूँ और चित्र गौण। मुझ से मेरे चित्र को मिलाना चाहिये मेरे चित्र से मुझको नहीं मिलाना चाहिये। यदि चित्रकार ने मेरी नाक टेढ़ी बना दी तो मैं अपनी नाक को उसके अनुकूल नहीं करूँगा अपितु चित्रकार को ही चित्र में सुधार करना होगा।

इसी प्रकार जब जाग्रत-प्रत्ययों की वासना या स्मृति से ही स्वप्नों का निर्माण होता है तो जाग्रत-प्रत्यय मुख्य हुये स्वप्न-प्रत्यय गौण। जाग्रत-प्रत्ययों को देख कर स्वप्न-प्रत्ययों की परीक्षा करनी चाहिये। न कि स्वप्न-प्रत्ययों को देख कर जाग्रत्प्रत्ययों की। नागार्जुन आदि बौद्धौं तथा गौड़पादाचार्य आदि वेदान्तियों ने सब से बड़ी भूल यह की है उन्होंने स्वप्न को तराजू मान कर जाग्रत्प्रत्ययों को उसमें तोलने का यत्न किया है। इनकी युक्तियाँ इस प्रकार की हैं जैसे कोई कहने लगे कि मेरे चित्र में मांस, रक्त आदि नहीं हैं। मेरा चित्र मेरे शरीर के तुल्य हैं। अतः मेरे शरीर में भी मांस रक्त आदि नहीं हैं। वे कहते हैं कि जैसे स्वप्न में देखे हुये प्रत्ययों के बाहरी पदार्थों का अभाव होता है उसी प्रकार जाग्रत में देखे हुये प्रत्ययों के भी बाहरी पदार्थों का अभाव है। जितना साधर्म्य है उतना ही स्वीकार करना चाहिये। अधिक नहीं। श्री शंकर स्वामी गौड़पादाचार्य के समान इस लहर में बह नहीं गये। उन्होंने युक्ति के इस दोष को देखा। और बौद्धों के प्रकरण में प्रबल युक्तियों से इसका परिहार किया। परन्तु कारिका का भाष्य करते समय गुरु-

भक्ति के प्राबल्य में उन्होंने किसी न किसी प्रकार इन दोषों पर कलई कर दी। अभी हमने वेदान्त अध्याय ३, पाद २ के ३रे सूत्र का शांकर भाष्य दिया है। इससे आप कारिका २-४ के भाष्य की तुलना कीजिये :—

जाग्रद् दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादिति हेतुः। स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टान्तः। यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपनयः। तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतमिति निगमनम्।

प्रतिज्ञा—जाग्रत दृश्यों के भाव अतथ्य हैं।

हेतु :—क्योंकि दीखते हैं।

दृष्टान्त :—जैसे स्वप्न के दृश्य।

उपनय :—जैसे स्वप्न के दृश्यों के भाव अतथ्य हैं उसी प्रकार जाग्रत के।

निगमन :—इसलिये जाग्रत के दृश्यों के भाव भी अतथ्य हुये।

प्रतिज्ञा :—मेरे शरीर में मांस आदि नहीं हैं।

हेतु :—क्योंकि शरीर दीखता है।

दृष्टान्त :—जैसे मेरे चित्र में।

उपनय :—जैसे मेरा चित्र दीखता है परन्तु उसमें मांस नहीं। इसी प्रकार मेरा शरीर भी दीखता है परन्तु उसमें मांस आदि नहीं।

निगमन :—इसलिये सिद्ध हुआ कि मेरा शरीर मांस-शून्य है।

यहाँ शंकर स्वामी यह कह सकते हैं कि कारिका में परमार्थ का उल्लेख है। और बौद्धों के खंडन करने में हमने व्यवहार का मंडन किया। परन्तु यह युक्ति असंगत है। व्यवहार दशा को तो बौद्ध लोग भी मानते हैं। वह सापेक्षिक सत्यता (Relative Truth) का खंडन नहीं करते। पारमार्थिक सत्यता (Absolute Truth) का खंडन करते हैं। शून्यवादी होते हुये भी नागार्जुन खाना खाते थे। सदाचार का

प्रचार करते थे। उन्होंने पुस्तकें लिखीं। वे समस्त व्यावहारिक व्यापार करते थे। मौलिक प्रश्न यह है कि व्यवहार और परमार्थ में क्या सम्बन्ध है। नागार्जुन आदि माध्यमिक कहते हैं कि व्यवहार में सब कुछ सत्य है। परमार्थ में कुछ नहीं।

शंकर स्वामी कहते हैं परमार्थ में केवल एक ब्रह्म सत्य है अन्य सब असत्य। व्यवहार में बाहरी पदार्थ, समस्त प्रपंच, सदाचार, मुक्ति आदि सभी सत्य हैं।

शंकर स्वामी यह नहीं बताते कि परमार्थ और व्यवहार में यह परस्पर विरोध क्यों? मेरे चित्र और मेरे शरीरमें भेद इसलिये है कि चित्रकार केवल मेरे शरीर की ऊपरी आकृति को लेना चाहता है। मेरे शरीर के और अंशों से उसे संबन्ध नहीं। इसी प्रकार स्मृति या स्वप्न में और उसके विषय में इसलिये भेद है कि स्मृति या स्वप्न एक अंश को लेकर होते हैं। जैसे शरीर को चीर कर देख सकते हैं कि अमुक हड्डी कहाँ है। यंत्र से हृदय की गति का अनुमान लगा सकते हैं। इसी प्रकार चित्र को चीर कर नहीं देख सकते। यदि मुझे अपने किसी मित्र की स्मृति है या मैंने उसको स्वप्न में देखा है तो मैं उस स्मृति-गत या स्वप्न-गत दृश्य से अपने मित्र की अन्य बातों का पता नहीं लगा सकता।

चित्र और पदार्थ, स्मृति और उसके विषय, अथवा स्वप्न और जाग्रत के भेद का तो स्पष्ट कारण ज्ञात होता है। परन्तु पारमार्थिक सत्य और व्यावहारिक सत्य के भेद का नहीं।

आचार्य शंकर का मत है कि जैसे स्वप्न के अनुभव स्वप्न में सत्य प्रतीत होते हुये भी जाग्रत में बाधित हो जाते हैं इसलिये असत्य हैं इसी प्रकार जाग्रत्प्रत्यय भी ब्रह्मानुभव में बाधित हो जाते हैं अतः वे अतथ्य हैं। जाग्रत अवस्था व्यवहार है और ब्रह्मानुभव परमार्थ।

इतने मात्र से हमारे प्रश्न का समाधान नहीं होता। प्रथम तो स्वप्न

अवस्था में हमने अपने अनुभवों को कभी जागृत के अनुभवों से तोल कर अतथ्य नहीं ठहराया। जागृत अवस्था में

(१) न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्व मुपपद्यते। न ह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादि विशेषोपेतं तद् विपरीतं चेत्यव-धारयितुं शक्यं विरोधात्।

(२) अस्तु तर्हि स्थानतः पृथिव्याद्युपाधियोगादिति। तदपि नोपपद्यते। नह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति।

(३) न हि स्वच्छः सन् स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति भ्रममात्रत्वादस्वच्छताभिनिवेशस्य। उपाधीनां चाविद्या-प्रत्युपस्थापितत्वात्।

(शां० भा० ३।२।११, ३५५-५६)

(१) परब्रह्म स्वयं किसी प्रकार भी दो प्रकार के लिंग वाला नहीं हो सकता। ऐसा नहीं हो सकता कि एक वस्तु स्वयं ही रूपवाली भी हो और उसके विपरीत भी।

(२) यदि यह कहा जाय कि स्थान के कारण (स्थानम् उपाधि-स्तद्योगात्) अर्थात् पृथिवी आदि की उपाधि के योग से। तो भी ठीक नहीं। क्योंकि उपाधि के कारण किसी वस्तु का स्वभाव अन्यथा नहीं हो सकता।

(६) स्वच्छ स्फटिक लाख की उपाधि से अस्वच्छ नहीं हो जाता। अस्वच्छता समझना अविद्या है।

ब्रह्म में तो केवल अविद्या के कारण उपाधियाँ हैं।

हमारी आलोचना—यदि केवल ब्रह्म ही सत्य है तो उपाधि का क्या कारण है? यदि स्फटिक ही होता और लाख न होती तो उपाधि का प्रश्न भी न उठता। और न कोई स्फटिक की स्वच्छता को अविद्या-वश अस्वच्छता समझता। फिर इस सूत्र में तो जीव का ब्रह्म के साथ

संपर्क बताया है, जब तक स्वच्छ ब्रह्म में अविद्यावश अस्वच्छता न आवे जीव बनेगा कैसे ? आप कहेंगे कि ब्रह्म तो स्वच्छ ही है तुम इसको अस्वच्छ समझते हो। हमारा उत्तर यह है कि आपके मत में हम तो ब्रह्म ही हैं। अविद्यावश अपने को अस्वच्छ समझ लिया है, यह क्यों ?

फिर आप अपने इस कथन को नीचे के कथन से मिलाइयेः—

द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकार भेदोपाधिविशिष्टं, तद् विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम् ।

(शां० भा० १।१।६२ पृ० ३४)

ब्रह्म के दो रूप हैं एक तो नाम रूप विकार भेद की उपाधि वाला दूसरा इसके विपरीत सब प्रकार की उपाधियों से छूटा हुआ।

इन दोनों का समन्वय कैसे होगा ? इससे तो द्वैतसिद्ध है।

इसका उत्तर शं० स्वा० ने यह दिया है :—

उपाधिनिमित्तस्य वस्तुधमत्वानुपपत्तेः। उपाधीनां चाविद्या प्रत्युपस्थापितत्वात् । सत्यामेव च नैसर्गिकामविद्यायां लोकवेद-व्यवहारावतार इति।

(शां० भा० ३।२।१५ पृ० ३५८)

उपाधि के निमित्त से वस्तु में कोई धर्म नहीं आता। उपाधियाँ तो अविद्या के कारण होती हैं। अविद्या नैसर्गिकी है। इसी से लौकिक और वैदिक व्यवहार होते हैं।

यह कोई उत्तर नहीं है। नैसर्गिकी अविद्या के विषय में अन्यत्र आलोचना आ चुकी है।

स्वप्न के अनुभवों को जागृत-अनुभवों से तोल कर उनको बाधित कर दिया। स्वप्न में यह संभव ही न था कि जागृत के अनुभवों को सामने लाकर उनसे अपने स्वप्न-प्रत्ययों की तुलना कर सकते। अंधेरे में दीपक को लाकर उससे अंधेरे को नहीं माप सकते। यहाँ आप उलटा

जागृत अवस्था में हमसे कहते हैं कि तुम्हारे अनुभव 'ब्रह्मानुभव' से बाधित हो रहे हैं। दूसरी बात यह है कि जागृत के प्रत्ययों की स्मृति, वासना आदि से स्वप्न-प्रत्ययों की व्याख्या हो जाती है। यह शांकर स्वामी ने भी माना है। और निद्रालग्नता आदि दोषों को इसका कारण माना है। परन्तु जागृत-के अनुभवों का यदि वे अतथ्य हैं कुछ कारण बताना चाहिये। और वह 'ब्रह्मानुभव' की अवस्था में बताना चाहिये। यदि 'सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म' अद्वैत है। बिना उसके कुछ नहीं, तो बताइये कि उस अवस्था में कौन सी निद्रा, कौन सी स्मृति, कौन सी वासना थी जिसने इस व्यवहार रूपी सत्य को जो वास्तव में असत्य है उत्पन्न कर दिया ?

यदि कहें कि जब तुमको ब्रह्मानुभव प्राप्त होगा तो अवश्य ही ज्ञात हो जायगा। तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि संसार में इतने 'ब्रह्मानुभव' की दुहाई देने वाले हैं। इनको जाँचा कैसे जाय ? आप हैं। कपिल आदि महर्षि हैं, भिन्न-भिन्न उपनिषत्कार हैं। सभी तो आपके मत के नहीं हैं। यह हो सकता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा कहने वाला कई कारणों से भ्रान्ति-युक्त हो। आप बहुधा यह कह देते हैं कि श्रुति में ऐसा लिखा है। परन्तु आपके विपक्षी द्वैतवाद को भी तो श्रुतियों से ही सिद्ध करते हैं, 'श्रुति' का होना ही द्वैत का साधक है। इसीलिये आप उसको भी अविद्यावत् कहते हैं (देखो चतुः सूत्री १।१।१)

आपका कहना है कि सत्य वह है जो कभी बाधित न हो। स्वप्न-प्रत्यय बाधित होने से अतथ्य हैं। इस बात को तो सभी स्वीकार करेंगे। परन्तु प्रश्न यह है कि प्रत्यक्ष से लेकर शब्द पर्य्यन्त सब प्रकार से परीक्षित प्रत्ययों का बाध आप कैसे करते हैं ? रज्जु की परीक्षा करके हमने उसमें सर्पत्व का बाध कर दिया। अब आप कहते हैं कि इसी प्रकार रज्जु के रज्जुत्व का भी बाध कर देंगे। कैसे कर दें ? होता ही नहीं। यों तो बौद्ध लोग आपसे कहेंगे कि जैसे आपने जागृतप्रत्ययों का बाध किया उसी प्रकार 'ब्रह्मानुभव' का भी बाध कर दीजिये। आप

कहेंगे कि प्रकाश का बाध कैसे करें? हम भी कहते हैं कि प्रत्यक्ष का बाध कैसे करें? प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्।

आप कहेंगे कि संसार की वस्तुओं को कभी एक रूप में नहीं देखते। यह सब कुछ परिवर्तनशील है। परन्तु हमारा कहना है कि परिवर्तन और बाधता में भेद है। आप स्वयं ऊपर बता चुके हैं। (देखो शां० भा० ३।२।३) कि देशकाल और निमित्त का स्वप्न में बाध होता है। और जाग्रत में इनका बाध नहीं होता। इन्हीं के आधार पर आपने जाग्रत को सत्य और स्वप्न को माया मात्र ठहराया। आपने सम्यग्ज्ञान का ऐसे लक्षण किया है।

तच्च सम्यग्ज्ञानमेकरूपं वस्तु तन्त्रत्वात्। एकरूपेणाह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः। लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते यथाग्निरुष्ण इति।

(शां० भा० २।१।११ पृ० १६४)

जो ज्ञान एक रूप रहे वह सम्यक् है क्योंकि वह वस्तु के आश्रित है। परमार्थ वही है जो एक रूप में स्थित रहे। जैसे अग्नि की उष्णता।

परन्तु यदि परमार्थ, और सम्यक्ज्ञान का अर्थ सत्यता है तो आपका यह लक्षण ठीक नहीं। और यदि यह पारिभाषिक शब्द हैं तो इनसे कुछ बनता नहीं। क्योंकि अनित्य सत्य भी होता है। यही अनित्यता अनेक रूपता है। अनेक रूपता सत्य भी हो सकती है और मिथ्या भी। यदि देश, काल और निमित्त के कारण है तो सत्य है अन्यथा असत्य। यहाँ तक कि यदि देश, काल तथा निमित्त के कारण जो परिवर्तन होना चाहिये वह दृष्टिगोचर न हो तो उसकी सत्यता में संदेह हो जाता है। जैसे यदि किसी माता का १ वर्ष का बच्चा खो जाय और बीस वर्ष के पीछे उसी आकृति, उसी रूप रंग, उसी क़द का एक बच्चा उसे मिले तो वह स्पष्ट कह देगी कि यह मेरा बच्चा नहीं

है। बीस वर्ष में जो परिवर्तन उसमें होना चाहिये था वह नहीं है। यहाँ परिवर्तन का दृष्टिगत न होना असत्यता की पहचान है। उन्हीं के कारण तो स्वप्न को अतथ्य कहना पड़ा।

यदि आप कहें कि इसी देश, काल और निमित्त का तो हम बाध करना चाहते हैं, देश काल और निमित्त से अपेक्षित सत्य नहीं। हम तो निरपेक्षित सत्य की खोज में हैं। तो हमारा कहना है कि आप कल्पित सत्य की खोज में फिरते रहिये। आप कभी सफल न होंगे। जिसको आप निरपेक्ष सत्य कहेंगे उसमें भी आपके 'मान' की अपेक्षा रहेगी। आपने कल्पना कर ली कि जो सापेक्षित है वह असत्य है। न्यायदर्शन में यह शङ्का उठाई है।

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात्।

(न्यायदर्शन ४।१।३९)

अर्थात् सापेक्षिक होने से कोई भाव भी ठीक नहीं।

इसका उत्तर देते हैं:—

व्याहतत्वादयुक्तम्।

(न्यायदर्शन ४।१।४०)

व्याघात दोष होने से युक्ति ठीक नहीं, वात्स्यायन मुनि लिखते हैं :—

यदि ह्रस्वापेक्षाकृतं दीर्घं, किमिदानीमपेक्ष्य ह्रस्वमिति गृह्यते। अथ दीर्घापेक्षाकृत ह्रस्वं, दीर्घमनपेक्षिकम्।

यदि ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ है तो किसकी अपेक्षा से ह्रस्व है तो दीर्घ अनपेक्षिक (बिना अपेक्षा के हुआ)।

किमपेक्षासामर्थ्यमिति चेत् ? द्वयोर्ग्रहणेऽतिशय ग्रहणोपपत्तिः। द्वे द्रव्ये पश्यन्नेकत्र विद्यमानमतिशयं गृह्णाति तद्दीर्घमिति व्यवस्यति, यच्च हीनं गृह्णाति तद्ध्रस्वमिति व्यवस्यतीति। एतच्चापेक्षा सामर्थ्यमिति।

अपेक्षा है क्या ? जब दो चीजें दिखाई दीं और एक के अतिशय का ग्रहण किया। यह अपेक्षा है। विश्वनाथ की वृत्ति में इस पर एक टिप्पणी है :—

किं च सापेक्षत्वं सापेक्षं न वा। आद्ये तस्य तुच्छत्वान्न साधकत्वम्। अन्त्ये तस्यैव सत्यत्वात् कुतः सर्वशून्यत्वमिति भावः।

अर्थात् यदि कहा जाय कि जो भाव सापेक्षक है वह असत्य है तो प्रश्न होता है कि सापेक्षत्व का भाव सापेक्षक है या नहीं। यदि सापेक्षत्व सापेक्षक है तो असत्य हुआ। अतः आप जो युक्ति असत्यता के लिये देना चाहते थे वही कट गई। फिर आप असत्यता को किस प्रकार सिद्ध करेंगे। यदि कहो कि सापेक्षता निरपेक्ष है, तो सापेक्षता सत्य हो गई और उसके द्वारा सिद्ध हुये भाव भी सत्य हुये।

प्रायः यह कहा जाता है कि सापेक्षिक सत्यता सब असत्य है। (All relative truths are false) यह बड़ा भ्रान्ति-युक्त सिद्धान्त है। यदि एक ही वस्तु होती तो सापेक्षता भी न होती। जब बहुत्व है तो उसमें अपेक्षा भी है। यदि एक ही पुत्र हो तो उसमें भ्रातृत्व नहीं हो सकता। यदि दो हों तो आपस में भाई होंगे। भाईपन दोनों की असत्यता का बोधक नहीं अपितु दोनों की सत्यता का बोधक है। (Relations prove the existence of the two rather than the non-existence of either.

निरपेक्ष सत्यता (Absolute Truth) का कोई अर्थ नहीं। मनुष्य मात्र के मस्तिष्क में इसका कोई भाव नहीं। क्यों हो ? 'निरपेक्ष सत्य' दो शब्द हैं जिनको कल्पना द्वारा संयुक्त कर लिया गया है। यह वाक्य ही निरर्थक है। आप कहेंगे कि अपेक्षा अविद्या के कारण है। हम पूछते हैं कि अविद्या का क्या अर्थ है ? विद्या-शून्यता अथवा विद्या-विपरीतता। यदि विद्या-शून्यता का नाम अविद्या हो तो जिस

ब्रह्म को आप ज्ञान-स्वरूप कहते हैं उसके होते हुये विद्याशून्यता कहाँ से आ गई ? आपके मत में कोई जड़ पदार्थ (प्रधान आदि) तो है नहीं। सूर्य्य-मंडल में अँधेरा ! यदि कहो कि विद्या की विपरीतता का नाम अविद्या है (तद्दुष्टं ज्ञानं—वैशेषिक ६।११) तो भी वही प्रश्न है कि ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म में दुष्ट ज्ञान कैसा ? तीसरी और क्या चीज़ हो सकती है ? इसलिये क्यों नहीं मान लेते कि एक ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म है एक जड़ प्रधान है और कुछ दुष्ट ज्ञान वाले जीव भी हैं। पूर्ण विद्या ब्रह्म का धर्म है। विद्याशून्यता प्रधान का और अल्पज्ञता जीवों का।

ब्रह्म को कभी भ्रान्ति नहीं होती क्योंकि वह ज्ञान-स्वरूप है। प्रधान को कभी भ्रान्ति नहीं होती क्योंकि वह जड़ है। जीव अल्पज्ञ होने से भ्रान्ति की सम्भावना रखते हैं। जीव की अल्पज्ञता समस्त प्रपंच की व्याख्या करने को समर्थ है। भ्रान्तियाँ अल्पज्ञता के कारण हैं। श्री राधाकृष्णन् शांकर-सिद्धान्त का वर्णन करते हुये कहते हैं :—

"Our practical interests determine our whole thought procedure. The internal organ helps us to concentrate consciousness on a narrow range, like a bull's-eye lantern which restricts the illumination to a particular spot. We take note of those features of the 'what' of things which have a significance for our purposes. Even our general laws are established with a view to our plans & interests."

(*Indian Philosophy Vol. II. P. 504*)

अर्थात् "हमारे विचारों पर हमारे उद्देश्यों का प्रभाव पड़ता है। अन्तःकरण से हमको यह सहायता मिलती है कि हम अपने लक्ष्य को एकाग्र कर सकें जैसे टार्च का प्रकाश केवल एक ही स्थान पर पड़ता है। हम चीज़ों के केवल उसी अंश को देखते हैं जो हमारे प्रयोजन से सम्बन्ध रखता है। हमारे सामान्य नियम भी इसी दृष्टि से बनाये जाते हैं।"

यह ठीक है। इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? हमारा बौद्धिक यन्त्र निर्वचन करता है। जितने अंश पर टार्च पड़ी उतने को देखता है शेष को नहीं। क्योंकि हम अल्पज्ञ हैं। बिना टार्च के देख नहीं सकते और जितने अंश पर टार्च पड़ती है उससे अधिक को भी नहीं देख सकते। परन्तु जितने को देखते हैं उसको भी मिथ्या क्यों मानें? यही नहीं कि टार्च का प्रकाश कुछ अंश को प्रत्यक्ष कराता है, कुछ को धुँधला बताता है और कुछ का प्रकाश में देखे हुये अंश की सहायता से अनुमान कराता है। यदि आप अल्पज्ञता का नाम "नैसर्गिक अविद्या" रक्खें तो ठीक है क्योंकि जीव स्वभाव से अल्पज्ञ है। परन्तु अल्पज्ञता का इतना ही अर्थ लेना होगा कि ज्ञान अल्प है। इस अल्प ज्ञान को बढ़ाने की सम्भावना है जैसे टार्च को इधर उधर फिरा कर कई स्थानों का ज्ञान हो सकता है। परन्तु यह मान बैठना कि टार्च जहाँ पड़ती है वहाँ मिथ्या ज्ञान कराती है ठीक नहीं है। पूर्णज्ञता के अभाव को आप अल्पज्ञता कह सकते हैं। यदि आप विपरीत ज्ञान को जीव का स्वभाव मान लेंगे तो कभी विद्या की प्राप्ति न हो सकेगी। क्योंकि स्वभाव का नाश कभी नहीं हो सकता। अग्नि को कभी ठंडा नहीं कर सकते। वायु को कभी गर्म कर सकते हैं, कभी कम गर्म, कभी ठंडा। कुछ चीजें हैं जिनको न आग गर्म कर सकती है, न जल ठंडा, जैसे आकाश। समझने के लिये यहाँ जीव को वायु की उपमा दे सकते हैं।

इस सम्बन्ध में 'भ्रान्ति' की भी मीमांसा करनी है। ऊपर टार्च का दृष्टान्त दे चुके हैं। उसी को फिर लीजिये। जो स्थान टार्च के क्षेत्र से बाहर है वहाँ धुँधला दिखाई पड़ता है। कल्पना कीजिये कि टार्च ठीक एक वृक्ष पर पड़ी। हमने देख लिया कि यह आम का वृक्ष है। निकट में प्रकाश-क्षेत्र के बाहर कुछ ठूँठ सा दीख पड़ा उसके विषय में अटकल दौड़ाई कि कोई मनुष्य है या किसी गिरे हुये वृक्ष का ठूँठ है। यहीं भ्रान्ति उत्पन्न हो गई। इसी का नाम दुष्ट ज्ञान है।

इसका कारण इन्द्रिय-दोष और संस्कार-दोष को बताया है (इन्द्रिय दोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या—वैशेषिक ९।१०)

भ्रान्तियुक्त प्रतीति की व्याख्या कई दर्शनकारों ने 'ख्यातियों' द्वारा की है। जैसे रस्सी में यदि साँप की भ्रान्ति हो तो प्रश्न होता है कि इसको कौनसी ख्याति कहना ठीक होगा? छः ख्यातियाँ प्रसिद्ध हैं (१) सत् ख्याति (२) असत् ख्याति (३) आत्म ख्याति ४) अख्याति (५) अन्यथा ख्याति (६) अनिर्वचनीय ख्याति।

प्रत्येक ख्याति के साथ अलग-अलग दार्शनिक सम्प्रदायों का सम्बन्ध बताया जाता है जैसे *सत् ख्याति* या *सदसत् ख्याति* सांख्यों की है। वे मानते हैं कि रस्सी में साँप की आकृति की कुँडलियाँ सी हैं। इसी सत् धर्म के कारण रस्सी में साँप की भ्रान्ति हो जाती है।

असत्ख्याति—शून्यवादी माध्यमिकों की है जो बौद्धों का एक दार्शनिक सम्प्रदाय है। उनका कथन है कि रस्सी में साँप का अभाव है। परन्तु प्रतीति होती है। इससे सिद्ध हुआ कि असत् की प्रतीति हुआ ही करती है। जो प्रतीत हो उसको सत् नहीं समझना चाहिये। इसका परिणाम शून्यवाद है। अर्थात् जो भाव हैं वे असत् हो गये तो शून्य ही रह गया।

आत्मख्याति—योगाचार बौद्धों की है। इनका कहना है कि आत्मा में जो भाव हैं उनके अनुकूल आत्मा से बाहर कोई पदार्थ नहीं। बाह्य पदार्थ ज्ञान से अतिरिक्त और कुछ नहीं। इनकी दृष्टि में आत्मा के बाहर किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं। पदार्थों का बाहरीपन मिथ्या है। इतना कहने में कोई हानि नहीं कि मेज़ की मुझे प्रतीति होती है। परन्तु यह मत कहो कि मेज मेरे ज्ञान से बाहर कोई पदार्थ है जिसका मुझको ज्ञान हो रहा है।

अख्याति—प्रभाकर आदि मीमांसकों की है। वे कहते हैं कि साँप के आकार की स्मृति और सामने पड़ी हुई रस्सी के बीच में जो भेद है

उसकी प्रतीति नहीं होती। अतः रस्सी को साँप समझ लिया जाता है।

अन्यथा ख्याति—नैयायिकों और वैशेषिकों की है। अर्थात् दोष-वश एक चीज़ अन्यथा प्रतीत होती है। थी रस्सी। हमको प्रतीत हुई साँप।

अनिर्वचनीय ख्याति—शांकर मत की है। वे कहते हैं कि रस्सी में साँप का भाव भावरूप में तो सत्य ही था। अतः हम उसको असत् कैसे कहें? और सत् भी नहीं कह सकते क्योंकि रस्सी है साँप नहीं। अतः यह एक विलक्षण चीज़ है न सत् है न असत्। यह अनिर्वच-नीय है।

ये सब ख्यातियाँ एकांगी हैं और भारतीय प्राचीन दार्शनिकों के सिद्धान्तों में इनका उल्लेख नहीं पाया जाता। इनको मूल मान कर किसी सिद्धान्त को निश्चय करना भूल है। और यही भूल प्रायः की गई है।

भ्रान्तियुक्त प्रतीति के तीन कारण होते हैं। (१) इन्द्रिय-दोष (२) संस्कार-दोष (३) परिस्थिति-दोष। जैसे आँख दुखने आ गई हो तो रस्सी को साँप समझ सकते हैं। मन में पहले साँप के विचार हो रहे हों तो जल्दी में रस्सी में साँप की भ्रान्ति हो सकती है। और यदि अँधेरा हो तो रस्सी साँप का सन्देह उत्पन्न कर सकती है। जब भ्रान्ति होती है तो उसमें कुछ न कुछ तीनों बातें सम्मिलित रहती हैं। यदि केवल आँख ही दुखने आवे और किसी ने कभी साँप न देखा हो, न साँप की आकृति के संस्कार मन में हों तो कभी कोई रस्सी को साँप न समझेगा और यदि साँप का भय मन में बैठा भी हो परन्तु प्रकाश भी हो और शुद्ध इन्द्रिय भी हो तो रस्सी रस्सी ही प्रतीत होगी। साँप नहीं।

इस बात को प्राबल्य देने की आवश्यकता है कि भ्रान्ति का उत्तर-दातृत्व इन तीनों बातों पर व्यस्त और समस्त दोनों रूप में है। और

विशेष कर समस्त रूप में यद्यपि प्रत्येक कितने अंश तक उत्तरदाता है यह और बात है। सब भ्रान्तियाँ समकक्ष नहीं होतीं। उनके भेद का कारण इन्हीं तीनों में से किसी की प्रधानता और किसी की गौणता होती है।

यदि ख्याति की दृष्टि से देखा जाय तो सभी ख्यातियाँ किसी एक भ्रान्ति में लागू हो सकती हैं। किसी गौ को देख कर कह सकते हैं कि यह घोड़ा नहीं है। अर्थात् गौ में घोड़ेपन का अभाव है। परन्तु इसका यह अर्थ तो नहीं है कि गौ गौ भी नहीं है। इसी प्रकार यदि गौ में गौपन का भाव है तो यह अर्थ नहीं कि उसमें घोड़ेपन का भी भाव है। यह ठीक है कि भ्रान्ति की दशा में रस्सी में साँप नहीं है प्रतीत होता है। इसे आप असत् ख्याति कहिये। साँप मन में है बाहर साँप नहीं, रस्सी है। इसे आत्म ख्याति कहिये। रस्सी को साँप समझ लिया अन्यथा ख्याति कहिये। रस्सी साँप का भेद ग्रहण में नहीं आया अख्याति कहिये। सन्देह होने से कुछ कहा नहीं जा सकता इसे अनिर्वचनीय ख्याति कहिये। आँख ने केवल कुँडलियाँ देखी। कुँडलियाँ रस्सी में भी होती हैं और साँप में भी। इसलिये चाहे साँप और रस्सी का निर्णय न हो सका परन्तु कुँडलियों का भाव तो सत्य ही था इसलिये सत् ख्याति कहिये। यह तो कहने का ढंग है। भूल ख्यातियों के नामों में नहीं और न उनके लक्षणों में है। भूल है उन ख्यातियों के आधार पर अन्य सिद्धान्त निर्धारित करने में और भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय बना लेने में।

रस्सी में साँप का अभाव है। परन्तु रस्सी का तो भाव है। अतः साँप के अभाव से समस्त वस्तुओं का अभाव सिद्ध नहीं होता। भारतवर्ष में लन्दन का अभाव है और इंगलैण्ड में कलकत्ते का। इस हेतु से लन्दन और कलकत्ते दोनों का अभाव सिद्ध करना सर्वथा अयुक्त है। साँप मन में था रस्सी में न था। परन्तु साँप मन में आया कहाँ से? मन में साँप नहीं उत्पन्न होते। साँप की स्मृति किसी स्थान पर

बाहर स्थित साँप को देख कर ही आई होगी। सन्देह भी तो तभी उत्पन्न होता है जब कभी दो चीज़ें प्रायः एक सी देखी गई हों। जिसने कभी चाँदी नहीं देखी उसको सीप में चाँदी की भ्रान्ति हो ही नहीं सकती।

सब से बड़ी भूल यह है कि कुछ थोड़ी सी भ्रान्तियों का दृष्टान्त बना कर उनको अन्य अभ्रान्तियों पर लागू किया जाता है। कछुवे का काटा कठौती को डरता है। उसे यह विवेक नहीं कि कठौती चौके में है। वहाँ कछुवा कहाँ से आ कूदा। नदी में तैरती हुई कठौती को दूर से देख कर कछुवा समझ लेना तो क्षन्तव्य था। जीवन में हम सामान्यतया तो रस्सी को रस्सी ही देखते हैं, साँप को साँप ही, जल को जल ही और रेत को रेत ही। बहुत कम और कभी-कभी ही ऐसा होता है कि सीप में चाँदी का भ्रम हो जाय या रस्सी में साँप का या मृगतृष्णिका में जल का। यदि हम अपने अनुभवों का लेखा रक्खें तो ऐसे अवसर एक प्रतिशतक क्या, एक प्रतिलक्ष भी न निकलेंगे। चाहिये तो हमको यह था कि अपवाद की व्याख्या उत्सर्ग की सहायता से करते। परन्तु किया हमने उलटा। उत्सर्ग का कारण अपवाद में खोजने लगे। एक मन दूध में यदि आध सेर जल मिल जाय तो समस्त दूध के साथ जलवत् व्यववहार करना और उसे स्नान या कपड़ा धोने के काम में लाना बुद्धिमता नहीं है। इसी प्रकार थोड़ी सी भ्रान्तियों के आधार पर समस्त जगत् को मिथ्या सिद्ध करना भूल है। श्री राधाकृष्णन् ने शांकर-मत को इस प्रकार लिखा है :—

All thought struggles to know the real to seek the truth, but, unfortunately, it can attempt to know the real only by relating the real to something other than itself. The real is neither true nor false. It simply is. But in our knowledge we refer this or that characteristic to it. All knowledge whether perceptual or conceptual, attempts to reveal reality or the ultimate

spirit (प्रत्यक्ष प्रमा चात्र चैतन्यमेव—वेदान्त परिभाषा १) while perception is an event in time, non-existent both before it happens and after, it is still the manifestation of a reality which is not in time, though it falls short of the real which it attempts & manifests. So far as inadequacy to the grasp of the real is concerned, all means of knowledge are on the same level. All judgments are false in the sense that no predicate which we can attribute to the subject is adequate to it. We have either to say Reality is Reality, or say that Reality is X, Y, Z. The former is useless for thought, but the latter is what thought actually does. It equates the real with something else, i. e. the non-real. To attribute to the real what is different from it is what Shankar calls adhyasa, or attributing to one thing what is different from it. (अध्यासो नाम अतस्मिँस्तद्बुद्धिः) Adhyasa is defined as the appearance of a thing where it is not (परत्र परावभासः)

(*Indian Philosophy Vol. II. Page 505*)

"सब मानसिक व्यापारों का यत्न है तत्व को जानना, सत्य की खोज करना, परन्तु दुर्भाग्य है कि तत्व के जानने का यत्न करने में उसे तत्व का सम्बन्ध किसी ऐसी वस्तु से करना पड़ता है जो तत्व नहीं है (अतत्व है) । तत्व न सत्य है न असत्य । यह केवल सत्ता मात्र है । परन्तु अपने ज्ञान में हम इसके साथ यह धर्म अथवा वह धर्म जोड़ देते हैं । समस्त ज्ञान चाहे वह ऐन्द्रियक हों अथवा बौद्धिक, तत्व अर्थात् मौलिक आत्मा को जानने का यत्न करता है । (प्रत्यक्ष प्रमा चात्र चैतन्यमेव—वेदान्त परिभाषा १) ऐन्द्रियक ज्ञान एक कालिक घटना है । अर्थात् आरम्भ से पहले उसका अस्तित्व न था । पीछे न रहेगा । तो भी वह एक ऐसी सत्ता का बोध कराता है जो कालातीत है । यद्यपि यह वि

तत्व का बोध कराना चाहता है उसको पूरा नहीं कर पाता। तत्व की उपलब्धि के विचार से देखा जाय तो सभी प्रमाण अपूर्ण हैं। हमारे समस्त विचार इस अर्थ में मिथ्या हैं कि कोई धर्म ऐसा नहीं है जिसका हम तत्व से सम्बन्ध जोड़ें और वह पूरा उतरे। या तो हम कहते हैं कि तत्व तत्व है। या कहते हैं कि 'तत्व क्ष, य या ज्ञ है।' पहली बात विचार के लिये निष्प्रयोजन है (अर्थात् "तत्व तत्व है" ऐसा कह देने से कुछ ज्ञान में वृद्धि नहीं होती)। परन्तु दूसरी बात तो विचार नित्य-प्रति ही करता है। यह तत्व में कुछ ऐसे धर्म बताता है जो तत्व से इतर हैं, अर्थात् अतत्व है। तत्व में वह धर्म बताना जो तत्व के नहीं हैं शांकर परिभाषा में अध्यास है। अर्थात् अन्य में अन्य बुद्धि। (अतस्मिंस्तद्बुद्धिः)। अध्यास का लक्षण है कि एक चीज़ वहाँ प्रतीत हो जहाँ वह नहीं है (परत्र परावभासः)।

(इण्डियन फिलासफी जिल्द २, पृष्ठ ५०५)

शांकर अध्यास को समझाने का नवीन भाषा में इससे उत्तम रूप नहीं हो सकता। श्री राधाकृष्णन् ने अध्यास को ऐसे सरल रूप में हमारे सामने रक्खा है कि एक बार तो विपक्षी को भी इसकी सत्यता का निश्चय हो जाता है। परन्तु थोड़ी सी सावधानता से ही हेत्वाभास की रूपरेखा दिखाई पड़ने लगती है। खोज करनी थी तत्व की। यह बिना सिद्ध किये मान लिया गया कि "तत्व केवल सत्ता मात्र है। उसमें कोई धर्म है ही नहीं।" आप ऐसे कल्पित तत्व की खोज करने चले। कहीं प्राप्ति नहीं हुई। अतः आपने घोषणा कर दी कि संसार भर में तत्व नहीं। अर्थात् संसार अतत्व या मिथ्या है। इसको साध्य-सम हेत्वाभास कहते हैं। यह ठीक है कि हमारा ज्ञान तत्व की खोज करने में तत्व के साथ किसी न किसी धर्म का सम्बन्ध जोड़ देता है। परन्तु इससे तो यह सिद्ध होता है कि तत्व में अनेक धर्म हैं। तभी तो आपकी बुद्धि तत्व का धर्म जानने के लिये लालायित रहती है। प्रमाण

ज्ञान का साधन हैं। उनका तो आपने निराकरण कर दिया। अब आपके पास रह ही क्या गया जिससे आप तत्व की खोज करें? यदि कोई पुरुष किसी पुष्प का रंग जानने की खोज में चले और चलने से पहले आँखों में पट्टी बाँध ले तो ऐसे पुरुष को सफलता की क्या आशा हो सकती है?

आप तत्व के साथ उसका धर्म बताने को अतत्व कहते हैं। यह कैसे? यदि कहा जाय कि नीबू नीबू है तो यह कथन व्यर्थ है। क्योंकि इतना कहने से कुछ पता नहीं चलता। यदि कहा जाय कि 'नीबू पीला है' तो आप कहते हैं कि नीबू से ऐसे धर्म का सम्बन्ध लग गया जो नीबू से इतर है। याद रखना चाहिये कि पीलापन नीबू का धर्म है। इसलिये धर्म बताना 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' नहीं है आप तत्व के खोजी हैं। आपने पहले से ही यह क्यों मान रक्खा है कि तत्व में कोई अन्य धर्म नहीं और तत्व एक ही है, अनेक नहीं। यदि आप यह मान बैठें कि आपके हाथ में केवल एक ही उँगली है तो इस कल्पना के आधार पर यही कहना पड़ेगा कि अन्य चार उँगलियों की प्रतीति मिथ्या है। अविद्या के कारण है। अध्यास है। यदि आप सच्चे तत्व के खोजी हैं तो अपना मस्तिष्क खुला रखिये। और गिनना आरम्भ कीजिये। सिर एक है इसलिये उसको एक कहिये। आँखें दो हैं अतः उनको दो कहिये। दाँत बत्तीस हैं उनको बत्तीस कहिये। यदि गिनने से कम या अधिक निकलें तो उनको वैसा कहिये। आप कहते है कि तत्व को तत्व कहने (Reality is Reality) से काम नहीं चलता। और तत्व को क्ष, य, ज्ञ कहने (Reality is X, Y, Z) से तत्व के साथ अतत्व जोड़ना पड़ता है क्योंकि क्ष, य, ज्ञ तत्व नहीं हैं। और ऐसा करने को ही अध्यास कहते हैं। हम आपके अध्यास के लक्षण को मान लेते हैं परन्तु युक्तियों को नहीं। क्योंकि इनमें समझ का फेर है। वाक्य के दो भाग होते हैं एक उद्देश्य (Subject) दूसरा विधेय (Predicate) यदि विधेय उद्देश्य से सर्वथा अन्य हो तो वाक्य ही नहीं बन सकता।

"बंध्या अपने पुत्र को खिला रही है।" यहाँ 'पुत्रवतीत्व' बंध्या का धर्म नहीं। परन्तु 'बंध्या अपना मुँह धो रही है' ठीक है क्योंकि मुँह रखना बंध्या का धर्म है। अतः जितने विधेय हैं वे सब उद्देश्य के धर्मों में से किसी धर्म को बताते हैं। कभी-कभी उद्देश्य और विधेय में अनन्यत्व भी होता है जैसे "चार दो और दो के जोड़ के बराबर है।" यहाँ उद्देश्य 'चार' है और विधेय दो और दो का जोड़। परन्तु यदि गम्भीर विचार से देखा जाय तो चार का एक धर्म ही बताने का यत्न किया गया है। यह भी कह सकते थे कि 'चार तीन और एक के बराबर होते हैं।' यदि विधेय उद्देश्य से सर्वथा इतर होता है तो उसको कोई नहीं मानता। जैसे कोई कहे कि "चार दस और पाँच के योग के बराबर होते हैं।" यह है अतस्मिँस्तद्बुद्धिः। अर्थात् चार में पन्द्रह के धर्मों की कल्पना कर ली गई।

आपका आक्षेप है कि हमारा बौद्धिक यंत्र विचार करने में तत्व के साथ किसी न किसी धर्म का सम्बन्ध कर देता है। यदि वही धर्म सम्बन्ध किये जायँ जो उसमें विद्यमान हैं, तो हानि क्या? हानि तो तब होगी जब अन्य धर्मी से धर्म लाकर अन्य धर्मी में लगा दिये जायँ। यदि आप कहें कि यह धर्म तत्व के नहीं तो क्या यह अतत्व के धर्म हैं? फिर तो आपका अतत्व भी नाम का ही अतत्व रहा। वस्तुतः तत्व हो गया, अपितु तत्व से भी बढ़ कर। आपका तत्व तो शून्यत्व को प्राप्त हो गया और अतत्व सब कुछ हो गया। यदि आप कहें कि तत्व तो केवल सत्ता मात्र है। उसमें कोई धर्म नहीं। तो यह भी आपकी कल्पना ही है। यदि कहते "ब्रह्म ब्रह्म एव" (ब्रह्म ब्रह्म है) तो वाक्य निष्फल होता। यदि कह दिया कि 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म' तो ब्रह्म में सत्यता, ज्ञान तथा अनन्तता आदि धर्म मानने पड़े, क्यों? इसलिये कि यह ब्रह्म के धर्म हैं। यह 'अतस्मिंस्तद्बुद्धि' कैसी? यदि कहते कि ब्रह्म बड़ा मोटा है, दस गज़ लम्बा है इत्यादि तो यह अध्यास होता। यदि कोई कहे कि हम तो उनको भी काना कहेंगे जिनके दो आँखें हैं क्योंकि

केवल दो ही आँखें तो हैं दस बीस नहीं। तो उसकी इच्छा। उसकी दृष्टि में समस्त संसार काना है क्योंकि उसने काने के लक्षण ऐसे कर रक्खे हैं और वह इसको अपना दुर्भाग्य बताता है कि संसार में उसे कोई ऐसा नहीं दृष्टिगोचर होता जो काना न हो।

यह ठीक है कि हम अल्पज्ञ हैं। हमारा बौद्धिक यंत्र भी टार्च के समान एक समय में एक अंश का ही बोध कराता है। सम्पूर्ण तत्व का नहीं। यदि हम सर्वज्ञ होते तो बौद्धिक यन्त्र की आवश्यकता न होती। परन्तु उस टार्च से मिथ्या रूप दीखता हो यह नहीं है। क्योंकि मिथ्यात्व के निर्णय के लिये भी तो सत्य का ज्ञान चाहिये। अन्यथा तुलना कैसे होगी? हमारा बौद्धिक यन्त्र ऐसी टार्च है जो कहीं तो प्रकाश डालता है और कहीं अर्द्ध प्रकाश (Penumbra)। प्रकाश क्षेत्र में पड़ी हुई चीज़ को हम 'निश्चय' या सम्यक् ज्ञान कहते हैं। 'अर्द्ध प्रकाश' में पड़ी हुई चीज़ को हम 'सन्देह' कहते हैं, और थोड़ा सा टार्च का कोण बदल देने से अर्द्ध प्रकाश को प्रकाश क्षेत्र में ला सकते हैं। सन्देह-निवारण का यही अर्थ है। प्रकाश, अर्द्ध प्रकाश, अंधकार (सत्, रज, तम) यह तीन अवस्थायें हैं। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का यही अर्थ है। ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है सन्दिग्ध वस्तुयें ज्ञात कोटि में और अज्ञात वस्तुयें सन्दिग्ध कोटि में आती जाती हैं। यदि आप सभी को अध्यास कहेंगे तो अध्यास का लक्षण भी न कर सकेंगे। क्योंकि यदि गाय के सींग नहीं होते तो गधे के सिर पर उनका अध्यास भी नहीं हो सकता। (इसका कुछ वर्णन चतुःसूत्री की समालोचना में आया है। वहाँ देखना चाहिये)।

अध्याय दूसरा

पर और अपर ब्रह्म

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।

(यजुर्वेद ३१।३)

अर्थः—इस ब्रह्म की इतनी महिमा हुई। ब्रह्म तो इससे भी बड़ा है। उसके एक पाद में सब भूत (जगत्) आ जाते हैं। और इसके अमृत रूपी तीन पाद द्यौ में अर्थात् इस लोक के परे हैं।

तात्पर्य यह है कि सृष्टि को देख कर ब्रह्म का पार नहीं पा सकते। यह सृष्टि तो ब्रह्म की छोटी सी कृति है। ब्रह्म का पूर्णस्वरूप तो इससे भी परे है। अपार है, अनन्त है, और अचिन्त्य भी।

यह उपचार की भाषा है गणित की नहीं। अर्थात् इसका यह तात्पर्य नहीं कि ईश्वर के चार पाद हैं एक पाद सृष्टि है और तीन पाद द्यौलोक। ईश्वर अखंड है। उसके पाद कैसे? वैदिक साहित्य की शैली है कि पूर्ण वस्तु को चतुष्पात् कह कर पुकारा जाय। मनुष्य जब ईश्वर की महिमा पर विचार करता है तो केवल थोड़े से ही अंश को देख सकता है। परन्तु इस थोड़े से अंश में ही ईश्वर की अनन्तता की झलक आ जाती है। जैसे अपने घर के आँगन में खड़े होकर भी अनन्त क्षितिज की भावना हो जाती है। जिस क्षितिज को हम देखते हैं वह सान्त है। परन्तु उसकी सान्तता ही अनन्तता की द्योतक है। मुण्डक उपनिषद में इस सान्तता के भाव को अपरा विद्या और अनन्तता के भाव को परा विद्या कहा गया है।

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति पराचैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

(मुण्डक उप० १।१।५)

वेद-वेदांग अपराविद्या हैं क्योंकि इस लोक की बात बताते हैं। सान्त हैं। अनन्त नहीं। परन्तु इनकी सान्तता ईश्वर की अनन्तता की बोधक है। यह नहीं कि वेदादि शास्त्र अविद्यावत् हों और उनसे ईश्वर के जानने में सहायता न मिले। केवल कहना इतना है कि ईश्वर को इतना ही मत समझो। वह इससे कहीं बड़ा है। उसकी जो कृतियाँ हमको दीखती हैं वह सान्त हैं अपर हैं। वह पर है। महान् है।

परन्तु याद रखना चाहिये कि विद्या या ज्ञान के दो भेद हुये एक पर और दूसरा अपर। ईश्वर के दो भेद नहीं। वह तो एक ही है। जितने शास्त्र हैं वे सब परिमित हैं और मनुष्य की बुद्धि की अपेक्षा से हैं। फूल में रंग भी है और आकार भी। रंग रसायन का विषय है और आकार गणित का। परन्तु फूल के दो भेद नहीं कर सकते एक रासायनिक फूल और दूसरा गणित-सम्बन्धी फूल। केवल रासायनिक फूल तो संसार में देखने में नहीं आता। न केवल गणित सम्बन्धी ही।

जब हम 'विश्वाभूतानि' अर्थात् ईश्वररचित सृष्टि पर विचार करते हैं तो ईश्वर के अनेकों गुणों का बोध होता है। परन्तु जब हमारी बुद्धि सान्तता को पार करके आगे बढ़ना चाहती है तो कहना पड़ता है 'नेति नेति'। अर्थात् इतना ही नहीं। तब तो कालिदास के शब्दों में उपासक के मुँह से अनायास निकल उठता है :—

तितीर्षुर्दुस्तरं मोहा दुडुपेनास्मि सागरम्।

अरे मैं तो छोटी सी डोंगी से महान् समुद्र को तैरना चाहता हूँ। यह है रहस्य ईश्वर की सगुणता और निर्गुणता का। ईश्वर

सगुण भी है और निर्गुण भी। जब गुणों का विचार किया तो सगुण विचार हुआ और जब अचिन्तनीयता का विचार किया तो 'नेति नेति' कहने से निर्गुण विचार हो गया।

परन्तु भूल से लोगों ने पर ज्ञान और अपर ज्ञान के स्थान में परब्रह्म और अपरब्रह्म दो भेद कर दिये। इसी प्रकार सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म। मानो ब्रह्म दो प्रकार का है। या दो ब्रह्म हैं। मेरी समझ में यह अन्याय था और इसने अनेकों भ्रान्तियाँ उत्पन्न कर दीं। हमने न केवल धार्मिक क्षेत्र में किन्तु दार्शनिक क्षेत्र में भी दो सम्प्रदाय उत्पन्न कर दिये। और मनुष्य जीवन को अकारण ही अशान्त बना दिया।

यहाँ हम इसका प्रभाव केवल शांकर-भाष्य पर देखना चाहते हैं। शांकर-मत में ब्रह्म के दो भेद हैं। एक तो परब्रह्म जो सर्वथा निर्गुण है। यह सत्ता मात्र है। और दूसरा अपरब्रह्म जो माया की उपाधि के कारण बन जाता है। इसका नाम ईश्वर है। अर्थात् ईश्वर ब्रह्म का एक निचला स्वरूप है जो माया के कारण हो जाता है। यह माया ब्रह्म को किस प्रकार अपने उच्च स्थल से गिरा देती है यह एक अलग प्रश्न है। हम यहाँ केवल एक बात पर विचार करना चाहते हैं वह यह कि क्या परब्रह्म और अपरब्रह्म का भेद जो शांकर-भाष्य में सर्वत्र ओत-प्रोत है बादरायण के वेदान्त सूत्रों में भी है और क्या उपनिषद भी उसकी पुष्टि करती हैं।

वेदान्त का आरम्भ 'ब्रह्मजिज्ञासा' से होता है अर्थात् वेदान्त-दर्शन सबका सब ब्रह्मजिज्ञासा का निरूपण करता है। यहाँ यह प्रश्न नहीं उठाया गया कि जिस ब्रह्म की जिज्ञासा है वह अपरब्रह्म है या परब्रह्म। दूसरे और तीसरे सूत्रों में ब्रह्म के लक्षण दिये हैं। जन्माद्यस्यतः अर्थात् ब्रह्म वह है जिससे सृष्टि उत्पन्न स्थित और विलीन होती है और 'शास्त्र-योनित्वात्' जो शास्त्र अर्थात् ज्ञान के स्रोत की योनि है। शांकर-भाष्य में तो यह अपर-ब्रह्म हुआ। परब्रह्म न तो सृष्टि को उत्पन्न करता न

शास्त्र आदि के बखेड़े में पड़ता। समस्त वेदान्त सूत्रों में कोई एक भी ऐसा शब्द नहीं जिससे पता चल सके कि ब्रह्म दो प्रकार का है परब्रह्म और अपरब्रह्म। कहीं कहीं 'पर' शब्द तो आया है (परात् तु तच्छ्रुतेः, २।३।४१) जिसका अर्थ ब्रह्म है। परन्तु उससे विभाग का द्योतन नहीं होता। यदि बादरायण दो प्रकार का ब्रह्म मानते होते तो आरम्भ में ही अपरब्रह्म का लक्षण न करते। या स्पष्ट कह देते।

यदि आप कहें कि अपरब्रह्म तो वास्तविक ब्रह्म नहीं। माया की उपाधि से अध्यस्त ब्रह्म है जैसे रज्जु का सर्प। तो दो प्रश्न उठते हैं। प्रथम तो ब्रह्म-जिज्ञासु को अध्यस्त ब्रह्म के बताने से क्या लाभ? और बादरायण ने यह क्यों किया? जल के प्यासे को मृगतृष्णिका की ओर संकेत कर देना या तो धोखा है या उपहास। दूसरे अतात्विक अध्यस्त ब्रह्म सृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकता। जैसे सीप की चाँदी का कोई कड़ा नहीं बनवा सकता, न मृगतृष्णिका के जल की बरफ़ जमाई जा सकती है। पहले परिणाम होकर फिर विवर्त हो सकता है। जैसे सन की रस्सी बनाई, वह साँप प्रतीत होने लगी। या जल की बर्फ़ जमाई। वह दूर से रुई प्रतीत होने लगी। परन्तु पहले विवर्त हो और फिर गुण-परिणाम इसका तो कोई दृष्टान्त ही नहीं मिलता। यदि ऐसा हो तो उसे विवर्त न कहेंगे। रस्सी का साँप बच्चे उत्पन्न नहीं करता। न बिल खोदता है, न किसी को काटता है, न चूहों को खा सकता है।

केवल एक दृष्टान्त दिया जा सकता है। वह है स्वप्न का। स्वप्न में देखे हुये जल की स्वयं बर्फ़ भी बन सकती है और उससे स्वप्न की प्यास भी बुझाई जा सकती है। परन्तु यह दृष्टान्त ठीक नहीं। स्वप्न में जागरित के देखे हुये जल, जागरित में देखे हुये जल से बर्फ़ बनना और जागरित अनुभूत प्यास का बुझना, इन सब की स्मृतियाँ ही तो रहती हैं। स्वप्न का देखा हुआ जल स्वप्न में लगी हुई प्यास को नहीं बुझाता। वस्तुतः वास्तविक प्यास को वास्तविक जल ने जागरित में बुझाया था उसकी स्मृति मात्र है।

दूसरे अध्याय के पहले पाद के छठे सूत्र के भाष्य में श्री शंकर स्वामी लिखते :—

दृश्यते हि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः   विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः । अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम् ।

अर्थात् लोक में देखा जाता है कि पुरुष आदि चेतन से विलक्षण केश, नख आदि की उत्पति होती है और अचेतन गोबर आदि से बिच्छू आदि की ।

महाँश्चायं ---------- स्वभावविप्रकर्षः पुरुषादीनां केशनखादीनां च स्वरूपादि भेदात् ।

अर्थात् इतना बड़ा परिणाम हो जाता है कि पुरुष के शरीर से विचित्र-विचित्र रंग रूप वाले केश नख आदि उत्पन्न हो जाते हैं । इसी प्रकार ब्रह्म से विचित्र सृष्टि उत्पन्न होती है ।

यहाँ प्रश्न यह है कि क्या यह भाषा विवर्तवाद की है, या सांख्य के परिणामवाद की ? पुनः यदि परब्रह्म सृष्टि का उपादान माना जाता तो यह कहना ठीक था कि चेतन ब्रह्म से अचेतन सृष्टि उत्पन्न हो गई । अपरब्रह्म के तो दो भाग हैं । एक चेतन ब्रह्म और दूसरी जड़ माया । अपर ब्रह्म के चेतनत्व से तो आप सृष्टि की रचना मानते नहीं । माया रूपी जड़त्व से मानते हैं । फिर तो आपकी युक्ति संगति नहीं खाती । हाँ यदि माया का अर्थ सांख्य का प्रधान मानों जैसा श्वेताश्वतर उपनिषद में है :—

मायां तु प्रकृतिं विद्यात् ।

(४।१०)

तो ठीक है । परन्तु उस दशा में परब्रह्म और अपरब्रह्म का प्रश्न उठ जायगा । इसी पाद के ९वें सूत्र में

अपीतिरेव हि न संभवेद् यदि कारणे कार्यं ——————— ।

(शां० भा० २।१।६ पृष्ठ १६०)

अर्थात् प्रलय में भी कार्य्य अपने धर्म से कारण में लय नहीं होता। यहाँ भी वही बात है। अर्थात् यदि यहाँ परब्रह्म को माना जाय तो आपकी युक्ति का कुछ अर्थ है अन्यथा नहीं। इससे अपरब्रह्म अर्थात् निचले ईश्वर की कल्पना मान कर शां० स्वा० स्वयं अपनी बात को सूत्रों के आधार पर निबाह नहीं सकते।

'क्षीरवद् हि' और 'देवादिवदपि' लोके (वेदान्त २।१।२४-२५) के भाष्य में भी शंकर स्वामी ने संसार को मिथ्या या आभासवत् नहीं माना। दूध से दही बनना विवर्त का दृष्टान्त तो है नहीं। इसी प्रकार

यथा लोके देवाः पितर ऋषय इत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किंचिद्बाह्यं साधनमैश्वर्य विशेष योगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि च रथादीनि च निर्मिमाणा ` मंत्रार्थवादेतिहास-पुराण प्रामाण्यात्। (शां० भा० २।१।२५ पृष्ठ २११)

देव ऋषि आदि बिना किसी की सहायता के मन्त्र के बल से राज-भवन आदि बना देते हैं।

यहाँ क्या शां० स्वा० देवों के* बनाये हुये राजभवनों को जादू के भवन समझते हैं? यदि नहीं तो यह दृष्टान्त व्यर्थ ही हुआ। यहाँ तो असत्य सृष्टि की ओर संकेत नहीं प्रतीत होता।

वेदान्त १।४।२६ (परिणामात्) से भी यही बात प्रकट होती है।

तीसरे अध्याय के दूसरे पाद में कई सूत्रों के शांकर-भाष्य से यह

*नोट—यहाँ 'लोके' शब्द से स्पष्ट है कि देवों से ऋषि देवता आदि अभीष्ट नहीं है। क्योंकि यह तो लोक की बात नहीं। अलौकिक बात है। अग्नि, वायु आदि भौतिक देवों की तो हो भी सकती है। सांख्य के गुण परिणाम का यह अच्छा दृष्टान्त है।

प्रतीत होता है कि परब्रह्म सर्वथा निर्गुण है। अर्थात् उसमें कोई गुण नहीं है। जैसे :—

(१) न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि।

(वे० ३।२।११)

इसका छेद शांकर-मत में इस प्रकार है :—

स्थानतोऽपि परस्य उभय लिंगं न, सर्वत्र हि।

'न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिंगत्वमुपपद्यते। न ह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादि विशेषोपेतं तद् विपरीत चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात्।' (शां० भा० ३।२।११ पृष्ठ ३५६)

परब्रह्म में स्वतः ही उभय लिंगत्व नहीं हो सकता। यह नहीं हो सकता कि एक वस्तु ही स्वतः रूप आदि विशेषता वाली भी हो और इसके विपरीत भी हो।

अस्तु तर्हि स्थानतः पृथिव्यादि उपाधि योगादिति। तदपि नोपपद्यते। न ह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति। न हि स्वच्छः सन् स्फटिकोऽलक्ताद्युपाधियोगाद-स्वच्छो भवति भ्रममात्रत्वादस्वच्छताभिनिवेशस्य। उपाधीनां चाविद्या प्रत्युपस्थापितत्वात्। अतश्चान्यतरलिंगपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद् विपरीतं। सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषुवाक्येषु। 'अशब्दमस्पर्शम रूपमव्ययम्' (क० ३।१५। मुक्तिको० २।७२) इत्येवमादिष्वपास्त-समस्तविशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते। (शां० भा० ३।२।११ पृष्ठ ३५६)

यदि स्वतः उभयलिंग न हो तो क्या पृथिवी आदि की उपाधि के कारण होता है? नहीं। उपाधियाँ किसी के स्वभाव को नहीं बदल सकतीं। स्फटिक लाख की उपाधि से मैला नहीं हो जाता। मैलापन भ्रम मात्र है। उपाधियाँ तो अविद्या के द्वारा स्थापित होती हैं। इस

लिये चाहे अन्यथा प्रतीति होगी तो भी ब्रह्म तो सब विशेषणों से रहित निर्विकल्प ही है। यही उपनिषदों ने माना है।

इससे सिद्ध है कि ब्रह्म न सगुण है न सगुण हो सकता है। परब्रह्म उपाधि भेद से भी अपरब्रह्म नहीं हो सकता।

श्री रामानुजाचार्य ने इस सूत्र का छेद भी अन्यथा किया है:—

न स्थानतोऽपि परस्य, उभयलिंग सर्वत्र हि।

अर्थात् शं० स्वा० अर्द्धविराम लगाते हैं उभयलिंग के पश्चात। और उभयलिंगत्व का प्रतिषेध करते हैं। रा० स्वा० लगाते हैं उभय-लिंग से पहले। और उभयलिंगत्व को स्वीकार करते हैं। 'उभयलिंग' का अर्थ भी दोनों आचार्य भिन्न भिन्न ही करते हैं। शंकर स्वामी उभय लिंग का अर्थ लेते हैं 'सविशेषत्व और अविशेषत्व'। रामा-नुजाचार्य लेते हैं 'निरस्तनिखिलदोषत्व कल्याणगुणाकरत्व लक्षणो-पेतम्' अर्थात् ब्रह्म में बुरे गुणों का अभाव और अच्छे गुणों का भाव है। जैसे 'अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर् विशोको विजिघत्सोपिपासः' और 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः'। (छा० ८।१।५)

दोनों आचार्यों द्वारा उद्धृत उपनिषद् वचनों को मिलाने से शङ्कर-स्वामी के अपरब्रह्म का तो लवलेश भी नहीं रहता। हाँ रामानुजाचार्य कथित उभयलिंगत्व सिद्ध हो जाता है क्योंकि ब्रह्म शुभ-गुण सहित (सगुण) और अशुभ-गुण रहित (निर्गुण) है। दो ब्रह्म (परब्रह्म और अपरब्रह्म) नहीं। स्वतः भी नहीं और उपाधि से भी नहीं। ब्रह्म एक ही है अर्थात् परब्रह्म। हाँ उसको दो प्रकार से सोच सकते हैं, उपस्थित-गुणों के सहित और अनुपस्थित अवगुणों से रहित।

(२) प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः।

(वेदान्त ३।२।२२)

इस सूत्र का शाब्दिक अर्थ तो इतना ही है कि 'प्रसंग में केवल इतने का ही प्रतिषेध है।'

'केवल इतने का' (एतावत्वं) का क्या अर्थ है ?

उपनिषद में 'नेति नेति' आया है (बृह० २।३।६) 'नेति' का अर्थ है 'इतना नहीं'। इसके सम्बन्ध में प्रश्न है।

शंकर स्वामी कहते हैं :—

न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवादप्रसङ्गात्। किंचिद्धि प्रतिषिध्यते यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः।

(शां० भा० ३।२।२२ पृष्ठ ३६४)

अर्थात् परब्रह्म और अपरब्रह्म दोनों का प्रतिषेध तो हो नहीं सकता। अन्यथा शून्यवाद सिद्ध हो जायगा। कुछ लोग 'नेति नेति' से यह समझते हैं कि उपनिषद् ब्रह्म के अस्तित्व को ही अस्वीकार करती है। यह बात नहीं। यहाँ परमार्थ के स्वीकार और अपरमार्थ का प्रतिषेध किया गया है।

श्री रामानुजाचार्य ने 'नेति' का अर्थ लिया है 'इयत्ता नहीं'। अर्थात् कोई कहे कि ब्रह्म इतना ही है। यह नहीं। ब्रह्म तो अनन्त है।

ये ब्रह्मणो विशेषा प्रकृतास्तद्विशिष्टतया ब्रह्मणः प्रतीयमानेयत्ता नेति नेति (बृ० २।३।६) इति प्रतिषिध्यते।

(रा० भा० ३।२।२२)

यहाँ भी दोनों भाष्यों के अर्थों में भेद होते हुये भी परब्रह्म और अपरब्रह्म दो ब्रह्म सिद्ध नहीं होते।

(३) मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्।

(वे० ३।२।३)

यहाँ यह बताया गया है कि स्वप्न की सृष्टि माया मात्र है। वेदान्त दर्शन में 'माया' शब्द केवल इसी स्थान पर आया है। शांकर भाष्य में तो प्रायः हर पृष्ठ पर मिलेगा। 'माया' के बिना तो शं० स्वा० की लेखनी भी नहीं उठती। यहाँ शं० स्वा० ने माया का अर्थ परमार्थ-शून्य किया है :—

मायैव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति ।

रामानुजाचार्य कहते हैं 'मायाशब्दो ह्याश्चर्यवाची' ।

अर्थात् स्वप्न की सृष्टि आश्चर्यमय है ।

'माया' शब्द के संस्कृत साहित्य में दोनों अर्थ ही मिलते हैं । परन्तु यहाँ हमको शं० स्वा० का अर्थ ठीक जँचता है । क्योंकि स्वप्न की सृष्टि और जागरित की सृष्टि की तुलना की गई है । परन्तु इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है । अर्थात् स्वप्न माया मात्र है न कि जागरित । यदि जागरित को मायामात्र न मानो तो अपरब्रह्म के लिये स्थान ही नहीं रहता । क्योंकि माया की उपाधि से ही तो ब्रह्म ईश्वर के पद तक उतारा जाता है । इस सूत्र की समस्त व्याख्या पढ़ जाइये और स्पष्ट हो जायगा कि यह सृष्टि मात्र परमार्थतः सत्य है । स्वप्न ही माया है ।

अब चौथे अध्याय के दूसरे, तीसरे तथा चौथे पाद को लीजिये । इनमें जीवनमुक्ति तथा मुक्ति का वर्णन है । अर्थात् मुक्त जीव का मुक्ति के पहले और उपरान्त क्या होता है ।

यहाँ भी शं० स्वा० ने बिना सूत्रों के आधार के दो भाग कर दिये । एक वह आत्मा जो अपरब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुए और दूसरे वह आत्मा जो परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हुये । व्यास-सूत्रों से ऐसा गन्ध नहीं मिलता और न उपनिषदों के उद्धरणों में ही ऐसा ज्ञात होता है । परब्रह्म माया की उपाधि से अपरब्रह्म हो भी जाय परन्तु मुक्ति तो तभी होगी जब अविद्या हटेगी । अविद्या हटने पर अपरब्रह्म का ज्ञान होना और परब्रह्म का ज्ञान न होना क्या अर्थ रखता है ।

दूसरे पाद के १२-१४ सूत्रों में शं० स्वा० ने निरूपण किया है कि

न तदस्ति यदुक्तं परब्रह्मविदोऽपि देहादस्त्युत्क्रान्तिरुत्क्रान्ति प्रतिषेधस्य देह्यपादानत्वात् इति ।

(शां० भा० ४।२।१२ पृष्ठ ४८४-४८५)

अर्थः—परब्रह्म को पहचानने वाले भी देह को छोड़ते हैं ऐसी बात नहीं। देही के साथ अपादान विभक्ति है देह के साथ नहीं (शारीरात् न तु शरीरात्)। अतः देही से प्राणों की उत्क्रान्ति का निषेध है, (यतः शारीरादात्मन एष उत्क्रान्तिप्रतिषेधः प्राणानां न शरीरात् —शां० भा० ४।२।१२ पृष्ठ ४८४)

यह हुआ पूर्व पक्ष। इसका उत्तर देते हैं :-

देहापादानैव सा प्रतिषिद्धाभवति, देहादुत्क्रान्तिः प्राणा न देहिनः।

अर्थात् देह के साथ अपादान का भाव मान कर ही निषेध किया है।

न च ब्रह्मविदः सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य प्रक्षीणकामकर्मण उत्क्रान्तिर्गतिर्वोपपद्यते निमित्ताभावात्।

(शां० भा० ४।२।१३ पृष्ठ ४८५)

अर्थः—जो ब्रह्मज्ञानी हैं, जिनमें कामनायें नहीं रहतीं उनकी उत्क्रान्ति या गति का कोई कारण नहीं अतः उनकी उत्क्रान्ति नहीं होती।

यहाँ यह तो कहा जा सकता है कि ब्रह्मज्ञान इसी शरीर में हो सकता है जिसको जीवन्मुक्ति कहते हैं, परन्तु यह कैसे हो सकता है कि शरीर से कभी वियोग न हो।

इसी प्रकार चौथे अध्याय के चौथे पाद के ७वें सूत्र में बादरायण का मत प्रदर्शित करते हुए श्री शां० स्वा० लिखते हैं।

एवमपि पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि व्यवहारापेक्षयापूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्या प्रत्याख्यानादविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते।

(शां० भा० ४।४।७ पृष्ठ ५०६)

यद्यपि यह मान लिया गया है कि आत्मा का स्वरूप पारमार्थिक रूप से चैतन्य मात्र है फिर भी व्यवहार की अपेक्षा से ब्रह्म सम्बन्धी ऐश्वर्य का भी खंडन नहीं किया। यह कोई विरोध नहीं है।

यहाँ 'व्यवहारापेक्षा' अपनी ओर से मिलानी पड़ी। न सूत्र में है न उपनिषद् के वाक्यों में।

परन्तु जब शं० स्वा० परब्रह्म और अपरब्रह्म मान चुके तो जहाँ कहीं उनके सिद्धान्तों से और सूत्रों या उपनिषद् के वाक्यों से मेल न खाता हो वहाँ एक ही उपाय है अर्थात् 'व्यवहारापेक्षा' ऐसा कह दिया जाय। इन सूत्रों के शांकर भाष्य पर अन्य भाष्यकारों ने आपत्ति उठाई है। यद्यपि इस स्थान पर यह मीमांसा नहीं की जा सकती कि कौन भाष्यकार किस अंश तक ठीक है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शं० स्वा० का परब्रह्म और अपरब्रह्म दो भेद करना सबको खटकता है।

तीसरा अध्याय

शांकरचतुःसूत्री

श्री स्वामी शंकराचार्य जी ने वेदान्त दर्शन का जो भाष्य किया है उसके आरम्भ के भाग को चतुःसूत्री कहते हैं। क्योंकि यह पहले चार सूत्रों के भाष्य के अन्तर्गत है। इस चतुःसूत्री में भाष्यकार ने अपने मत की मुख्य रूप से रूपरेखा दी है। इसलिये चतुःसूत्री को समस्त शांकर-भाष्य का सार कहना चाहिये। बादरायण-कृत चार सूत्रों के शब्दों से तो शांकर-मत का पता नहीं चलता। वे सूत्र ये हैं :—

(१) *अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*—अब इसलिये ब्रह्म जानने की इच्छा है।

(२) *जन्माद्यस्य यतः*—ब्रह्म वह है जिससे जगत् का जन्म, स्थिति तथा प्रलय होती है।

(३) *शास्त्रयोनित्वात्*—वह ब्रह्म शास्त्र की योनि है अर्थात् वेद ब्रह्म से ही आविर्भूत हुये हैं।

(४) *तत्तु समन्वयात्*—ब्रह्म-कृत जगत् और ब्रह्म-प्रदत्त वेद में परस्पर समन्वय है। अर्थात् शास्त्र में कोई चीज़ नहीं जो सृष्टि-क्रम के विरुद्ध हो। सृष्टि से शास्त्र का और शास्त्र से सृष्टि का बोध होता है। दोनों को ब्रह्म की रचना कहना चाहिये। शास्त्र को शब्द-रचना और जगत् को अर्थ-रचना।

शांकर-चतुःसूत्री को शांकर वेदान्त की भूमिका या नींव कहना चाहिये। श्री शंकराचार्य जी ने पहले इस भूमिका को दृढ़ किया है। फिर अपने मत का विशाल भवन बनाया है। इसलिये जो कोई शांकर-वेदान्त की मीमांसा करना चाहे पहले उसे चतुःसूत्री की भली भाँति मीमांसा करनी चाहिये। प्रश्न तीन हैं।

(१) क्या चतुःसूत्री में जो प्रतिपत्तियाँ स्थापित की गई हैं वे निर्दोष हैं ?

(२) क्या उनकी सिद्धि उपनिषदों से होती है ?

(३) क्या बादरायण के इन चार सूत्रों के शब्दों से यह प्रतिपत्तियाँ निकलती हैं ?

ये प्रतिपत्तियाँ क्या हैं ? उन्हीं के शब्दों में पहली प्रतिपत्ति सुनिये :—

१—पहली प्रतिपत्ति ।

अस्मत् प्रत्ययगोचरे विषयिणि चिदात्मके युष्मत्प्रत्यय गोचरस्यविषयस्य तद्धर्माणां चाध्यासः । तद् विपर्ययेण विषयिण-स्तद्धर्माणां च विषयेऽध्यासो मिथ्येति भवितुं युक्तम् । तथाप्यन्यो-न्यस्मिन्न न्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतराविवेकेन, अत्यन्त विविक्तयोर्धर्मधर्मिणोर्मिथ्याज्ञान निमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेदमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः ।

(उपोद्घात पृष्ठ १)

अहंभाव के द्योतक चेतन विषयी में तुम-भाव के द्योतक विषय का तथा उसके धर्मों का अध्यास मिथ्या है। और विषय में विषयी तथा उसके धर्मों का भी अध्यास मिथ्या है। परन्तु लोक में ऐसा नैसर्गिक व्यवहार है कि विवेक-शून्यता के कारण मिथ्या ज्ञान द्वारा एक दूसरे में एक दूसरे के धर्मों का अध्यास करके ही 'मैं यह हूँ', 'यह मेरा है' आदि आदि का प्रयोग किया जाता है। इस प्रतिपत्ति को स्पष्ट करने की आव-श्यकता है। संसार में दो चीज़ें हैं। एक विषयी और दूसरा विषय। 'मैं सूर्य्य को देखता हूँ।' इस व्यापार में 'सूर्य्य' विषय है और 'मैं' विषयी। मैं 'अस्मत् प्रत्ययगोचर' हूँ और सूर्य्य 'युष्मत्-प्रत्ययगोचर' इसी प्रकार अन्य पदार्थों को लेना चाहिये। एक ज्ञाता और दूसरा ज्ञेय। श्री शंकरा चार्य जी का कहना है कि विषयी और विषय अलग-अलग हैं। वे

'अत्यन्त विविक्त' हैं। उनमें तथा उनके धर्मों में कोई समानता नहीं। परन्तु अज्ञानवश लोग विषय में विषयी का और विषयी में विषय का अध्यास अर्थात् मिथ्या कल्पना कर लेते हैं। 'मैं सूर्य्य को देखता हूँ' इस व्यापार में मैं और मेरे धर्म, सूर्य्य और सूर्य्य के धर्मों से सर्वथा भिन्न हैं। मैं सूर्य्य नहीं, सूर्य्य मैं नहीं। सूर्य्य के धर्म मेरे नहीं। मेरे धर्म सूर्य्य के धर्म नहीं। फिर मुझमें और सूर्य्य में ऐसा सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है कि मैं सूर्य्य को देखता हूँ। अब यदि मैं यह कहता हूँ कि मैं सूर्य्य को देखता हूँ तो मानों मैं अपने में सूर्य्य का अध्यास (मिथ्या कल्पना) कर रहा हूँ।

इस प्रतिपत्ति के अनुसार जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध है।

श्री शंकराचार्य जी ने गौड़पादीय निम्नकारिका का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है :—

अन्तः स्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम्।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते ॥

जाग्रद् दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादिति हेतुः। स्वप्न दृश्य भाववदिति दृष्टान्तः।

अर्थात् जागते में जो दृश्य देखते हैं वे मिथ्या हैं। हेतु यह है कि वे दिखाई पड़ते हैं। जैसे स्वप्न में देखी हुई चीजें मिथ्या होती हैं इस प्रकार जागते में भी जो दृश्य दिखाई पड़ते हैं, वे मिथ्या हैं।

इससे क्या परिणाम निकला ? सुनिये :—

(१) तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते।

(पृष्ठ २)

(२) न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते। (पृष्ठ ३)

(३) तस्मादविद्यावद् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च। (पृष्ठ ३)

अर्थात् (१) इस अध्यास को ही पण्डित लोग अविद्या कहते हैं।

(२) जब तक देह में आत्मभाव का अध्यास न किया जाय कोई व्यापार नहीं हो सकता। (३) इसलिये प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा शास्त्र अविद्यावत् विषय ही हैं।

(४) **एवमयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व प्रवर्तकः सर्वलोक प्रत्यक्षः।** (पृष्ठ ४)

यह अध्यास मिथ्या है परन्तु अनादि अनन्त और नैसर्गिक है। इसी से मनुष्य की कर्तृत्व और भोक्तृत्व में प्रवृत्ति है। यह सब लोक में प्रत्यक्ष है।

यह तो स्पष्ट ही है कि बादरायण के सूत्रों के किसी शब्द से इस प्रतिपत्ति की झलक तक नहीं मिलती। परन्तु हमारा कहना है कि इस प्रतिपत्ति की स्थापना में जो हेतु दिये गये हैं वे सब अयुक्त (गलत) हैं।

श्री शंकराचार्य इस हेतु से आरम्भ करते हैं :—

युष्मदस्मत् प्रत्ययगोचर योर्विषय विषयिणोस्तमः प्रकाशवद् विरुद्धस्वभावयोरितरेतरभावानुपपत्तौ सिद्धायां तद्धर्माणामपि सुतरामितरेतरभावानुपपत्तिरिति।

अर्थात् जैसे अँधेरे और उजाले में परस्पर विरोध है। उसी प्रकार विषय और विषयी में भी विरोध है और उनके धर्मों में भी विरोध है। इसलिये एक दूसरे के भावों की अनुपपत्ति है।

यहाँ सब से भारी भूल है दृष्टान्त चुनने में। अन्धकार और उजाला परस्पर विरोधी हैं परन्तु विषय और विषयी परस्पर विरोधी नहीं। भिन्नता और विरोध में भेद है। यह ठीक है कि विषय विषयी नहीं और विषयी विषय नहीं। परन्तु यह कहना ठीक नहीं कि जैसे अन्धकार और उजाले में विरोध है ऐसा ही विषय और विषयी में भी विरोध है। उजाला और प्रकाश मिल नहीं सकते। प्रकाश आते ही उजाला भाग जाता है परन्तु विषय आते ही विषयी नहीं भाग जाता यह ठीक है कि मैं सूर्य्य नहीं। परन्तु मेरा और सूर्य्य का परस्पर विरोध

भी नहीं है। यदि प्रकाश न हो तो अँधेरा होगा। यदि अँधेरा न हो तो उजाला होगा। अंधेरा और उजाला साथ नहीं रह सकते परन्तु यदि विषयी न हो तो विषय न रहेगा और यदि विषय न हो तो विषयी न रहेगा। विषय और विषयी का परस्पर सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध अँधेरे और उजाले में नहीं है। सम्बन्ध दो भिन्न वस्तुओं में ही हो सकता है। एक ही वस्तु हो तो सम्बन्ध कैसा? सम्बन्ध न अध्यास है न अध्यास-जन्य।

जब भूमिका की सबसे पहली ईंट ही निर्बल है तो आगे दीवार कैसे ठहरेगी?

अब अध्यास को लीजिये। अध्यास के जो लक्षण श्री शंकराचार्य जी ने किये हैं उन सब को हम माने लेते हैं, क्योंकि उनके कथनानुसार

सर्वथापि त्वन्यस्यान्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति । (पृष्ठ २)

अर्थात् अध्यास के विषय में कोई सिद्धान्त क्यों न ठीक हों एक बात तो सब लक्षणों में समान है अर्थात् अन्य में अन्य के धर्मों की प्रतीति। जैसे सीपी में चाँदी की प्रतीति।

परन्तु मुख्य प्रश्न तो यह है कि क्या अध्यास 'अनादि,' 'अनन्त' और 'नैसर्गिक' है जैसे श्री शंकर स्वामी ने माना है। हमको सीपी में चाँदी की भी प्रतीति होती है और सीपी की भी। सांप हमको सांप भी प्रतीत होता है और रस्सी भी। रस्सी कभी रस्सी ही दृष्ट पड़ती है और कभी साँप भी। ऐसा व्यवहार अनादि, अनन्त और नैसर्गिक क्यों माना जावे? यदि यह व्यवहार अनादि और अनन्त है तो इसका अन्त न हो सकेगा और श्री शंकराचार्य जी का यह कथन सर्वथा अनुपयुक्त होगा कि

अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्या प्रतिपत्तये सर्वे-वेदान्ता आरभ्यन्ते। (पृष्ठ ४)

'अनन्त' का 'प्रहाण' कौन कर सकता है और वह भी नैसर्गिक

का। अग्नि की उष्णता अनादि, अनन्त और नैसर्गिक है। इसका तिरोभाव तो हो सकता है परन्तु 'प्रहाण' कैसे होगा? दूसरी बात यह है कि अनादि, अनन्त और नैसर्गिक व्यवहार में अध्यास की सिद्धि कैसे होगी? यह रस्सी में साँप की प्रतीति अनादि, अनन्त और नैसर्गिक व्यवहार हो तो यह कैसे सिद्ध होगा कि वस्तुतः रस्सी है साँप प्रतीत हो रही है। क्योंकि जब देखा उसको साँप ही देखा। संदेह तो तब होता जब वही चीज कभी रस्सी दृष्ट पड़ती और कभी साँप। यदि एक वस्तु सदा ही साँप दिखाई पड़ती है तो न तो संदेह के लिये कोई स्थल है न कौनसी ख्याति है इसकी खोज की आवश्यकता।

श्री शंकराचार्य जी ने 'अध्यास' विषय में लोक के दो अनुभव दिये हैं। एक :

'शुक्तिका हि रजतवदवभासते।' (पृष्ठ २)

सीपी चाँदी मालूम होती है। दूसरा

'एकश्चन्द्रः सद्वितीयवत्'। (पृष्ठ २)

एक चाँद के दो चाँद दिखाई पड़ते हैं।

क्या यह दोनों अनादि अनन्त और नैसर्गिक अध्यास के उदाहरण हैं? प्रायः तो सीपी सीपी ही मालूम होती है। यदि ऐसा न होता तो यह कह ही नहीं सकते थे कि वस्तुतः यह सीपी है चाँदी प्रतीत होती है। यदि चाँद सदा दो दिखाई देते तो कौन कहता कि वस्तुतः एक है दो प्रतीत होते हैं। 'सम्यक् ज्ञान' और 'प्रतीति' में क्या भेद है? अनादि, अनन्त और नैसर्गिक तो सम्यक् ज्ञान ही हो सकता है अध्यास नहीं।

इस पर शंकर स्वामी ने बड़ा प्रबल पूर्वपक्ष उठाया है।

"कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम्। सर्वो हि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति, युष्मत् प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि" इति। (पृष्ठ २)

प्रश्न करते हैं कि "अविषय में विषय का अध्यास कैसे हो सकता

है ? एक विषय में दूसरे विषय का अध्यास तो सभी मानते हैं। तुमने पहले ही कह दिया कि विषयी विषय से विरुद्ध है। अविषय है।"

प्रश्न बड़ा स्पष्ट है और प्रबल है, इसका उत्तर सर्वथा असंगत और निर्बल है, सुनिये।

(१) पहला उत्तर—

न तावदयमेकान्तेनाविषयः। अस्मत्प्रत्ययविषयत्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः। (पृष्ठ २)

आत्मा एकान्तेन (पूरा पूरा) अविषय नहीं है क्योंकि 'मैं हूँ' यह ज्ञान भी तो विषय हो गया। 'मैं हूँ' यह ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही है। यदि यह बात है तो विषय और विषयी का अंधेरे उजाले का विरोध कहाँ रहा ? वही विषयी भी है और विषय भी। 'मैं हूँ' इस बात को ज्ञान मुझको है। अर्थात् मैं ही विषय हूँ और मैं ही विषयी। क्या मुझमें 'अपनत्व' का ज्ञान भी अध्यास कहा जायगा ? यदि ऐसा हो तो अध्यास के लक्षण "अतस्मिंस्तद्बुद्धिः" न घट सकेंगे।

(२) दूसरा उत्तर और विचित्र है—

न चायमस्ति नियमः पुरोऽवस्थित एव विषयेविषयान्तरमध्यसितव्यमिति। अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति। (पृष्ठ २)

"यह नियम नहीं है कि जो विषय उपस्थित हो उसी में दूसरे विषय का अध्यास किया जाय। आकाश अप्रत्यक्ष है फिर भी मूर्ख लोग उसमें रंग का अध्यास कर लेते हैं"।

यह दृष्टान्त सर्वथा दूषित है। जिस आकाश को मूर्ख लोग नीला नीला कहते हैं वह दार्शनिक आकाश तत्व नहीं है। और न उसका रंग नीला है। जो 'आकाश' तत्व व्यापक है उसको तो लोग जानते भी नहीं। वह तो प्रत्यक्ष आकाश को ही नीला या मैला कहते हैं। एक शब्द के कई अर्थ होते हैं, दार्शनिक 'आकाश' और बोलचाल के

'आकाश' शब्द को एक दूसरे के अर्थ में लेना और उसको दृष्टान्त बना कर उससे एक प्रपत्ति की स्थापना करना सर्वथा असंगत है।

यदि यह कहा जाय कि अनादित्व, अनन्तत्व और नैसर्गिकत्व अध्यस्त उदाहरणों के लिये नहीं किन्तु आत्मा के अध्यासरूपी व्यापार के सामान्य स्वभाव के लिये है। जैसे आँख का काम है देखना। यह है नैसर्गिक। परन्तु किस विशेष वस्तु को देखना। यह दूसरी बात है। तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि यदि अध्यास आत्मा का अनादि, अनन्त और नैसर्गिक व्यापार हो तो उसका 'प्रहाण' कैसे हो सकेगा ?

विषयी और विषय या ज्ञाता और ज्ञेय के सम्बन्ध मात्र को अन्धकार और प्रकाश से तुलना करना पहली मौलिक भूल है और उस सब को 'अध्यास' मानना दूसरी। वस्तुतः अन्धकार में कोई कभी प्रकाश का अध्यास नहीं करता और न प्रकाश में अन्धकार का।

श्री शंकराचार्य जी ने अध्यास के लक्षण किये हैं :—

स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः। (पृष्ठ १)

इस लक्षण को युष्मत् प्रत्यय और अस्मत् प्रत्यय में कैसे घटा सकते हैं। पूर्वदृष्ट (पहले देखा हुआ) क्या है और 'परत्र' क्या ? अध्यास के लिये तीन चीजें चाहिये। (१) पूर्वदृष्ट (२) उसकी स्मृति (३) परत्र। मैंने पहले वास्तविक साँप देखा—यह हुआ पूर्वदृष्ट। मुझमें उसकी स्मृति रही। दूसरा, रस्सी 'परत्र' है जिसमें पूर्व दृष्ट स्मृति के कारण साँप का अध्यास हुआ। वर्तमान जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के लिए आवश्यक है कि पहले कभी वास्तविक जगत् देखा गया हो। फिर उसकी स्मृति रही हो और उसके लिए 'परत्र' भी चाहिये। यदि वास्तविक जगत् पहले देखा था तो उस जगत् को सत्य मानना पड़ेगा। या आगे चलते जाओ तो अनवस्था दोष आयेगा। सारांश यह है कि यदि "सत्य" और "अनृत" का "मिथुनीकरण" नैसर्गिक लोकव्यवहार है तो इसके नैसर्गिकत्व का कोई कारण होना चाहिये। यदि कहो कि नैसर्गिक तो नैसर्गिक ही है। इसका कारण कैसा ? तो

इससे छुटकारे का क्या अर्थ ? और नैसर्गिक व्यवहार को मिथ्या कहने का क्या अर्थ ? यदि नैसर्गिक है तो 'सत्यानृत' का मिथुनीकरण नहीं। और यदि मिथुनीकरण है तो नैसर्गिक नहीं। यदि जल का जलत्व नैसर्गिक है तो इसमें सत्य और अनृत का मेल कैसा ?

प्रबल आक्षेपों का निर्बल उत्तर देखना हो तो शांकर चतुःसुत्री में मिलेगा। प्रश्न करते हैं—

"कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि चेति"। (पृष्ठ २)

अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण और शास्त्र अविद्यावत् कैसे ?

बड़ा कठिन प्रश्न है। यदि प्रत्यक्ष है तो अविद्यावत् नहीं और यदि अविद्यावत् है तो प्रत्यक्ष नहीं।

इसका उत्तर सुनिये :—

(१) देहेन्द्रियादिष्वहंममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाण प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। (पृष्ठ २)

(२) नहीन्द्रियाण्यनुपादाय प्रत्यक्षादिव्यवहारः संभवति। (पृष्ठ २)

(३) नचाधिष्ठानमन्तरेणेन्द्रियाणां व्यवहारः संभवति। (पृष्ठ २)

(४) नचानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद्व्याप्रियते। (पृष्ठ ३)

(५) न चैतस्मिन् सर्वस्मिन्नसति असङ्गस्यात्मनः प्रमातृत्वमुपपद्यते। (पृष्ठ ३)

(६) न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति। (पृष्ठ ३)

अर्थ :—

(१) देह, इन्द्रिय आदि में 'अहं' 'मम' भाव नहीं है। इसलिये वह प्रमाता नहीं, जो प्रमाता नहीं उसकी प्रमाण में प्रवृत्ति नहीं।

(२) बिना इन्द्रियों के प्रत्यक्षादि व्यवहार नहीं होते।

(३) बिना अधिष्ठान के इन्द्रियों का व्यवहार संभव नहीं।

(४) जिस देह में आत्मा का अध्यास न हो वह देह व्यापार नहीं कर सकती।

(५) और यदि यह सब न हो तो असंगत आत्मा प्रमाता कैसे होगा ?

(६) प्रमाता के बिना प्रमाण की प्रवृत्ति कैसे होगी ?

पहली तीन बातें ठीक हैं, परन्तु चौथी ठीक नहीं, और उसके द्वारा जो उत्तर दिया गया है वह भी ठीक नहीं।

यह ठीक है कि देह और इन्द्रियाँ प्रमाता नहीं हो सकतीं। परन्तु प्रमाता का साधन तो हो सकती हैं। इसीलिये तो कहा है कि बिना इन्द्रियों के प्रत्यक्ष आदि व्यवहार नहीं हो सकते। उपकरण को अध्यास कहना भूल है। अध्यास के किसी लक्षण से इन्द्रियों का उपकरण होना अध्यास नहीं कहा जा सकता। 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' पर विचार कीजिये, और फिर उसे प्रत्यक्ष पर घटाइये। 'पूर्वदृष्ट' क्या है ? उसकी स्मृति क्या है ? और परत्र क्या है ? थोड़े से विचार से पता चल जायगा कि यह कहना नितान्त अयुक्त है कि "न चानध्यस्तात्मभावेन देहेन कश्चिद् व्याप्रियते"। यह तो कह सकते हैं कि बिना इन्द्रियों की सहायता के आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अर्थात् इन्द्रियाँ उपकरण हैं।

यदि 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' पर विचार करें तो प्रश्न यह है कि प्रत्यक्षादि व्यवहार में क्या इन्द्रियाँ अपने को आत्मा समझती हैं ? या आत्मा अपने को इन्द्रिय समझता है ? यह तो स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ अपने को आत्मा नहीं समझतीं। उनमें स्वयं बुद्धि ही नहीं जो अपने में किसी अन्य वस्तु की बुद्धि कर सकें। आत्मा भी अपने को इन्द्रिय नहीं समझता। यदि ऐसा होता तो अन्धे को भी रूप का अवभास होता क्योंकि आँखें न होते हुए भी वह अपने में आँखों की बुद्धि कर सकता। वस्तुतः बात यह है कि जिसको शंकर स्वामी अध्यास बताते हैं वह

आत्मा द्वारा आँख का प्रयोग है। दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के दूसरे सूत्र 'प्रवृत्तेश्च' का भाष्य करते हुए शंकर स्वामी ने जो वर्णन किया है वह अधिक ठीक है। वह लिखते हैं:—

"न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिर्दृश्यते न तस्य सेति। भवतु तस्यैव सा। सा तु चेतनाद्भवतीति ब्रूमः। तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्।" (पृष्ठ २२२)

यहाँ यह बताया गया है कि आत्मा 'प्रवर्त्तक' है, देह आदि इन्द्रियाँ 'प्रवर्त्य' हैं। और उनमें 'प्रवृत्ति' आत्मा द्वारा आती है। परन्तु यहाँ अध्यास नहीं है। इस सम्बन्ध में शंकराचार्यजी ने एक प्रबल पूर्वपक्ष खड़ा किया है "एकत्वात् प्रवर्त्याभावे प्रवर्तकत्वानुपपत्तिरिति।" अर्थात् शांकर मत में सब जगत् मिथ्या और केवल आत्मा ही सत्य है तो बिना 'प्रवर्त्य' के प्रवर्तकत्व कैसा और प्रवृत्ति कैसी? यह ऐसा प्रश्न है कि उससे अध्यासवाद का समस्त प्रासाद धराशायी हो गया है। शंकराचार्यजी ने इसका जो उत्तर दिया है वह सर्वथा खोखला है। वे कहते हैं:—

'न। अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनासकृत् प्रत्युक्तत्वात्। (पृष्ठ २२३)

अर्थात् अविद्या के कारण नामरूप का मायाजाल बन जाता है।

यह प्रश्न का उत्तर नहीं है अपितु प्रश्न को और जटिल बना दिया है। यहाँ अविद्या और माया दोनों शब्द मिले-जुले प्रयुक्त किये गये हैं। यह उत्तर नहीं किन्तु उत्तराभास है। ऐसे उत्तर तो किसी प्रश्न के दिये जा सकते हैं। पूर्वपक्ष जैसा का तैसा उपस्थित रहता है।

अब शंकर स्वामी-प्रदत्त अध्यास के कुछ उदाहरणों की विवेचना कीजिये।

(१) पुत्रभार्यादिषु विकलेषु सकलेषु वा अहमेव विकलः सकलो वेति बाह्यधर्मानात्मन्यध्यस्यति। (पृष्ठ ३)

अर्थात् पुत्र भाई आदि के सुख-दुःख से आत्मा स्वयं अपने को सुखी या दुःखी मान लेता है यह अपने में बाह्य धर्मों का अध्यास है।

(२) तथा देहधर्मान्—स्थूलोऽहं, कृशोऽहं। गौरोऽहं, तिष्ठामि, गच्छामि, लङ्घयामि चेति। (पृष्ठ ३)

अर्थात् देह स्थूल है। दुबली है, गोरी है। आत्मा न स्थूल है न कृश न गौर। परन्तु जब आत्मा कहता है कि मैं स्थूल हूँ तो देह के स्थूलता धर्म का अपने में अध्यास करता है। इसी प्रकार देह चलती है न कि आत्मा।

(३) तथेन्द्रियधर्मान—मूकः, काणः, क्लीबः, बधिरः, अन्धोऽहमिति। (पृष्ठ ३)

अर्थात् आत्मा काना नहीं, आँख कानी है परन्तु आत्मा कानेपन का अपने में अध्यास करता है।

(४) तथाऽन्तःकरणधर्मान् कामसंकल्पविचिकित्साध्यवसायादीन्। (पृष्ठ ३)

अर्थात् काम संकल्प आदि अन्तःकरण के धर्म हैं। आत्मा अपने में उनका अध्यास करता है।

यहाँ चार उदाहरण दिये गये। पहले उदाहरण में कुछ-कुछ अध्यास की झलक है, परन्तु कुछ-कुछ ही। पुत्र भार्या आदि के दुःख से हम दुःखी अवश्य होते हैं। परन्तु यह दुःख सम्बन्ध के कारण है। यदि पुत्र के पेट में पीड़ा हो तो कोई पिता यह नहीं कहता कि मेरे पेट में पीड़ा है। वह उसके पेट की पीड़ा का अपने पेट में अध्यास कभी नहीं करता। उसको दुःख पेट की पीड़ा का नहीं किन्तु पुत्र के पुत्रत्व से जो लाभ होता उसके नाश का है। पुत्र का दुःख भिन्न है और पिता का भिन्न। यह "अतस्मिंस्तद्बुद्धिः" का लँगड़ा दृष्टान्त है।

'मैं स्थूल हूँ' का स्पष्ट अर्थ यह है कि मेरा शरीर स्थूल है। किसी को शरीर की स्थूलता में अपनी स्थूलता की बुद्धि नहीं होती। 'मैं जाता हूँ' यह उदाहरण तो सर्वथा अनुपयुक्त है। यदि रेल में बैठा हुआ मैं

प्रयाग से काशी गया तो यह कहना कि वास्तव में रेल गई मैं प्रयाग में ही बैठा रहा। मैंने रेल के जाने का अपने में अध्यास कर लिया स्पष्टतया हास्यप्रद है। इसी प्रकार 'अन्धोहम्' का अर्थ यही है कि मेरे आँखें नहीं। नेत्र तो अन्धे नहीं होते। जब नेत्र नष्ट हो जाते हैं तो मनुष्य अन्धा हो जाता है।

यहाँ शायद आप पूछेंगे कि यदि अध्यास कोई चीज़ ही नहीं तो भिन्न-भिन्न ख्यातियों का प्रश्न क्यों उठा ?

हम कहते हैं कि हम अध्यास का खण्डन नहीं करते। अध्यास होता है। परन्तु वह उत्सर्ग नहीं अपवाद मात्र है। हम प्रायः रस्सी को रस्सी ही देखते हैं। कभी-कभी रस्सी में साँप की प्रतीति हो जाती है। इस प्रतीति का कारण ढूँढने के लिये ही ख्यातियों की शरण ली जाती है। इन प्रतीतियों को अपवाद मानने से समस्त जगत् मिथ्या सिद्ध नहीं होता। और यदि इनको उत्सर्ग माना जावे तो अध्यास के लक्षण नहीं बनते जैसा हम ऊपर कह चुके हैं। यदि कभी साँप का सत्यज्ञान हुआ ही नहीं तो रस्सी में साँप की प्रतीति भी नहीं हो सकती।

शंकराचार्यजी जगत् के समस्त व्यवहार को अध्यास परक कहते हैं यही भूल है। उन्होंने मनुष्यों के व्यापार की पशुओं के व्यापार से तुलना करके मनुष्यों को पशुओं के समान अविवेकी बताया है। परन्तु दृष्टान्त के लिये पशुओं का वह व्यवहार चुना है जिसको अविवेक नहीं विवेक ही कहना पड़ेगा। वे लिखते हैं :—

"पश्वादिभिश्चाविशेषात्। यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां सम्बन्धे सति शब्दादिविज्ञाने प्रतिकूले जाते ततो निवर्तन्ते अनुकूले च प्रवर्तन्ते यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखीभवन्ति, एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्तन्ते, अतः समानः पश्वादिभिः

पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेक पुरःसरः प्रत्यक्षादिव्यवहारः। तत्सामान्यदर्शनाद्व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादिव्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते।" (पृष्ठ ३)

यहाँ श्री शंकराचार्यजी को सिद्ध करना है कि जैसे पशु मूर्ख होते हैं उसी के समान पुरुष भी मूर्ख होते हैं। इनकी युक्ति सुनिये। बड़ी विचित्र है। पशु यदि किसी को लकड़ी हाथ में लिये देखे तो भागता है कि कहीं मार न दे। और हरी घास हाथ में देखे तो उसकी ओर आता है। ऐसा ही व्यवहार पुरुष करते हैं। पशु अविवेकी है अतः पुरुष भी उसके समान व्यवहार करके अविवेकी हो गये। यहाँ पशुओं की अविवेकता दिखाने के लिये जो व्यापार चुना गया वह सर्वथा विवेक-सूचक है। लकड़ी से डरना और घास से प्रेम करना पशुओं के विवेक का द्योतक है अविवेक का नहीं। यह तो पशुओं को बड़े अनुभव से प्राप्त हुआ है। और यदि पुरुष भी इसका अनुकरण करते हैं तो विवेकी हैं अविवेकी नहीं। हाँ, यदि पशुओं के किसी विवेकशून्य व्यवहार का दृष्टान्त दिया जाता तो ठीक था। पशु भी किसी-किसी बात में भ्रान्त हो जाते हैं और मनुष्य भी। इससे उनके समस्त व्यवहारों को भ्रम-युक्त कहकर समस्त संसार को अविद्यावत् कहना ठीक नहीं।

फिर शास्त्र को अविद्यावत् कहना तो और भी बड़ी भूल है। इन्द्र-जाल की पुस्तक और शांकर-भाष्य को किसी प्रकार भी एक कोटि में नहीं रख सके। पहली चीज़ नितान्त धोखा है। दूसरी में तो कहीं-कहीं भूल हो सकती है। इसी प्रकार उपनिषद् आदि भी शास्त्र हैं और उनकी कथा या व्याख्या जगत् के व्यापार के अन्तर्गत हैं। वे अविद्यावत् कैसे हो सकती है!

इस सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है। रस्सी में साँप की प्रतीति क्यों होती है? हाथी की प्रतीति क्यों नहीं होती? मृगतृष्णिका में जल की ही प्रतीति क्यों होती है रेलगाड़ी की प्रतीति क्यों नहीं होती

जिस प्रकार रस्सी में साँप का अभाव है उसी प्रकार हाथी का भी अभाव है। ठूँठ को भ्रम से चोर तो समझ सकते हैं परन्तु सूरज नहीं समझ सकते।

हम यह नहीं कहते कि संसार में धोखा नहीं है। धोखा है। परन्तु उस धोखे की बुनियाद भी सत्य पर है। लोग दूध में पानी मिला देते हैं जिससे लेने वालों को पानी में दूध-बुद्धि हो जाय, परन्तु दूध में मक्खी डाल कर कोई धोखा नहीं दे सकता। क्या कारण है कि मनुष्य पानी में तो दूध-बुद्धि कर लेता है और मक्खी में नहीं। संसार की समस्त प्रकार की भ्रान्तियों को इकट्ठा करके उनके कारण का विचार कीजिये। और पता चल जायगा कि सभी प्रत्यक्षादि व्यापार अध्यास नहीं हैं और न यह 'अविद्यावत्' हैं। अविद्या के दो कारण होते हैं :—

इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषाच्चाविद्या।

पहला इन्द्रिय-दोष, दूसरा संस्कार-दोष। यदि ब्रह्म ही केवल सत्य है और समस्त जगत् मिथ्या, तो न इन्द्रिय-दोष का प्रश्न उठता है न संस्कार-दोष का। न उपनिषदों के किसी वाक्य से इसकी सिद्धि होती है।

ब्रह्म की जिज्ञासा का आरम्भ अध्यास से करके श्री शंकराचार्यजी ने बादरायण के साथ न्याय नहीं किया। और न और लोगों के साथ। यदि बादरायण के जगत् और शास्त्र दोनों को अविद्यावत् मानते तो ब्रह्म की जिज्ञासा का उन्हीं से आरम्भ न करते जैसा कि उन्होंने दूसरे और तीसरे सूत्रों में किया है। सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म के लिये यह कोई प्रशंसा की बात नहीं है कि उससे अविद्यावत् जगत् का जन्म, स्थिति अथवा प्रलय हो और उसको अविद्यावत् शास्त्र की योनि कहा जाय। शंकर स्वामी स्वयं भी तो कहते हैं :—

"तद्ब्रह्म सर्वज्ञं सर्वशक्ति जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणं वेदान्तशास्त्रादेवावगम्यते।"

(शां० भा० १।१।४ आरम्भिक वाक्य)

सर्वज्ञ ब्रह्म अविद्यावत् जगत् का कारण कैसा ? और अविद्यावत् शास्त्र (चाहे वह वेद हो या वेदान्त) उसकी प्राप्ति कैसी ?

दूसरी प्रतिपत्ति

(१) न च तेषां कर्तृस्वरूप प्रतिपादन परतावसीयते, 'तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि क्रियाकारकफलनिराकरणश्रुतेः ।

(१।१।४ पृष्ठ ११)

श्रुति के वाक्यों से कर्त्ता के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं होता। अर्थात् ब्रह्म को कर्त्ता नहीं माना। बृहदारण्यक २।४।१३ में कहा है कि 'किसको कौन देखे'। इससे क्रिया, कारक और फल तीनों का खण्डन होता है।

(२) यत् तु हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति, नैष दोषः, हेयोपादेयशून्य ब्रह्मात्मतावगमादेव सर्वक्लेशप्रहाणात् पुरुषार्थसिद्धेः ।

(१।१।४ पृष्ठ ११)

यदि कहो कि हेय और उपादेय के बिना उपदेश का कुछ अर्थ नहीं तो यह ठीक नहीं क्योंकि यदि यह ज्ञान हो जाय कि ब्रह्मात्मा न हेय है न उपादेय है तो इसी ज्ञान से सब क्लेश दूर हो जाते हैं और यही पुरुषार्थ की सिद्धि है।

अर्थात् श्रुति में यह उपदेश नहीं है कि यह छोड़ो और यह करो। केवल यह ज्ञान हो जाना चाहिये कि ब्रह्म न हेय है न उपादेय।

(३) न तु तथा ब्रह्मण उपासनाविधिशेषत्वं संभवति एकत्वे हेयोपादेयशून्यतया क्रियाकारकादिद्वैतविज्ञानोपमर्दोपपत्तेः। न ह्येकत्वविज्ञानेनोन्मथितस्य द्वैतविज्ञानस्य पुनः संभवोऽस्ति येनोपासनाविधिशेषत्वं ब्रह्मणः प्रतिपद्येत। (१।१।४ पृष्ठ ११)

जब द्वैत ज्ञान नष्ट हो गया तो हेय, उपादेय, क्रिया, कारक आदि का प्रश्न ही नहीं रहता। उस समय ब्रह्म की उपासना भी सम्भव नहीं रहती। जब एक बार एकत्व का ज्ञान हो गया और द्वैत-ज्ञान नष्ट हो

गया तो ब्रह्म की उपासना के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता। इससे कर्म और उपासना दोनों का खण्डन हो गया।

(४) **'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'** । (छा० ८।१२।१) **इति प्रियाप्रियस्पर्शनप्रतिषाधाच्चोदनालक्षणधर्मकार्यत्वं मोक्षाख्यस्याशरीरत्वस्य प्रतिषिध्यत इति गम्यते।** (१।१।४ पृष्ठ १४)

शरीर रहने पर प्रिय और अप्रिय भी स्पर्श नहीं करते। ऐसा छान्दोग्य में लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि शरीर रहित मोक्ष के लिये वेदोक्त कर्म का प्रतिषेध है।

यहाँ वेदोक्त कर्म की अवहेलना की गई है।

(५) **अशरीरत्वमेव धर्मकार्यमितिचेन्न, तस्य स्वाभाविकत्वात्।** (१।१।४ पृष्ठ १४)

यदि कोई ऊपर के आक्षेप का समाधान करता हुआ कहे कि धर्म के कारण ही शरीर से छुटकारा मिलता है तो यह ठीक नहीं। शरीर का छुटकारा तो स्वाभाविक है।

(६) **अतएवानुष्ठेयकर्मफलविलक्षणं मोक्षाख्यमशरीरत्वं सिद्धम्।** (१।१।४ पृष्ठ १४)

इसलिये सिद्ध है कि शरीर से छुटकारा पाकर जो मोक्ष मिलता है वह अनुष्ठेय कर्म के फल से सर्वथा विलक्षण है।

(७) अब कहते हैं कि ब्रह्म ही मोक्ष है :—

इदं तु पारमार्थिकं कूटस्थनित्यं, व्योमवत्सर्वव्यापि, सर्वविक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयंज्योतिः स्वभावम्। यत्र धर्माधर्मौ सह कार्येण कालत्रयं च नोपवर्तेते। तदेतद् अशरीरत्वं मोक्षाख्यम्। (१।१।४ पृष्ठ १४)

"यह जो पारमार्थिक कूटस्थ नित्य, आकाशवत् सर्वव्यापी, सर्वविकार रहित, नित्यतृप्त, अवयवशून्य, स्वयं ज्योति स्वभाव है जहाँ

धर्म अधर्म कार्य के साथ तीनों कालों में स्पर्श नहीं करते वही यह अशरीरत्व मोक्ष है।

यहाँ मोक्ष को नित्य और अनादि माना है क्योंकि कालत्रय अर्थात् तीनों कालों का संस्पर्श वहाँ नहीं होता। यह स्वभाव है। यह मान कर ही शंकराचार्य जी मोक्ष के लिये कर्म का निषेध करते हैं।

(८) यह युक्ति (युक्ति-आभास) विचारणीय है।

अतस्तद्ब्रह्म यस्येयं जिज्ञासा प्रस्तुता, तद् यदिकर्त्तव्यशेषत्वे नोपदिश्येत, तेन च कर्तव्येन साध्यश्चेनमोक्षोऽभ्युपगम्येत, अनित्य एव स्यात्। (१।१।४ पृष्ठ १२)

जिस ब्रह्म की जिज्ञासा वेदान्त दर्शन में की गई है वह यदि किसी कर्तव्य विशेष का फल हो और उसी के द्वारा उसकी प्राप्ति मानी जावे तो वह ब्रह्म अनित्य हो जावे।

इस युक्ति का स्पष्टीकरण आवश्यक है। शंकरजी पहले सिद्ध कर चुके हैं कि धर्म करने से सुख होता है। सुख अनित्य होता है। मोक्ष नित्य है इसलिये उसके लिये धर्मानुष्ठान की आवश्यकता नहीं। यदि ब्रह्म भी कर्मानुष्ठान का फल हो तो वह अनित्य हो जायगा। अब तक तो हमने आठ उद्धरण किये हैं वे सब इसी बात को सिद्ध करने के लिये हैं कि पूर्व मीमांसा में जो कर्म का विधान बताया गया और वेद का सार्थकत्व इसी पर आधारित किया गया वह ठीक नहीं है।

इस युक्ति में दोष निकालना कठिन भी हो तो भी किसी मनुष्य को यह युक्ति ठीक प्रतीत नहीं होती। प्रथम तो मोक्ष में और ब्रह्म में भेद है। मोक्ष जीव की अवस्था विशेष है ब्रह्म जीव नहीं। चौथे अध्याय में कई स्थानों पर मुक्त जीवों का वर्णन शंकरजी ने भी इस प्रकार किया है मानो वह मोक्ष और ब्रह्म में भेद करते हैं 'अभावं बादरिराह ह्येवम्' (४।४।१०) पर भाष्य करते हुए शंकरजी लिखते हैं :—

यदि मनसा शरीरेन्द्रियैश्च विहरेन् मनसेति विशेषणं न स्यात्। तस्मादभावः शरीरेन्द्रियाणां मोक्षे। (पृष्ठ ५०८)

'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते' (८।१८।५)

अर्थात् मुक्त पुरुष 'मन से' मनोरथों को देखता हुआ रमण करता है। इस पर शंकरजी कहते हैं कि यदि शरीर और इन्द्रियों का भी साथ अभीष्ट होता तो 'मनसा' ऐसा न कहते। इससे सिद्ध है कि मोक्ष में शरीर और इन्द्रियों का अभाव है। इससे सिद्ध है कि मुक्त जीव ब्रह्म नहीं। वह तो

"मनसा एतान् कामान् पश्यन् रमते।"

इस सूत्र की संगति चतुःसूत्री से नहीं लगती।

परन्तु युक्ति में दोष भी है। वह स्पष्ट है।

यह ठीक है कि धर्मानुष्ठान से जो सुख जीव को होता है वह नित्य नहीं। परन्तु जिस ब्रह्म के ज्ञान से वह सुख होता है उसकी नित्यता का बोध कैसे हो सकता है। धर्मानुष्ठान से ज्ञान होगा। वह ज्ञान होगा ब्रह्म का। यदि ज्ञान अनित्य हो तो ज्ञेय भी अनित्य हो ऐसा तो नियम नहीं है। ज्ञान ज्ञेय के आश्रित है ज्ञेय ज्ञान के आश्रित नहीं। 'ब्रह्म जिज्ञासा' में जिज्ञासु जीव है। ज्ञान अनित्य हो सकता है परन्तु जिज्ञासा अर्थात् ज्ञेय तो ब्रह्म है वह अनित्य कैसे होगा? २४ का ८ गुणा १९२ होता है। यह नित्य सचाई है। एक बालक जो इस सचाई को याद करता है कई बार भूल जाता है। वह ज्ञान अनित्य हुआ। परन्तु ज्ञान के अनित्य होने से ज्ञेय का अनित्य होना तो ठीक नहीं। यह युक्ति तो सर्वथा दोषयुक्त है। परन्तु इसको इतने वाक्यों के झुरड में डाल दिया गया है कि साधारणतया पढ़ने से वह दोष प्रतीत नहीं होता है। एक प्रकार की भूलभुलय्याँ हैं। जो बिना थोड़े परिश्रम के स्पष्ट नहीं हो सकतीं।

(९) इत्येवमाद्याः श्रुतयो ब्रह्मविद्यानन्तरं मोक्षं दर्शयन्त्यो मध्ये कार्यान्तरं वारयन्ति। (१।१।४ पृष्ठ १५)

यहाँ कुछ श्रुतियाँ देकर कहते हैं कि ब्रह्मविद्या की प्राप्ति पर ही मोक्ष हो जाती है। बीच में कुछ और कार्य की आवश्यकता नहीं पड़ती।

यह वाक्य अकेला तो कुछ हानि नहीं करता परन्तु जिस प्रसंग में इसका प्रयोग हुआ है वह अवश्य ही आपत्ति-जनक है। श्री शंकराचार्यजी का मुख्य अभिप्राय है धर्मानुष्ठान अर्थात् कर्मों की निःसारता दिखाना। प्रश्न यह है कि क्या धर्मानुष्ठान ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिये आवश्यक नहीं? फिर यदि ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हो गई तो क्या उसी क्षण से कर्त्तव्यों का अन्त हो गया? फिर जीव-मुक्ति सम्बन्धी सूत्रों का क्या बनेगा? क्योंकि ज्ञान होते ही मोक्ष और अशरीरत्व प्राप्त हो जायगा। इनके मत में ब्रह्मविद्या प्राप्ति का अर्थ ही यह है कि जीव में जीव-बुद्धि न रहकर ब्रह्म-बुद्धि प्राप्त हो जावे। तृतीय अध्याय के तृतीय पाद के ९वें सूत्र "व्याप्तेश्च समञ्जसम्" का भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्यजी ने स्वयं हमारे आक्षेप की पुष्टि की है और अपने मत का विरोध। वे लिखते हैं

"मिथ्याज्ञाननिवृत्तिः फलमिति चेत्। न। पुरुषार्थोपयोगानवगमात्"। (पृष्ठ ३८३)

अर्थात् यदि मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति ही फल हो तो पुरुषार्थ का क्या उपयोग होगा? अर्थात् मनुष्य को जब तक शरीर है अवश्य ही धर्मानुष्ठान करते रहना चाहिये।

शंकराचार्यजी का एक और हेत्वाभास सुनिये :—

न च तद्विज्ञानं कर्मणां प्रवर्तकं भवति प्रत्युत कर्माण्युच्छिनत्तीति वक्ष्यति "उपमर्दं च" (ब्र० सू० ३।४।१६)

(देखो शां० भा० ३।४।८, पृष्ठ ४३५)

शंकराचार्यजी कहते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान कर्मों का प्रवर्तक नहीं, किन्तु उच्छेदक है। अतः ज्ञान कर्म का साधक नहीं। यहाँ 'कर्म' को दो अर्थों में लिया गया है। जब हम कहते हैं कि अमुक वस्तु कर्म का

प्रवर्तक है तो इसका अर्थ होता है कि वह कर्म करने में प्रवृत्ति कराती है। इस अर्थ में ब्रह्मज्ञान कर्म का उच्छेदक नहीं। ब्रह्मज्ञानी संसार के उपकार में रत रहता है। निष्काम कर्म करता है। परन्तु जब हम कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान कर्म का उच्छेदक है तो वहाँ कर्म करने से तात्पर्य नहीं किन्तु कर्म का फल भोगने से है। "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" में कर्म शब्द कर्म करने का बोधक नहीं, कर्म के फलभोग का बोधक है। और "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" में कर्म से तात्पर्य है निष्काम कर्म करने से। इसलिये इस प्रकार की भूलभुलैयों से यह नहीं समझना चाहिये कि धर्मानुष्ठान श्रुति को अभीष्ट नहीं या धर्मानुष्ठान से ब्रह्मज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं।

(१०) न चेदं ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं संपद्रूपम्।
न चाध्यासरूपम्।
नापि विशिष्टक्रियायोगनिमित्तम्।
नाप्याज्यावेक्षणादिकर्मवत् कर्माङ्गसंस्काररूपम्।
संपदादिरूपे हि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेऽभ्युपगम्यमाने 'तत्त्वमसि' (छा०, ६।८।७)
'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १४।१०)
'अयमात्मा ब्रह्म' (बृ० २।५।१६)
इत्येवमादीनां वाक्यानां ब्रह्मात्मैकत्ववस्तुप्रतिपादनपरः पदसमन्वयः पीड्येत।

तस्मान्न संपदादिरूपं ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानम्।

(१।१।४ पृष्ठ १५,१६)

शंकराचार्यजी कहते हैं कि "ब्रह्म और आत्मा के एक होने का ज्ञान" जिसको मोक्ष कहते हैं न तो सम्पत है अर्थात् यह किसी धर्म आदि कर्मों से प्राप्त नहीं होती। न अध्यास है। न विशिष्ट क्रियायोग से प्राप्त होती है। न किसी कर्मांग का संस्कार है। क्योंकि यदि इसको

सम्पत् आदि माना जाय तो 'मैं ब्रह्म हूँ' आदि आदि श्रुतियों का समन्वय न हो सकेगा।

(११) अतो न पुरुषव्यापारतन्त्रा ब्रह्मविद्या। किं तर्हि प्रत्यक्षादि-प्रमाणविषयवस्तुज्ञानवद्वस्तुतन्त्रा। एवंभूतस्य ब्रह्मणस्त-ज्ज्ञानस्य च न कयाचिद्युक्त्या शक्यः कार्य्यानुप्रवेशः कल्पयितुम्।

इसलिये ब्रह्मविद्या पुरुष के व्यापार के आश्रित नहीं है। अपितु वस्तु-आश्रित है जैसे प्रत्यक्षादि विषय होते हैं। इसलिये इस प्रकार के ब्रह्म या उसके ज्ञान का किसी युक्ति से भी कार्य्य के साथ सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता।

श्री शंकराचार्यजी ने विभिन्न युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म का या "ब्रह्मज्ञान" का कार्य्य से कोई सम्बन्ध नहीं, और इससे वह धर्मानुष्ठान का खण्डन करते हैं। यह सब परिश्रम पूर्वमीमांसा के कर्मवाद के विरोध में है। परन्तु यह प्रतिपत्ति न तो वेदान्त के इन चार सूत्रों से सिद्ध होती है न उपनिषद् वाक्यों से।

"ब्रह्म का कार्य्य से सम्बन्ध नहीं" इसका क्या अर्थ? यदि कहो कि ब्रह्म कोई ऐसा कार्य्य नहीं करता कि जिससे उसे सुख दुःख हो तो ठीक है। परन्तु इसका प्रसंग नहीं। पुरुष क्रियाओं द्वारा ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं। जितना धर्मानुष्ठान है वह जीव के मल, विक्षेप और आवरणों को दूर करने के लिये हैं। इसलिये शंकराचार्यजी का प्रयत्न या तो निरर्थक है या प्रसंग-विरुद्ध।

श्री शंकराचार्यजी को 'कार्य्य' या 'कर्म' से कहाँ तक द्वेष है इसका उदाहरण नीचे के पदों से सुनिये :—

न च विदिक्रियाकर्मत्वेन कार्य्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि'। (केन० १।३)

इति विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधात्। (१।१।४, पृष्ठ १६)

"ब्रह्म विदि क्रिया का कर्म नहीं हो सकता क्योंकि केन उपनिषद् में लिखा है कि ब्रह्म विदित और अविदित दोनों से अलग है।" क्या अच्छी युक्ति है। यदि विदि क्रिया का कर्म न हुआ तो 'ज्ञा' क्रिया का हुआ। बात क्या हुई। स्वयं शंकराचार्यजी पहले सूत्र की व्याख्या में लिखते हैं।

"तत्र कर्मणि षष्ठी परिग्रहे सूत्रेणानुगतं भवति।"

जो समाधान 'ज्ञा' का दिया जा सकता है वही 'विदि' का भी हो सकता है। 'विदितात्' "अविदितात्' के स्थान में 'ज्ञातात्' और 'अज्ञातात्' कह सकते हैं। उपनिषद् में तो 'पूर्ण ज्ञान' या 'पूर्ण अज्ञान' से तात्पर्य था। परन्तु श्री शंकराचार्यजी ने उसको खींच कर अपनी युद्ध-स्थली में ला डाला। क्योंकि वे पूर्वमीमांसा का विरोध करने पर तुले हुए हैं।

(१२) तथोपास्तिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधोऽपि भवति। 'यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते' इत्यविषयत्वं ब्रह्मण उपन्यस्य 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" इति। (केन० १।४)

अविषयत्वे ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वानुपपत्तिरितिचेत्।
न। अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य॥

"इसी प्रकार उपासना-विधि का कर्मत्व भी ब्रह्म में नहीं, क्योंकि लिखा है कि वह वाणी का विषय नहीं। वाणी उससे कार्य्य करती है। इस प्रकार ब्रह्म को अविषय बता कर कहा गया है कि 'उसी को तुम ब्रह्म जानो' न कि उसको जिसकी जगत् उपासना करता है।"

इस पर आक्षेप उठाते हैं कि यदि ब्रह्म उपासना का भी विषय नहीं तो शास्त्र से उसकी प्राप्ति कैसी? इसका उत्तर देते हैं कि शास्त्र का काम तो यह है कि अविद्या के द्वारा हुए भेद-भाव को मिटा दे। वह प्रतिपत्ति भी न तो सूत्र से सिद्ध है न उपनिषद् के वचनों से। माना कि ब्रह्म के कल्पित स्वरूप का निराकरण ही शास्त्र का उद्देश्य हुआ, तो भी ब्रह्म की उपासना का खण्डन कहाँ हुआ?

(१३) अब शंकराचार्यजी 'मुक्ति की नित्यता' को हेतु बना कर कर्म का विरोध करते हैं :—

अतऽविद्याकल्पितसंसारित्वनिवर्तनेन नित्यमुक्तात्मस्वरूप-समर्पणान्न मोक्षस्यानित्यत्वदोषः ।

अर्थात् शास्त्र का उपदेश अविद्या-कल्पित संसार की निवृत्ति है। आत्मा नित्यमुक्त है ही। अतः मोक्ष भी नित्य ही हुआ। इसमें कोई दोष नहीं।

(१४) यस्य तूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं, वाचिकं, कायिकं वा कार्यमपेक्षत इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्। न हि दध्यादि विकार्यम्, उत्पाद्यं वा घटादि, नित्यं दृष्टं लोके। नचाप्यत्वेनापि कार्य्यापेक्षा, स्वात्मस्वरूपत्वे सत्यनाप्यत्वात्। स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेऽपि ब्रह्मणो नाप्यत्वं, सर्वगतत्वेन नित्याप्तस्वरूपत्वात् सर्वेणब्रह्मणः, आकाशस्येव। नापि संस्कार्यो मोक्षः, येन व्यापारमपेक्षेत, संस्कारो हि नाम संस्कार्यस्य गुणाधानेन वा स्याद्दोषापनयनेन वा। न तावद्-गुणाधानेन संभवति, अनाधेयातिशयब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य। नापि दोषापनयनेन, नित्यशुद्धब्रह्मस्वरूपत्वान्मोक्षस्य।

(१।४।४, पृष्ठ १६-१७)

यहाँ पाँच विकल्प उठाये गये।

(अ) यदि मोक्ष *उत्पाद्य* (पैदा की हुई) वस्तु है तो मानसिक, वाचिक या कायिक कार्य्य की आवश्यकता होगी। और मोक्ष अनित्य हो जायगा। जैसे घड़ा।

(आ) यदि *विकार्य* वस्तु है जैसे दही दूध का विकृत रूप है, तो भी मोक्ष अनित्य होगा।

(इ) यदि मोक्ष *आप्य* (प्राप्त होने वाली) वस्तु है तो भी कार्य की आवश्यकता नहीं क्योंकि ब्रह्म तो स्वात्मस्वरूप है। क्यों? स्वयं अपने ही को प्राप्त करने का क्या अर्थ?

(ई) यदि जीव-ब्रह्म में भेद भी हो तो भी कर्म की ज़रूरत नहीं क्योंकि जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है और उसकी प्राप्ति का प्रश्न नहीं उठता। इसी प्रकार ब्रह्म भी सर्वत्र व्याप्त है। व्याप्त की 'आप्यता' का क्या प्रश्न ?

(उ) यदि मोक्ष *संस्कार्य* है तब भी व्यापार की आवश्यकता नहीं क्योंकि संस्कार में या तो कोई गुण बढ़ाते हैं या कोई दोष दूर करते हैं। ब्रह्म के साथ यह दोनों नहीं हो सकते। ब्रह्म नित्य है। इसलिये मोक्ष भी नित्य है।

इन हेतुओं में कितनी भूल भुलैयाँ हैं ! श्री शंकराचार्यजी को अभीष्ट है कर्म का विरोध। इसके लिये पहले तो यह मान लिया कि मोक्ष नित्य (अनादि और अनन्त) है। इसके लिये लिख दिया।

'नित्यश्च मोक्षः सर्वैर्मोक्ष वादिभिरभ्युपगम्यते'

अर्थात् सभी मोक्षवादी मोक्ष को नित्य मानते हैं। यह कल्पना भी गलत थी। मोक्ष को चाहे लोग अनन्त भले ही मानें, अनादि मानने वाले तो बहुत कम होंगे। नित्य वस्तु अनादि और अनन्त दोनों होती हैं। केवल अनन्त को नित्य नहीं कह सकते। मोक्ष को अनन्त मानना उत्पाद्य, विकार्य या संस्कार्य तीनों विकल्पों से नहीं टकराता। रही 'आप्य' की बात। सो जो ब्रह्म को जीव मानते हैं उनका विरोध 'आप्य' से भले ही होता हो, भेद मानने वालों के लिये 'आप्य' का क्या विरोध है ? क्योंकि आप्य न केवल देश या काल की अपेक्षा से होता है किन्तु ज्ञान की अपेक्षा से भी। यद्यपि देश और काल की अपेक्षा से आकाश सब को आप्य है परन्तु ज्ञान की अपेक्षा से नहीं। यदि जीव और ब्रह्म भिन्न हैं तो ब्रह्म ज्ञान की अपेक्षा से आप्य है। प्राप्ति के लिये कार्य की अपेक्षा स्पष्ट ही है। ज्ञान बिना कर्म के संभव नहीं, यदि शांकर भाष्य को अविद्या के निराकरण और ज्ञान की प्राप्ति का साधन मान लिया जाय तो शांकर भाष्य की प्राप्ति और पढ़ने तथा समझने की

योग्यता पाने तक कितने व्यापारों की अपेक्षा होगी? फिर कर्म का तिरस्कार कैसा?

(१५) स्वात्मधर्म एव संस्तिरोभूतो मोक्षः क्रिययात्मनि संस्क्रियमाणेऽभिव्यज्यते, यथाऽऽदर्शे निघर्षणक्रियया संस्क्रियमाणे भास्वरत्वं धर्म इति चेत्। न, क्रियाश्रयत्वानुपपत्तेरात्मनः।

(१, १, ४, पृष्ठ १७)

अब कार्य-वाद का पोषक पूर्वपक्षी धर्म का दूसरा अर्थ करके कार्य्य के लिये स्थान तलाश करना चाहता है परन्तु शंकराचार्यजी उसको तिल भर स्थान देने को राजी नहीं। वह कहता है कि माना कि मोक्ष आत्मा का स्वात्मधर्म है जैसे दर्पण का सफ़ाई धर्म है। परन्तु जैसे दर्पण पर मैल आ जाता है तो उसे कपड़े से रगड़ते हैं इसी प्रकार आत्मा का मैल रगड़ने के लिये तो व्यापार की आवश्यकता* है।

---

*यन्नित्यं कर्म वैदिकमग्निहोत्रादि तत् तत् कार्यायैव भवति, ज्ञानस्य यत् कार्यं तदेवास्यापि कार्यमित्यर्थः।

(शां० भा० ४ । १ १६ पृष्ठ ४७५)

यहाँ अग्निहोत्रादि नित्यकर्म का वही फल माना है जो ज्ञान का। यह मुख्य प्रतिपत्ति के विरुद्ध है। इसी स्थल पर शङ्का उठाकर इसका समाधान करते हैं :—

शंका—ज्ञान कर्मणोर्विलक्षणकार्यत्वात् कार्यैकत्वानुपपत्तिः।

ज्ञान और कर्म के फलों में भेद हैं फिर दोनों का एक सा फल क्यों कहा?

समाधान—नैषदोषः। ज्वरमरणकार्य्ययोरपि दधिविषयो गुडमन्त्रसंयुक्तयोस्तृप्ति पुष्टि कार्य दर्शनात्, तद्वत् कर्मणोऽपि ज्ञान संयुक्तस्य मोक्ष कार्योपपत्तेः।

यह दोष नहीं। दही खाने से ज्वर हो जाता है और विषखाने से मृत्यु। परन्तु दही में गुड़ मिला दिया जाय तो तृप्ति हो जाती है। और

परन्तु शंकराचार्यजी कहते हैं कि इतना भी नहीं क्यों
क्रिया के आश्रय है ही नहीं और आगे चलिये :—

(१६) ननु देहाश्रयया स्नानाचमन यज्ञोपवीतादिक देही संस्क्रियमाणो दृष्टः । न : देहादि संहतस्यैवावि द्यमनः संस्क्रियमाणत्वात् । प्रत्यक्षं हि स्नान समवायित्वम् । तया देहाश्रयया तत्संहत एव कश्चिदा परिगृहीतः संस्क्रियत इति युक्तम् ।

प्रश्न है कि स्नान आचमन, यज्ञोपवीत आदि क्रिया भ शुद्धि के लिये होती हैं । शंकरजी कहते हैं कि वह तो दे शुद्धि के लिये हैं और इनसे वही देही शुद्ध होता है जिस कारण अपने को देह से संयुक्त समझ रक्खा है । औष मनुष्य कहता है कि मैं अब अच्छा हो गया । यह अध्या कारण है ।

आगे का वाक्य और भी प्रबल है :—

विष को मन्त्र के साथ (विशेष विधि के साथ) खाया जाय है । इसी प्रकार कर्म और ज्ञान के संयोग से मुक्ति हो सक

यहाँ कर्म की उपयोगिता बताई है । परन्तु चतुःसू खण्डन किया है । वहां तो केवल ज्ञान को ही मोक्ष का सा यदि केवल गुड़ से ही तृप्ति हो जाय तो दही में गुड़ कौन बिना अग्निहोत्रादि के केवल ज्ञान से ही मुक्ति हो जाय तो की आवश्यकता नहीं । परन्तु 'अग्निहोत्र' तो व्यास सूत्र है । उसका निराकरण कैसे हो सकता था ? यदि शंकर स्वा ही ज्ञान और कर्म का सहयोग मान लेते तो शारीरि उपनिषद्-भाष्यों में कई स्थानों पर जो उन्होंने कर्म का ख वह न करते ।

(१७) तस्माज्ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियया गन्धे मात्रस्याप्यनु प्रवेश इह नोपपद्यते।

अर्थात् ज्ञान को छोड़ कर क्रिया की गन्ध मात्र भी इस विषय में प्रवेश नहीं पा सकती।

कैसा गजब का विरोध है! 'गन्ध' शब्द को नोट कीजिए।

(१८) अब क्रिया का पक्षपाती कहता है।

ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया (१।१।४। पृ० १८)

अरे ज्ञान भी तो क्रिया ही है। शरीर की न सही, मन की।

इसका उत्तर शंकर स्वामी देते हैं।

न, वैलक्षण्यात्। (१।१।४। पृ० १८)

नहीं। बड़ा भेद है।

क्या भेद है? सुनिये।

(१९) ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं, पुरुषतन्त्रत्वात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम् प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयमतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथावा कर्तुमशक्यं केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्। न चोदनातन्त्रम्। नापि पुरुषतन्त्रम्। तस्मान्मानसत्वेऽपि ज्ञानस्य महद्वैलक्षण्यम्। (पृष्ठ १८)

ध्यान और ज्ञान में भेद है। यद्यपि ध्यान मानसिक है परन्तु पुरुष के अधिकार में है करे, न करे। अन्यथा करे, ज्ञान प्रमाण जन्य है। ज्ञान वस्तु के आधीन है। उसमें पुरुष का करने, न करने अथवा अन्यथा करने का अधिकार नहीं। ज्ञान व्यापार के आधीन नहीं। न पुरुष के आधीन है। इसलिये मानसत्व होने पर भी ज्ञान ध्यान से सर्वथा विलक्षण है।

ज्ञान और ध्यान के भेद का स्पष्टीकरण बड़ी सुन्दरता से किया गया है। परन्तु इसका प्रयोग जिस उद्देश्य से किया गया है वह ठीक

नहीं, ज्ञान का क्रिया से इतना विरोध नहीं। क्योंकि क्रिया ज्ञान का साधन है, और कर्म और ज्ञान सहयोगी है।

एक विचित्र बात है। यहाँ तो शंकर जी "ज्ञानं तु प्रमाणजन्य" बताते हैं। यह 'चोदनातन्त्रम्' है 'न पुरुषतन्त्रम्'। परन्तु अध्यास की मीमांसा करते हुये प्रमाण को अविद्यावत् बताते हैं :—

"तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाण प्रमेय व्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्तः। सर्वाणि च शास्त्राणि विधि प्रतिषेध मोक्षपराणि। (१।१।१। पृष्ठ २)

जब प्रमाणों को अविद्यावत् सिद्ध कर चुके तो वह ज्ञान के जनक कैसे होंगे ? यह प्रश्न है।

(२०) या तु प्रसिद्धे ऽग्नावग्निबुद्धिर्न सा चोदनातन्त्रा। नापि पुरुषतन्त्रा। किं तर्हि प्रत्यक्ष विषय वस्तुतन्त्रैवेति ज्ञानमेवैतन्न क्रिया। (पृष्ठ १८)

अग्नि में जो अग्नि बुद्धि है वह न तो क्रिया के आधीन है न पुरुष के किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण के।

यदि यह ठीक है तो ऊपर कहे अनुसार यह अध्यास और अविद्या का परिणाम होगा।

(२१) अब प्रश्न होता है कि वेद में 'लिङ्' लकार का प्रयोग क्यों है जब विधि या निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसका उत्तर विलक्षण है :—

तद्विषये लिङादयः श्रूयमाणा अप्यनियोज्यविषयत्वात् कुण्ठी भवन्ति, उपलादिषु प्रयुक्तक्षुरतैक्ष्ण्यादिवत्। (पृष्ठ १६)

अर्थात् जैसे पत्थर पर चलाने से क्षुरे की धार कुंठित हो जाती है ऐसे ही लिङ् लकार आदि प्रयुक्त होकर भी ब्रह्म के विषय में कुण्ठित हो जाते हैं।

उपमा कितनी अच्छी है। परन्तु यह लागू कैसे हो सकती है ? क्षुरे की धार को कुण्ठित करने के लिये पत्थर पर चलाना मूर्खता ही

तो है। क्या लिङ् लकार का प्रयोग उसको कुण्ठित करने के लिये किया गया है? क्या यह उपनिषत् कारों की प्रशंसा है। या बुराई?

(२२) किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादीनि विधिच्छायानि वचनानि। स्वाभाविक प्रवृत्तिविषय विमुखी करणार्थानीति ब्रूमः।

(पृष्ठ १६)

अच्छा विधि के तुल्य प्रतीत होने वाले इन विधि वाक्यों का क्या अर्थ होगा जिनमें कहा है कि आत्मा को ही देखना या सुनना चाहिये?

हमारा (शंकराचार्यजी का) उत्तर है कि विषयों में जो स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसको विमुखी करने के लिये यह वाक्य कहे गये हैं?

पाठक थोड़ा-सा विचार करें। इसी को तो द्राविड़ी प्राणायाम कहते हैं, नाक सीधी न पकड़ी सिर के पीछे हाथ करके पकड़ी, स्वाभाविक प्रवृत्ति से विमुख करना भी तो निषेध है। और निषेध चोदना तंत्र हुआ। और पुरुष तंत्र भी। फिर यह कहना कि श्रुति में क्रिया का गन्ध मात्रा भी नहीं; देखते हुये न देखने के समान है। दूसरे सर्व साधारण में तो यह उपदेश लोगों को अकर्मण्य ही बनाते हैं जैसा कि शांकर-वेदान्त ने भारतवर्ष को बना दिया है।

(२३। अब पूर्वमीमांसा का स्पष्ट खण्डन करते हैं।

यदपि केचिदाहुः 'प्रवृत्ति निवृत्ति विधि तच्छेषव्यतिरेकेण केवल वस्तुवादी वेदमार्गो नास्ति' इति तन्न औपनिषदस्य पुरुष-स्यानन्यशेषत्वात्। (पृष्ठ १६)

जो कहते हैं कि वेद केवल वस्तु वादी नहीं है उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति की विधि है। तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि उपनिषदों का पुरुष किसी विधि या निषेध का साधन नहीं।

यहाँ 'केवल' शब्द पर ध्यान दीजिये और क्रिया के गन्ध मात्र न होने पर ध्यान दीजिये।

आगे के प्रश्नोत्तर से स्पष्ट हो जायगा कि ऊपर जिस बात का खण्डन किया गया है उसी को माना है।

(२४) पूर्व मीमांसा का सिद्धान्त है कि

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।"

(जै० सू० १-२-१)

अर्थात् वेद का मुख्य प्रयोजन है क्रिया। इसलिए जो श्रुति इस प्रयोजन को सिद्ध न करे वह निरर्थक होगी।

इस सूत्र का स्वाभाविक अर्थ यह है कि वेद-शास्त्र शासन का पुस्तक है। उसमें जो ज्ञान की बातें दी हुई हैं वह इसीलिये कि मनुष्य कर्तव्य अकर्तव्य समझ सके। और उसी का अनुष्ठान करे। यजुर्वेद के ४० अध्याय के दूसरे मंत्र में भी कहा है कि :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ᳪ समाः।

अर्थात् मनुष्य को चाहिये कि सौ वर्ष तक वैदिक कर्म करते हुये जीने की इच्छा करे। इसका यह तात्पर्य नहीं कि किसी वस्तु का ज्ञान ही शास्त्र में नहीं है। ज्ञान है तो परन्तु है इसीलिये कि उसकी उपलब्धि से मनुष्य कर्तव्य का पालन और अकर्तव्य का त्याग करे।

परन्तु शंकराचार्य जी को शास्त्र की यह पोज़ीशन प्रिय नहीं। वह जैमिनि के इस सूत्र का खण्डन करते हैं।

(२५) पहले तो उन्होंने कहा :—

एतदेकान्तेनाभ्युपगच्छतां भूतोपदेशानर्थक्य प्रसङ्गः।

(१।१।३ पृष्ठ २०)

अर्थात् इस सूत्र का पूरा-पूरा शाब्दिक अर्थ लेने से तो वह भाग जिसमें वस्तुज्ञान (भूत-उपदेश) दिया है निरर्थक हो जायगा।

(२६) परन्तु जब उनसे कहा गया कि महाराज!

प्रवृत्तिनिवृत्ति विधितच्छेषव्यतिरेकेण भूतं चेद् वस्तूपदिशति भव्यार्थत्वेन। (१।१।४ पृष्ठ २०)

अर्थात् वस्तु का ज्ञान विधि और निषेध का साधक होगा। तो इस पर आक्षेप करते हैं।

कूटस्थनित्यं भूतं नोपदिशतीति को हेतुः। (१।१।४ पृष्ठ २०)

कि यदि वस्तु का ज्ञान दिया जा सकता है तो कूटस्थनित्य वस्तु (अर्थात् ब्रह्म) का ज्ञान क्यों न दिया जायगा।

न चैतावता वस्त्वनुपदिष्टं भवति। (१।१।४ पृष्ठ २०)

परन्तु इतने से यह तो नहीं कहा जा सकता कि वस्तु उपदिष्ट नहीं है।

क्रियार्थत्वेऽपि क्रियातिवर्तन शक्ति मद् वस्तूपदिष्टमेव।
क्रियार्थत्वं तु प्रयोजनं तस्य। (त० १।४ पृष्ठ २०)

चाहे वह क्रिया के उद्देश्य से ही कही गई हो। परन्तु वस्तु का उपदेश तो हो गया।

ठीक ! मेरा कहना यह है कि यदि यह सिद्धान्त पहले से ही स्वीकार होता तो श्री शंकराचार्य जी को इसके खण्डन की क्या आवश्यकता थी। वह तो 'क्रिया' का गन्धमात्र भी सहन नहीं कर सकते थे। यह तो कोई नहीं कहता कि वेद में कूटस्थनित्य ब्रह्म का ज्ञान नहीं। मन्त्र के मन्त्र भरे पड़े हैं। जैमिनि सूत्र का अभिप्राय तो केवल इतना है कि शास्त्र कर्तव्य अकर्तव्य के पालन के लिये हैं। मेरी समझ में तो श्री शंकराचार्य जी ने व्यर्थ का वाद खड़ा कर दिया। क्रिया का गन्ध मात्र तो मानना ही पड़ा। जैमिनि की 'धर्म जिज्ञासा' और बादरायण की 'ब्रह्म जिज्ञासा' एक दूसरे के विरुद्ध नहीं हैं। परन्तु श्री शंकराचार्य जी ने अपनी युक्ति-संतति के द्वारा इसको ऐसा बना दिया है।

समस्त वाद वेदान्त सूत्रों से सर्वथा असंगत है।

(२७) जैमिनि जी के उसी सूत्र के विरोध में और युक्तियाँ देखिये :—

अपिच 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति चैवमाद्या निवृत्तिरूप-

दिश्यते । न च सा क्रिया । नापि क्रिया साधनम् ॥ अक्रियार्थानामुपदेशोऽनर्थकश्चेत् "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यादिनिवृत्युपदेशानामानर्थक्यं प्राप्तम् । (पृष्ठ २१)

कहते हैं कि यदि क्रिया-शून्य श्रुतियाँ अनर्थक हों तो ब्राह्मण को न मारना चाहिये इत्यादि श्रुतियाँ भी निरर्थक हो जायंगी क्योंकि यहाँ 'निवृत्युपदेश' हैं। किसी काम का करना नहीं बताया गया किन्तु "न करना" बताया गया है। यह न तो क्रिया है न क्रिया का साधन।"

जैमिनि के पोषक कह सकते हैं कि "स्वभावप्राप्तहन्त्यर्थानुरागेण नञः शक्यमप्राप्त क्रियार्थत्वम् ।" (१।४ पृष्ठ २१)

'हन्तव्यं' इस क्रिया के साथ निषेधार्थक 'नञ्' लगाने से ऐसी क्रिया का अर्थ आया जो अभी प्राप्त नहीं है। क्रिया का सम्बन्ध तो रहा ही। आनन्द गिरि ने इस युक्ति को इन शब्दों में प्रकाशित किया है।

"ननु 'न हन्तव्यः' इत्यत्र हननं न कुर्यादिति न वाक्यार्थः किं त्वहननं कुर्यादिति। ततो हननविरोधिनी संकल्पक्रिया हननं न कुर्यामित्येव रूपा कार्यतया विधीयते तेन निषेध वाक्यमपि नियोगनिष्ठ मेव ।"

अर्थात् जब कहते हैं कि 'न मारना चाहिये' तो केवल निषेध वाक्य नहीं है। नियोग-वाक्य भी है क्योंकि हत्या की विरोधिनी क्रिया का संकल्प करना होता है।

यह पूर्व पक्ष बड़ा प्रबल है। और जैमिनि के सूत्र की पुष्टि करता है परन्तु श्री शंकराचार्य जी ने इसके खण्डन में जो युक्ति दी है वह स्पष्टतया खींचातानी प्रतीत होती है। वे कहते हैं।

"नञश्चैष स्वभावो यत् स्वसंबन्धिनोऽभावं बोधयतीति। अभाव बुद्धिश्चौदासीन्यकारणम् । सा च दग्धेन्धनाग्नि वत् स्वयमेवोपशाम्यति ।" (१।१।४ पृष्ठ २१)

'नञ्' का यह स्वभाव है कि जिस क्रिया के साथ जुड़ता है उसके अभाव को बताता है। जैसे 'न मारो।' यहाँ 'न कार' "मारो" क्रिया के साथ लग कर 'मारो' क्रिया के अभाव को बताती है। अभाव बुद्धि का अर्थ है 'उदासीनता।' उदासीनता क्रिया नहीं है किन्तु क्रिया की अन्तक है। जैसे अग्नि ईंधन को पहले नाश करके फिर स्वयं भी नाश हो जाती है। इसी प्रकार 'न कार' पहले क्रिया के प्रति अभाव-बुद्धि स्थापित करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है। यह युक्तिशृङ्खला सुदृढ़ नहीं है। इसकी एक कड़ी बड़ी कमजोर है। वह है यह "अभाव बुद्धिश्चौदासीन्यकारणम्।" 'अभाव बुद्धि उदासीनता का कारण है।' यह ठीक नहीं। यदि ऐसा हो तो पतंजलि के 'अ + हिंसा', 'अ + स्तेय', 'अ + परिग्रह' आदि शब्द अनर्थक हो जायंगे। यही नहीं, यदि वस्तुतः देखा जाय तो 'ब्रह्मचर्य' का उपदेश भी निषेधात्मक है। अर्थात् अपने वीर्य का नाश मत करो। इनसे उदासीनता प्रकट नहीं होती।

(२८) अब यह प्रश्न है कि क्या हमारा शरीर हमारे पूर्व जन्म-कृत धर्म अधर्म के अनुकूल है? कर्म-सिद्धान्त की यह एक प्रसिद्ध प्रतिपत्ति है। शंकराचार्य जी इसका भी खण्डन करते हैं :—

"तत्कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमिति चेन्न, शरीरसंबन्धस्यासिद्धत्वाद् धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वा सिद्धेः। शरीरसंबन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत्कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्परैषाऽनादित्वकल्पना। (१।१।४ पृष्ठ २२)

यदि कहो कि सशरीरत्व आत्मकृत धर्म अधर्म के कारण है तो ठीक नहीं। क्योंकि जब शरीर का सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं तो आत्मकृत धर्म और अधर्म कैसे सिद्ध होंगे? शरीर के सम्बन्ध और आत्मकृत धर्म-अधर्म के एक दूसरे के आश्रय होने से अन्ध-परम्परा चल कर अनादित्व की कल्पना हो जायगी।

यह वही दलील है जो ईसाई और मुसलमान पुनर्जन्म के विरुद्ध

दिया करते हैं कि कर्म पहले है या शरीर। परन्तु श्री शंकराचार्य जी तो पुनर्जन्म को मानते हैं। वे ईशोपनिषत् के तीसरे मन्त्र के भाष्य में लिखते हैं :—

"अन्धेनादर्शनात्मकेना ज्ञानेन तमसाऽऽवृता आच्छादितास्तान् स्थावरान्तान् प्रेत्य त्यक्त्वेमंदेहमभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥

अर्थात् "कर्म और शास्त्र विधान के अनुकुल अन्धकार से आच्छादित स्थावर आदि योनियों को शरीर छोड़ने के पश्चात् प्राप्त होते हैं" यहाँ स्थावर आदि योनि भी मानी और कर्म के अनुकूल मानी। जब कर्म के अनुकूल योनि मिलती है तो प्रश्न यह होता है कि किसके कर्म के अनुकूल? उत्तर स्पष्ट है "जो करेगा वह पायेगा।" यहाँ आत्मकृत धर्म-अधर्म का खण्डन तो नहीं होता। फिर दूसरे अध्याय के पहले पाद के ३५वें सूत्र की व्याख्या में तो इसको स्पष्ट ही कर दिया। देखिये :—

सृष्ट्युत्तरकालं हि शरीरादिविभागापेक्षं कर्म, कर्मापेक्षश्च शरीरादिविभाग इतीतरेतराश्रयत्वं प्रसज्येत। अतो विभागादूर्ध्वं कर्मापेक्ष ईश्वरः प्रवर्ततां नाम। प्राग्विभागाद् वैचित्र्यनिमित्तस्य कर्मणोऽभावात् तुल्यैवाद्या सृष्टिः प्राप्नोतीति चेत्। नैष दोषः। अनादित्वात् संसारस्य। भवेदेष दोषो यद्यादिमान् संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजांकुरवद्धेतुमद्भावेनकर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते ।: (शां० भा० २।१।३५ पृ० २१८)

"प्रश्न करते हैं कि सृष्टि उत्पन्न होने के पश्चात् शरीर की अपेक्षा से कर्म होते हैं और कर्म की अपेक्षा से शरीर आदि। इसमें तो इतरेतराश्रय दोष आ गया। उत्तर देते हैं कि "नहीं। यह दोष नहीं है। क्योंकि संसार अनादि है। यदि संसार आदिमान् होता तो यह दोष होता। संसार के अनादि होने पर बीज और अंकुर के तुल्य यह भी विरोध नहीं आता।"

क्या इसको परस्पर विरोध नहीं कहते ? क्या यह अपने ही सिद्धान्त का खण्डन नहीं है ? जिस 'अनादित्व कल्पना' को शंकर जी ने चतुः सूत्री में अन्ध परम्परा कहा उसी को दूसरे अध्याय में स्वयं माना । महद्वैचित्र्यम् ।

(२६) और चलिये :—

क्रिया समवायाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः ।

आत्मा का कर्ता होना सिद्ध ही नहीं हो सकता । क्यों ? क्रिया और आत्मा का समवाय-सम्बन्ध नहीं ।

संनिधानमात्रेण राजप्रभृतीनां दृष्टं कर्तृत्वमिति चेन्न, धन-दानाद्युपार्जित भृत्य संबन्धित्वात् तेषां कर्तृत्वोपपत्तेः । न त्वात्मनो धनदानादिवच्छरीरादिभिः स्वस्वामिसंबन्धनिमित्तं किंचिच्छक्यं कल्पयितुम् । (१।१।४ पृष्ठ २२)

यदि कहो कि जैसे राजे आदि भृत्यों से काम करा लेते हैं इसी प्रकार आत्मा का कर्तृत्व है सो भी ठीक नहीं क्योंकि राजे आदि तो धन देकर भृत्यों से काम ले लेते हैं । आत्मा और शरीर आदि का ऐसा सम्बन्ध कल्पना में नही आता ।

श्री शंकराचार्य जी का यह सब प्रयास क्रिया के विरोध में है । परन्तु अध्याय २, पाद १ के सूत्र ३४ के भाष्य में क्या कहेंगे ?

प्रश्न था कि ईश्वर ने किसी को सुखी किसी को दुःखी बना कर विषमता क्यों की और इससे ईश्वर निर्दयी क्यों नहीं, इसका विस्तृत वर्णन करके उत्तर देते हैं ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—वैषम्यनैर्घृण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते । कस्मात् ? सापेक्षत्वात् । यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते । स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं नैर्घृण्यं च । नतु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति । सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते । किम-पेक्षत इति चेत् । धर्माधर्मावपेक्षत: इति वदामः । (पृष्ठ २१७)

श्री शंकराचार्य जी कहते हैं कि हमारा उत्तर यह है कि ईश्वर में विषमता या निर्दयता का दोष नहीं आता क्यों? अपेक्षा से। यदि ईश्वर निरपेक्ष भाव से सृष्टि बनाता तो ये दोनों दोष आते। परन्तु सृष्टि-उत्पत्ति निरपेक्ष तो नहीं है। अच्छा तो किसकी अपेक्षा है? धर्म और अधर्म की! अब कहिये। दोनों को मिला कर न्याय कीजिये। कौन ठीक है? वस्तुतः है तो यही ठीक। परन्तु दोष है उस प्रवृत्ति का जो चतुः सूत्री में ओतप्रोत है।

(३०) अब प्रश्न करते हैं कि आत्मा और शरीर का सम्बन्ध गौण क्यों नहीं। मिथ्या क्यों है? यदि गौण मान लिया जाय तो क्रिया का खण्डन न हो। परन्तु श्री शंकरजी उत्तर देते हैं कि नहीं, गौण और मिथ्या में भेद है। "देहादावहं प्रत्ययो मिथ्यैव न गौणः" परन्तु शरीर के मिथ्या होने के लिये कोई प्रबल हेतु नहीं दिया गया। यदि मान भी लिया जाय तो श्री शंकराचार्य जी के नीचे के वाक्य का क्या अर्थ होगा?

तस्मान्मिथ्याप्रत्यय निमित्तत्वात् सशरीरत्वस्य सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्। (पृष्ठ २२)

अर्थात् शरीर का भाव मिथ्या है। इसलिये जिसको ज्ञान हो गया (कि मैं ब्रह्म हूँ, शरीर मिथ्या है) उसका जीवन में भी अशरीरत्व सिद्ध है। "जीवतोऽपि अशरीरत्वम्" का क्या अर्थ है? शरीर या तो सत्य है या मिथ्या। यदि मिथ्या है तो मिथ्या ज्ञान के दूर होते ही जीवन का भी अन्त हो गया और शरीर का भी। यह नहीं हो सकता कि शरीर का अन्त हो और जीवन का न हो। यदि मैं मिथ्या मुकुट पहने हूँ अर्थात् मुकुट तो नहीं है परन्तु मुकुट की प्रतीति होती है तो जिस समय वह मिथ्या ज्ञान दूर होगा मुकुट और राज-पन दोनों ही निवृत्त हो जायेंगे। यह कैसे होगा कि मुकुट न रहे और राजा बना रहूँ।

दूसरी बात यह है कि यदि शरीरादि मिथ्या हैं और जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है और मिथ्याज्ञान के निवारण का नाम ही मुक्ति है तो ज्योंही जीव को ज्ञान होगा वह मुक्त हो जायगा अर्थात् वह ब्रह्म हो जायगा। फिर मुक्त जीवों की मुक्त अवस्था का अलग वर्णन कैसा? परन्तु "संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः" (४-४-८) के भाष्य में श्री शंकराचार्य जी लिखते हैं :—

एव प्राप्ते ब्रूमः संकल्पादेव तु केवलात् पित्रादि समुत्थानमिति। कुतः? तच्छ्रुतेः 'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति"।

(छा० ८।२।१) (४।४।८, पृ० ५०७)

अर्थात् मुक्त जीवों के पितर संकल्प से ही उठ बैठते हैं। यदि मुक्ति में भी जीव ब्रह्म नहीं हो जाता तो भेद स्पष्टतया सिद्ध है और श्री शंकर जी की कोई युक्ति इसका खण्डन नहीं कर सकती। चतुः सूत्री में बृहदारण्यक का जो उदाहरण दिया गया है उससे भी शरीर का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता :—

"तद् यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृताप्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेते।" (बृह० ४।४।७, पृष्ठ २३)

जैसे बांबी में साँप की केंचुली निर्जीव और तिरस्कृत पड़ी रहती है वैसे ही मुक्त आत्मा का शरीर पड़ा रहता है। इस उद्धरण से शरीर का आत्मा से इतर होना तो सिद्ध है परन्तु मिथ्या होना नहीं।

(३१) अब प्रश्न करने वाला कहता है कि उपनिषद् कहती है कि आत्मा श्रोतव्य है, मन्तव्य है और निदिध्यासितव्य है। इससे सिद्ध होता है कि पहले सुनो, फिर मनन और निदिध्यासन करो। इससे तो ब्रह्म के साथ विधिवाक्य की संगति मिलती है।

इस स्थापना का निषेध तो हो नहीं सकता, ठीक ही है। ब्रह्म के विषय में उपनिषद् कहती है सुनो, फिर विचार और ध्यान करो। परन्तु शंकराचार्य जी इस कथन को निजशैली के अनुसार वर्णन करके कुछ

का कुछ कर देते हैं। वे बीच में 'विधिशेषत्व' डाल कर पूर्वपक्ष के इस प्रकार वर्णन करते हैं :

"विधिशेषत्वं ब्रह्मणो न स्वरूप पर्यवसायित्वमिति।"

(पृष्ठ २३)

"इससे ब्रह्म का विधिशेषत्व तो सिद्ध होता है परन्तु 'स्वरूपपर्यवसायित्व' न सिद्ध हो सकेगा अर्थात् ब्रह्म विधि के आश्रित न होगा। स्वरूप से सिद्ध रहेगा। पूर्वपक्षी के मुख में एक ऐसा शब्द डाल देना जिससे उसका पक्ष हास्यजनक प्रतीत हो और फिर बलपूर्वक उसका निषेध करना तिनके का शत्रु बना कर फिर वीरता से उसका वध करने के समान है। कोई पूर्वमीमांसा का पक्षपाती यह न कहेगा कि इससे ब्रह्म का विधिशेषत्व है स्वरूपपर्यावसायित्व नहीं, सुनने वाला, मनन करने वाला और ध्यान करने वाला तो जीव है। जीव सुनेगा ब्रह्म के विषय में और उसी का मनन या ध्यान करेगा। जीव द्वारा 'मंतव्य' या 'निदिध्यासितव्य' होने के कारण ब्रह्म की स्वरूप सिद्धि में क्या बाधा हो सकती है। दुखती हुई आँख सूर्य्य को देखने का यत्न करे तो इससे सूर्य्य में तो कोई दोष नहीं आता। विधिशेषत्व का क्या अर्थ है? भामती में लिखा है :

विधयो हि धर्मप्रमाणम्, ते च साध्यसाधनेतिकर्तव्यता भेदाधिष्ठाना धर्मोत्पादिनश्च तदधिष्ठाना न ब्रह्मात्मैक्ये सति प्रभवन्ति, विरोधादित्यर्थः।

"धर्म में विधियाँ प्रमाण हैं। क्योंकि उनमें साध्य, साधन, इतिकर्तव्यता भेद होते हैं। जब ब्रह्म और जीव एक हैं तो उसमें विधि का क्या प्रभाव? वहाँ तो विरोध है, फिर कहा है :

अद्वैते हि विषयविषयिभावो नास्ति। न च कर्तृत्वं, कार्याभावात्। न च करणत्वम् अतएव।

अर्थात् अद्वैत में विषय-विषयी तो हैं नहीं, न कार्य्य है। अतः कर्तृत्व है न करणत्व।

श्री शंकराचार्य जी ने स्वयं 'अतः' शब्द की व्याख्या करते हुये ब्रह्मजिज्ञासा के लिये चार साधनों को आवश्यक बताया है (१) नित्यानित्य वस्तु विवेकः (२) इहामुत्रार्थ भोग विरागः (३) शमदमादि साधन संपत् (४) मुमुक्षुत्व। (पृष्ठ ५)

हम पूछते हैं कि ये चारों चीजें ब्रह्म-ज्ञान के लिये आवश्यक हैं या ब्रह्म-जिज्ञासा के लिये। यदि नित्य अनित्य का विवेक हो गया तो शेष क्या रहा? यदि इस लोक और परलोक के भोगों से वैराग्य हो गया तो आगे क्या रह गया? शमदम आदि साधन क्या ब्रह्म जिज्ञासा, उपासना आदि के बिना ही प्राप्त हो जायँगे।? और क्या इनकी प्राप्ति में धर्मानुष्ठान यज्ञ आदि का कोई उपयोग नहीं? यदि इन साधन चतुष्टय के पश्चात् ही ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकार है तो वेदान्त के चार अध्यायों का क्या उपयोग होगा जिनमें क्रमानुसार समन्वय, विरोधपरिहार, साधन और फल की मीमांसा बताई गई है?

छान्दोग्य उपनिषद् में जो यह वाक्य है "तद्यथेह कर्मचितोलोकः क्षीयत एवमेवामुत्रपुण्यचितो लोकः क्षीयते" (छा०, ८।१।६) इत्यादि इस वाक्य को शांकर मत में बहुत बढ़ा चढ़ा कर वर्णन किया है और इसके आधार पर कर्मानुष्ठान यज्ञ, इष्टियों, कर्मकाण्ड, उपासना आदि का बलपूर्वक खण्डन किया गया है। परन्तु है यह उपनिषद्-वाक्य का दुरुपयोग। उपनिषद् का यह वाक्य तो केवल इतना बताता है कि कर्म का फल नित्य या अनन्त नहीं है कभी न कभी क्षीण होगा। क्योंकि कर्म भी तो सान्त है। इसका अनन्त फल कैसे? परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि कर्म की अवहेलना की जाय। हम जीवन में जितने कर्म करते हैं वे सब सान्त हैं और उनके फल भी सान्त है। परन्तु इन सान्त कर्मों को छोड़ भी तो नहीं सकते। उन सब सान्त कर्मों का उपयोग है। अपनी जीवन यात्रा में मैं जो पग उठाता हूँ वह सान्त अवश्य है परन्तु सान्त होते हुए भी वह मुझे अपने निर्दिष्ट स्थान के निकटत्तर पहुँचाता है। यही इसका उपयोग है।

बादरायण के सूत्रों का शांकर-भाष्य अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण है। शंकर स्वामी की विवरण शक्ति गजब की है। और उनकी मौलिकता भी गजब की। इसका एकमात्र प्रमाण यह है कि जितने भाष्य अब तक उनके विरोध में लिखे गये उन सब पर उनकी छाप है। एक प्रकार से किन्हीं थोड़ी सी बातों में विरोध करते हुए भी वे उन्हीं का अनुकरण करते हैं। परन्तु शांकर-चतुः सूत्री में वेदान्ताध्ययन के आरम्भ में ही दो बड़ी हानिकारक मनोवृत्तियां उत्पन्न कर दी जाती हैं एक तो जगत् की वास्तविकता के विरोध में और दूसरी कर्म के विरोध में। ये दोनों मनोवृत्तियां बादरायण के सूत्रों की स्पिरिट के विरुद्ध हैं। चतुःसूत्री इन्हीं दो बातों से भरी है। यद्यपि वेदान्त के बहुत से सूत्रों की शंकर स्वामी ने इन मनोवृत्तियों के विरुद्ध व्याख्या की है क्योंकि सब स्थानों पर इस विचित्र प्रतिपत्ति को निबाहना कठिन था। और कहीं व्यावहारिक और कहीं प्रातिभासिक व्याख्या करके किसी न किसी प्रकार छुटकारा पाने का यत्न किया है। तथापि जो विषैला वातावरण उत्पन्न कर दिया गया है उसने समस्त आर्य्य जीवन पर बुरा प्रभाव डाला है।

हम यह मानते हैं कि बौद्धों के वेद-विरोधी-वातावरण को हटा कर आचार्य शंकर जी ने वेदों की स्थापना की। परन्तु उपनिषदों को वेद से हटा कर एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया जिसमें वेदाध्ययन सर्वथा छूट गया। और संसार कार्य्य क्षेत्र को छोड़ कर लोग एक मनो-निर्मित कल्पित जगत् की तलाश में संलग्न रहे जिसकी काल्पनिक सत्ता कितनी ही रोचक क्यों न हो, वह वास्तविकता से बहुत दूर है।

शांकर भाष्य में कई आपत्तिजनक प्रतिपत्तियां हैं परन्तु उनका वर्णन चतुः सूत्री में नहीं है अतः उनका वर्णन अन्यत्र मिलेगा।

यदि ऐसा है तो 'जन्माद्यस्य यतः' अर्थात् ईश्वर जगत् का कर्त्ता है इसका क्या अर्थ होगा ?

वेदान्त कल्पतरु में इसी सम्बन्ध में कहा है :—

त्र्यंशा भावना हि धर्मः। तद्विषया विधयः साध्यादिभेदाधिष्ठानास्तद्विषयाः। अपि चैतेऽनुष्ठेयं धर्ममुपदिशन्तस्तदुत्पादिनः पुरुषेण तमनुष्ठापयन्तीति साध्यधर्माधिष्ठानास्तत्प्रमाणानीति यावत्। अतो नित्यसिद्धाद्वैतब्रह्मावगमे तेषांविरोध इति।

अर्थात् विधि का सम्बन्ध धर्म से है ब्रह्म से नहीं। धर्म की भावना में तीन अंश होते हैं साध्य, साधन, इति कर्तव्यता। नित्यसिद्ध अद्वैत ब्रह्म में साध्य, साधन का प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रह्म तो सिद्ध है, नित्य सिद्ध है, कभी साध्य की कोटि में नहीं आता। अतः शास्त्र में विधि वाक्यों की गुञ्जायश नहीं।

इस प्रकार बाल की खाल निकाल कर जैमिनि की 'मीमांसा' और कर्म का विरोध किया गया है। परन्तु यह असंगत है। व्यास-सूत्रों में तो इनकी गन्ध भी नहीं। यह ठीक है कि ब्रह्मज्ञान के पश्चात् जीव को कुछ शेष नहीं रहता। परन्तु अल्प जीव को ब्रह्म-ज्ञानी होने और मुक्ति प्राप्त करने तक तो कर्म का आश्रय लेना ही पड़ेगा। अतः धर्मानुष्ठान और ज्ञान में सहयोग तो है परन्तु विरोध नहीं। श्री शंकराचार्य जी ने वेदान्त सूत्रों से पूर्व-मीमांसा* की अनुपयोगिता दिखाई है यह ठीक नहीं है।

शंकर स्वामी ने वेदान्त ३, २, २१ के भाष्य में बिना प्रसंग के ही इस प्रश्न को फिर छेड़ा है और बड़ी लम्बी चौड़ी व्याख्या करके बताया है :—

---

*वेदान्त ३।३।३३ सूत्र तथा उसके भाष्य से स्पष्ट है कि बादरायण जैमिनि के विरुद्ध न थे। उसमें पूर्वमीमांसा ३।३।८ की ओर संकेत है।

'तस्मादवगतिनिष्ठान्येव ब्रह्म वाक्यानि न नियोगनिष्ठानि।'
(पृष्ठ ३६३)

अर्थात् ब्रह्मवाक्य ज्ञान-निष्ठ हैं कर्म-निष्ठ नहीं।

"द्रष्टव्यादिशब्दा अपि परविद्याधिकारपठितास्तत्त्वाभिमुखी करण प्रधाना न तत्वावबोधविधि प्रधाना भवन्ति।' (पृष्ठ ३६२)

अर्थात् जहाँ कहा कि आत्मा को देखना चाहिये इत्यादि। वहाँ तत्व के ज्ञान की विधि नहीं बताई गई तत्व की ओर ध्यान दिला दिया गया है।

यह दलील भी विचित्र ही है। 'विधि' से न जाने क्यों चिढ़ है? "ध्यान दिलाया गया है। ज्ञान प्राप्ति की विधि नहीं बताई गई।" यह बात क्या हुई?

(३२) अब लिखा है :—

तस्मान्न प्रतिपत्तिविधि विषयतया शास्त्र प्रमाणकत्वं ब्रह्मणः संभवतीत्यतः स्वतन्त्रमेव ब्रह्म शास्त्रप्रमाणकं वेदान्तवाक्य समन्वयादिति सिद्धम्। एवं च सति 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इति तद्विषयः पृथक् शास्त्रारम्भः उपपद्यते। प्रतिपत्तिविधिपरत्वे हि "अथातो धर्मजिज्ञासे त्येवारब्धत्वान्न पृथक् शास्त्रमारभ्येत। आरभ्यमाणं चैवमारभ्येत—'अथातः परिशिष्ट धर्मजिज्ञासेति' 'अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा" (जै० ४।१।१) इतिवत्।
(पृष्ठ २३)

यह तो ठीक है कि भिन्न-भिन्न शास्त्र भिन्न-भिन्न विषयों का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु वे विषय एक दूसरे के विरोधी नहीं होते। और न बादरायण का अभिप्राय जैमिनि-विरोध है। 'ब्रह्म-जिज्ञासा' लिखने से 'धर्म-जिज्ञासा' का विरोध नहीं, वस्तुतः ब्रह्म जिज्ञासा भी क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ की जिज्ञासा ही है। क्योंकि जब अल्प जीव में ब्रह्म के जानने की इच्छा होती है तो उसको उन साधनों की भी इच्छा होती है जो ब्रह्म-ज्ञान की प्राप्ति में सहायक हैं। ब्रह्म-ज्ञान छू मन्तर से तो हो नहीं जाता।

प्रधानस्याचेतनस्यैव सतः सर्वज्ञत्व मुपचर्यते ।

इस प्रकार यद्यपि प्रकृति अचेतन है तो भी उपचार से उसको सर्वज्ञ कहा है।

प्रथम तो यदि गीता के ऊपर के वाक्य को प्रमाण माना जाय तो गीता सांख्य-ग्रन्थ सिद्ध हो जाता है और शंकर स्वामी को उसका प्रत्युत्तर देने का अधिकार नहीं क्योंकि शां० भा० में गीता को सब से अधिक प्रमाणित स्मृति माना है। दूसरी बात यह है कि प्रकृति के सत्व गुण को ज्ञान का साधन माना है न कि सर्वज्ञ! इसका केवल इतना तात्पर्य है कि हमारा शरीर प्राकृतिक है। उसमें ज्ञान का उपकरण मस्तिष्क भी प्राकृतिक है। प्रकृति के सत्वगुण से ही अच्छा मस्तिष्क बनता है अच्छे मस्तिष्क से ज्ञान की प्रवृति भी होती है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि मस्तिष्क ज्ञाता हो जाता है। प्रकृति में दो और भी तो गुण हैं रजोगुण और तमोगुण! इसलिये प्रकृति को केवल एक गुण के कारण सर्वज्ञ तो नहीं कह सकते। जहाँ अन्धे और लंगड़े का दृष्टान्त दिया जाता है वहाँ भी तो प्रकृति को अज्ञ और पुरुष को विज्ञ कहा है। त्रिगुणात्मक प्रकृति में सत्वगुण होते हुये भी उसे सर्वज्ञ नहीं कह सकते।

और सब से विचारणीय बात तो यह है कि किसी सांख्य-वादी ने यह दावा नहीं किया। इसलिये वादरायण का सांख्य के विरोध में सूत्र बनाना असंगत और अनावश्यक दोनों था। और इसीलिये वादरायण ने ऐसा नहीं किया। यदि वह करते तो स्पष्ट कहते।

शंकराचार्य जी ने सूत्र का ऐसा पदच्छेद किया है:

ईक्षतेः न, अशब्दम् ।

अर्थात् ईक्षति कर्म पाये जाने से प्रकृति जगत् का कारण नहीं, क्योंकि यह अशब्द अर्थात् वेदविरुद्ध है।

हम पूछते हैं कि प्रकृति कहाँ से आ गई? जिस श्रुति में 'ईक्षण' शब्द पड़ा है वहाँ भी तो प्रकृति की ओर कोई संकेत नहीं है।

फिर 'वेदविरुद्ध होने से'। यह अर्थ भी ठीक नहीं क्योंकि यदि सांख्य का पूर्वपक्ष स्वीकार कर लिया जाय तो अशब्द नहीं रहता। पूर्वपक्ष में तो उपनिषद् के वाक्यों के आधार पर ही प्रकृति के कारण होने का दावा किया गया है।

अब सूत्र की व्याख्या के व्याज से सांख्य मत का खंडन करते हैं प्रथम तो सत्वधर्म से ज्ञान की उत्पत्ति का खडन किया है। इसके लिये तीन युक्तियाँ दी हैं:—

(१) नहि प्रधानावस्थायां गुणसाम्यात् सत्वधर्मो ज्ञानं संभवति।

(पृष्ठ २६)

अर्थात् प्रकृति की मूल अवस्था में तो तीनों गुणों का साम्य है। अतः सत्व से ज्ञान कैसे उत्पन्न होगा।

(२) यदि गुणसाम्ये सति सत्वव्यपाश्रयां ज्ञानशक्ति माश्रित्य सर्वज्ञं प्रधानमुच्येत कामं रजस्तमो व्यपाश्रयामपि ज्ञान प्रति बंन्धकशक्तिमाश्रित्य किंचिज्ज्ञ मुच्येत।

अर्थात् यदि साम्यावस्था में भी सत्व के आश्रय से सर्वज्ञता मानो तो रजोगुण तमोगुण ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं इस लिये अल्पज्ञयता भी माननी पड़ेगी।

(३) अपिच नासाक्षिका सत्ववृत्तिर्जानाति नाऽभिधीयते। न चा चेतनस्य प्रधानस्य साक्षित्वमस्ति। (पृष्ठ २६)

सत्व धर्म बिना साक्षी के तो ज्ञान नहीं रखता और अचेतन प्रधान साक्षी है नहीं। अतः प्रधान या प्रकृति को सर्वज्ञ नहीं कह सकते।

तीनों आक्षेप ठीक हैं। परन्तु हैं अप्रासंगिक! क्योंकि कोई सांख्य-वादी प्रधान को सर्वज्ञ मानता ही नहीं। यह तो बन्ध्या के पुत्र पर विजय पाने के समान है।

आप आगे एक ऐसी बात कहते हैं जिससे आपके सिद्धान्त की ही हानि सिद्ध है:—

चौथा अध्याय

शांकर सांख्य-विरोध

(Shankar's Sankhyophobia)

(१)

ईक्षति-अधिकरण

जगन्मिथ्यावाद सिद्ध करने के लिये विवर्तवाद की आवश्यकता है और इन दोनों की सिद्धि नहीं हो सकती जब तक सांख्य के द्वैत और गुण-परिणाम वाद का खण्डन न किया जाय। इस लिये श्री शंकराचार्य-जी ने अपने शारीरक भाष्य में सांख्य का तीव्र खण्डन किया है। वादरायण के सूत्रों में कोई ऐसा शब्द नहीं मिलता जिससे सांख्य-विरोध सिद्ध हो सके। प्रधान, प्रकृति आदि जितने पारिभाषिक शब्द सांख्य-वादियों के हैं और जिनका उल्लेख शांकर-भाष्य में स्थान-स्थान पर मिलता है उनमें से किसी का वर्णन मूल सूत्रों में नहीं है। परन्तु यह शांकर मौलिकता का नमूना है कि बिना मूल में हुये भी उन्होंने भाष्य में सांख्य का इतना विरोध किया है मानो वादरायण ने यह सूत्र ही सांख्य के खण्डनार्थ रचे थे। विचित्रता यह है कि जिन सूत्रों को सांख्य-विरोध परक लगाना हुआ उनके पूर्व अपनी ओर से एक प्रबल पूर्वपक्ष खड़ा कर दिया जिसका पहले सूत्र में गंध भी नहीं मिलता।

सब से पहले सांख्य का खण्डन सूत्र १।१।५ में आया है। यह सूत्र है :—

ईक्षतेर्नाशब्दम्

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि 'ईक्षति' कर्म पाये जाने से ब्रह्म का जगज्जन्मादि कारण या शास्त्रयोनि होना 'अशब्द' नहीं है। अर्थात् वेदों

में इसका प्रमाण है। यहाँ सांख्य, या सांख्यकार कपिल या उसके किसी सिद्धान्त या प्रधान आदि पारिभाषिक शब्द का चिह्न नहीं और न इससे पहले किसी सूत्र में कोई एक भी ऐसा शब्द है जिससे अनुमान लगाया जा सके कि अगला सूत्र अमुक प्रश्न का उत्तर है। परन्तु श्री शं० स्वा० ने इस सूत्र के भाष्य से पूर्व एक लम्बा पूर्वपक्ष खड़ा कर दिया।

(१) **तत्र सांख्याः प्रधानं त्रिगुणमचेतनं जगतः कारणमिति मन्यमाना आहुः—यानि वेदान्तवाक्यानि सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं दर्शयन्तीत्यवोचस्तानि प्रधानकारणपक्षेऽपियोजयितुं शक्यन्ते।** (पृष्ठ २५)

अर्थात् सांख्यवादी तीन गुणवाली *अचेतन* प्रकृति को जगत् का कारण मानते हैं वे कहते हैं कि वेदान्त के जिन वाक्यों से तुम सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ब्रह्म को जगत् का कारण सिद्ध करते हो उनको तो प्रधान अर्थात् प्रकृति के कारण होने के पक्ष में भी लगाया *जा सकता* है।

'शक्यन्ते' शब्द से ही ज्ञात होता है कि किसी सांख्य-वादी की यह प्रतिज्ञा नहीं है। भाष्यकार स्वामी ने इस पूर्वपक्ष को स्वयं ही कल्पित किया है। प्रकृति को अचेतन तो सभी सांख्यकार मानते हैं परन्तु सर्वज्ञ कोई नहीं मानता। न किन्हीं सांख्य ग्रन्थों में ऐसा लिखा है कि वेदान्त (उपनिषदों ?) के अमुक वाक्य में जो सर्वज्ञ शब्द आया है वह प्रकृति के लिये है।

(२) परन्तु सर्वज्ञता को प्रकृति के सिर किस उलट-फेर से मढ़ा गया है। देखिये :—

यत्तुज्ञानं मन्यसे स सत्वधर्मः।......सत्वस्य हि निरतिशयोत्कर्षे सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धम्। (पृष्ठ २५)

जिस को ज्ञान कहते हैं वह प्रकृति का सत्वधर्म है। सत्व के बहुत चढ़ने से सर्वज्ञता होती है।

गीता में भी कहा है 'सत्वात्संज्ञायतेज्ञानम्' (१४।१७)

रहता है। जब मैं बिल्ली को देखता हूँ तो बिल्ली-विषयक ज्ञान है और जब चींटी को देखता हूँ तो चींटी विषयक। परन्तु अचेतन सूर्य्य के प्रकाश में प्रकाशित वस्तु के बदलने से कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिये सूर्य्य की उपमा ठीक नहीं घटती। और शंका का समाधान नहीं होता।

ऊपर के पांच कथनों में जो दूसरा कथन है वह सर्वथा दोषयुक्त है यहाँ ज्ञान और प्रकाश की तुलना भ्रम-मूलक है। 'सर्वविषयावभासन क्षमंज्ञानं' से तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सूर्य्य का प्रकाश सब वस्तुओं को प्रकाशित करता है और उसमें विकार नहीं होता इसी प्रकार ब्रह्म का ज्ञान सब विषयों पर प्रकाश डालने से दोष युक्त न होगा। परन्तु जैसा हम ऊपर कह आये हैं कोई विषय इसलिये ज्ञेय नहीं होता कि ब्रह्म का प्रकाश उस पर पड़े। प्रत्येक ज्ञेय में ज्ञेयत्व की अपनी शक्ति है यदि ज्ञाता होगा तो ज्ञेय ज्ञात हो जायगा। अचेतन सूर्य्य की उपमा चेतन ब्रह्म से नहीं दी जा सकती। कम से कम इस विषय में नहीं।

अब आगे एक और उलझी हुई डोर को दिखलाते हैं।

(१) ननु सवितुर्दाह्य प्रकाश्य संयोगे सति दहति प्रकाशयतीति व्यपदेशः स्यात्।

ननु ब्रह्मणः प्रागुत्पत्तेर्ज्ञान कर्म संयोगोऽस्तीति विषमो दृष्टान्तः

(२) न, असत्यपि कर्मणि सविता प्रकाशत इति कर्तृत्वव्यपदेशदर्शनात्।

(३) एवमसत्यपि ज्ञानकर्मणि ब्रह्मणः "तदैक्षत" इति कर्तृत्वव्यपदेशोपपत्तेर्न वैषम्यम्।

(१) पूर्व पक्षी कहता है कि तुम्हारा सूर्य्य का दृष्टान्त ठीक नहीं क्योंकि सूर्य्य का जब जलने वाली या प्रकाश होने वाली वस्तु के साथ संयोग होता है तभी तो कहते हैं कि सूर्य्य जलाता या प्रकाश करता है। ब्रह्म का तो उत्पत्ति के पहले ज्ञान-कर्म के साथ संयोग ही नहीं।

इस पर उत्तर देते हैं :—

(२) नहीं। कर्म के न होते हुये भी सविता प्रकाश करता है। उसमें कर्तृत्व पाया जाता है। यह आवश्यक नहीं कि कर्त्ता बिना कर्म के न हो सके।

(३) इसी प्रकार ज्ञान-कर्म के संयोग के बिना ब्रह्म में भी ईक्षण का कर्तृत्व है। इसमें कोई विषमता नहीं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि दृष्टान्त के विषम होने में कोई संदेह नहीं और जो समाधान दिया गया है वह सर्वथा अयुक्त है। घर में कोई चीज़ न हो तो भी दीपक का प्रकाश फैल सकता है। परन्तु बिना ज्ञेय के ज्ञान नहीं हो सकता। आगे चलिये :—

(१) कर्मापेक्षायां तु ब्रह्मणीक्षितृत्वश्रुतयः सुतरामुपपन्नाः।

(२) किं पुनस्तत्कर्म, यत्प्रागुत्पत्तेरीश्वरज्ञानस्य विषयो भवतीति।

(३) तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे अव्याकृते व्याचिकीर्षिते इति ब्रूमः। (पृष्ठ २७)

शंकर जी समाधान करते हैं कि (१) यदि सर्गारम्भ में कर्म की अपेक्षा है तो ब्रह्म को ईक्षण कर्ता बताने वाली श्रुतियें और भी अच्छी तरह सङ्गत हो सकती है। (२) यदि कहो कि सर्गारम्भ में कौन सा कर्म है जो ईश्वर के ज्ञान का विषय है। (३) तो हमारा उत्तर यह है कि नाम और रूप जिनको न तो तत्व कह सकते हैं न अतत्व। यह हैं अनिर्वचनीय। यह व्यक्त नहीं हैं परन्तु व्यक्त होने वाले हैं।

यह है श्री शंकर जी के समस्त दर्शन का निचोड़। प्रथम तो सूर्य्य का दृष्टान्त देकर कर्म की अनावश्यकता बताई फिर ईक्षितृत्व के आधार पर कर्म की खोज की। यदि ऐसा हो तो किसी को अकर्मक क्रिया ही न कह सकेंगे। फिर अकर्मक और सकर्मका का भेद मिट जायगा। परन्तु शंकर स्वा० को अपनी युक्ति में अभी दृढ़भूमि प्रतीत नहीं होती। अतः कोई न कोई 'कर्म' बता ही दिया। परन्तु वह है क्या?

योगिनां तु चैतनत्वात् सत्वोत्कर्ष निमित्तं सर्वज्ञत्वमुपपन्नमित्यनुदाहरणम्। (पृष्ठ २६)

अर्थात् योगियों का उदाहरण जो दिया गया वह प्रासांगिक नहीं है। क्यों? इसलिये कि योगी तो चेतन हैं इसलिये सतोगुण के उत्कर्ष से वे सर्वज्ञ हो जाते हैं।

यहाँ उदाहरण की सुसंगतता असिद्ध करने के लिये कहा गया कि योगी लोग चेतन होने के कारण सत्व गुण के उत्कर्ष से ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ प्रधान का खंडन तो किया नहीं। हाँ इत.. माना कि केवल प्रधान सर्वज्ञ नहीं। जैसे कहा जाय कि भांग से नशा होता है। कोई कहने लगे कि भांग अचेतन है फिर उसको नशा कैसे। तो कहा जायगा कि यदि चेतन को पिला दी जाय तो नशा हो जायगा। इससे भांग का नशीलापन खंडित नहीं हुआ।

यहाँ बीच में एक मनोरंजकवाद खड़ा कर दिया गया (शांकर भाष्य में ऐसे स्थलों की कमी नहीं) प्रश्न यह है कि ब्रह्म के सर्वज्ञत्व से क्या तात्पर्य है? "सर्वज्ञानशक्तिमत्व" से या 'सर्वविषयज्ञान' से। अर्थात् क्या यह माना जाय कि ब्रह्म में सर्वज्ञान की शक्ति है या सब विषयों का ज्ञान है।

ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातंत्र्यं ब्रह्मणो हीयते (पृष्ठ २५)

अर्थात् यदि ब्रह्म सर्वज्ञ है और उसका ज्ञान नित्य है तो संसार में जो क्रियायें हुआ करती हैं उनके जानने के लिये ब्रह्म स्वतंत्र न रहेगा। क्योंकि उसका ज्ञान बदलेगा नहीं।

अथानित्यं तदिति ज्ञानक्रियाया उपरमेतापि ब्रह्म, तदा सर्व-ज्ञान शक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमापतति।

और यदि वह ज्ञान अनित्य है तो ब्रह्म कभी ज्ञान क्रिया से उपरत भी हो जायगा। अर्थात् ब्रह्म कभी ज्ञान क्रिया को नहीं भी करेगा। इसलिये यही मानना चाहिये कि ब्रह्म की सर्वज्ञता से 'सर्वज्ञान शक्ति' ही अभिप्रेत है।

यह था पूर्वपक्ष। इसका उत्तर देते हैं:—

(१) कथ नित्यज्ञान क्रियत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति।

(२) यस्य हि सर्वविषयावभासनक्षमं ज्ञानं नित्यमस्ति सोऽसर्वज्ञ इति विप्रतिषिद्धम्।

(३) अनित्यत्वे हि ज्ञानस्य कदाचिज्जानाति कदाचिन्नजानाति- इति असवज्ञत्व मपि स्यात्।

(४) न.सौ ज्ञाननित्यत्वे दोषोऽस्ति।

(५) ज्ञानानित्यत्वे ज्ञान विषयः स्वातन्त्र्यव्यपदेशो नोपापद्यत इति चेन्न। प्रततौष्ण्य प्रकाशेऽपि सवितरि दहति प्रकाशयतीति स्वातंत्र्य व्यपदेश दर्शनात्। (पृष्ठ २७)

अनुवाद—

(१) ज्ञानक्रिया के नित्य होने से सर्वज्ञत्वकी हानि कैसे ?

(२) जिसके ज्ञान में सब विषयों पर प्रकाश डालने की क्षमता नित्य हो वह असर्वज्ञ कैसा ?

(३) यदि ज्ञान अनित्य होगा तो कभी जानेगा कभी नहीं। इसीलिये असर्वज्ञ होगा।

(४) इसलिये ज्ञान के नित्यत्व में कोई दोष नहीं।

(५) यदि कहो कि ज्ञान के अनित्य होने पर ज्ञानी को ज्ञान के विषय में स्वतंत्र न कह सकेंगे। तो यह ठीक नहीं। क्योंकि यद्यपि सूर्य की प्रकाश शक्ति और दहन शक्ति निरन्तर है फिर भी कहते हैं कि वह इसको प्रकाश करने या उसको जलाने में स्वतंत्र है।

यहाँ युक्तियों की डोर को उलझा दिया गया है। यदि पाठकगण समझना चाहते हैं तो उनको धैर्यपूर्वक पहले इस डोर को सुलझा लेना चाहिये।

ज्ञाता और ज्ञेय में वही सम्बन्ध नहीं है जो सूर्य्य और प्रकाश में है। ज्ञाता का ज्ञान ज्ञेय के आश्रित है। और ज्ञेय की अपेक्षा से बदलता

(३) उस जीव को ज्ञान के लिये शरीर आदि की अपेक्षा हुई।

(४) ब्रह्म को नहीं। ब्रह्म विना शरीर के भी ज्ञान-प्राप्त करता है।

यह चारों वाक्य शंकरस्वामी को मान्य हैं। अलग अलग। परन्तु यदि चारों को मिला कर पढ़ा जाय तो विचित्र परिस्थिति बन जाती है। यदि ब्रह्म ज्ञानी है और विना शरीर की अपेक्षा के ज्ञानी है तो उसको देहादि की उपाधि कैसे लगी और फिर वह देहादि के फंदे में क्यों आया? घटाकाश को आकाश से भिन्न समझने वाले तो घट और आकाश दोनों से भिन्न अज्ञानी जीव हैं। ब्रह्म को जीव समझने वाला इनसे इतर कौन है? यदि आकाश ही एक मात्र सत्ता होती और वह भी होती सर्वज्ञ तो वह कभी अपने को घर, करक, गिरिगुफा आदि की उपाधि में न डालती। और यदि मिट्टी से बने हुये वास्तविक घड़ा आदि न होते तो अज्ञानी जीव को भी घटाकाश आदि का अलग ज्ञान न होता।

आप आकाश का दृष्टान्त देकर कहते हैं :—

तथेहापि देहादि संघातोपाधि संबन्धाविवेककृतेश्वर संसारिभेद मिथ्याबुद्धिः।

अर्थात् देहादि संघात की उपाधि के सम्बन्ध से उत्पन्न हुये अविवेक के कारण ईश्वर और जीव का भेद मिथ्या है।

यहाँ अविवेक किस को है? देहादि संघात को या ब्रह्म को या देहादि संघात के कारण ब्रह्म को। देहादि संघात अचेतन हैं। अचेतन को मिथ्या बुद्धि कैसी? ब्रह्म सर्वज्ञ है उसको मिथ्याबुद्धि कैसी? यदि कहो कि देहादि संघात के कारण ब्रह्म को। तो यह क्यों कहते हो कि ब्रह्म को देहादि की अपेक्षा नहीं, वह स्वतंत्र है।

यदप्युक्तं प्रधानस्यानेकात्मकत्वात् मृदादिवत् कारणत्वोपपत्ति-र्नासंहतस्य ब्रह्मण इति तत् प्रधानस्याशब्दत्वेनैव प्रत्युक्तम्।

"यह जो कहा कि मिट्टी के समान प्रकृति में कई चीज़ें है उनके

संघात से सृष्टि उत्पन्न हो सकती है ब्रह्म से नहीं। इसका खंडन तो इस बात से हो जाता है कि वेद ने प्रधान का खंडन किया है।"

यहाँ एक प्रबल आक्षेप है जिसका उत्तर 'अशब्द' कह कर टाल दिया गया। हमारे सामने एक वृक्ष है। वृक्ष पृथ्वी जल आदि के अनेक समुदायों से बना है। संघात इसका मूल है। यदि केवल एक अद्वितीय और अपरिणामी ब्रह्म ही होता तो उसके उपादान से वृक्ष कैसे बनता। इसका कोई उत्तर नहीं दिया गया। रही 'अशब्द' की बात। इसको हम ऊपर समझा चुके हैं।

इसके पश्चात् छः सूत्रों में श्री शंकराचार्य जी ने विचारे सांख्य को ही निरन्तर रगड़ा है यद्यपि बादरायण के सूत्रों में न तो सांख्य के प्रधान का उल्लेख है और न ‌ ‌ ‌ में वह पूर्व पक्ष मिलता है जिसको खड़ा करके उन सूत्रों के अर्थ किये गये हैं।

सूत्रों के सीधे साधे अर्थ यह हैं :—

६—गौणश्चेन्नात्म शब्दात्।

अर्थात् ईक्षण गौण अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है क्योंकि ब्रह्म के लिये 'आत्म' शब्द आया है।

कभी-कभी ईक्षण गौण अर्थ में भी आता है जैसे आँख देखती है। (यहाँ आँख नहीं देखती अपितु आत्मा आँख द्वारा देखता है) या क़लम लिखती है (लेखक क़लम से लिखता है)। परन्तु 'आत्मा' शब्द बताता है कि ब्रह्म में ईक्षण स्वयं अपना है। ब्रह्म किसी का उपकरण नहीं।

७—तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्।

तत् = ब्रह्म तन्निष्ठ = वह जीव जिसकी ब्रह्म में निष्ठा है।

---

* बादरायण ने ३-३-११ (आनन्दादयः प्रधानस्य) में प्रधान शब्द ब्रह्म के अर्थ में प्रयुक्त किया है और शंकर स्वामी ने भी इसी अर्थ में लिया है। (पृ० ३८५)

नाम और रूप जो न तत्व हैं न अतत्व। व्यक्त नहीं हैं और व्यक्त होने वाले हैं (अव्याकृते व्याचिकीर्षिते)। व्याचिकीर्षण बिना इच्छा के कैसे होगा ? और इच्छा बिना इष्ट वस्तु के कैसे होगी ? और ब्रह्म से इतर चेतन की सिद्धि होने से द्वैत की सिद्धि होगी, यदि कहो कि नाम और रूप ब्रह्म का ही भाग हैं तो व्यक्त अव्यक्त का झमेला कैसे सुलझेगा ? जो न तत्व है न अतत्व वह 'कर्म' का काम कैसे देगा ? फिर एक और प्रश्न होगा। यदि यह अनिर्वचनीय नाम और रूप ईश्वर-ज्ञान के विषय हैं तो ईश्वर उनको जानता है, क्योंकि सर्वज्ञ है। जब जानता है तो अनिर्वचनीय कैसे ? यदि कहो कि इनको ज्ञान का विषय तो कह सकते हैं वचन का विषय नहीं। अर्थात् ज्ञात हैं वचनीय नहीं, तो भी ठीक नहीं क्योंकि जब 'नाम' और 'रूप' यह दो शब्द प्रयुक्त कर दिये गये तो वचनीय' हो गये। यदि कहो कि भलीभांति वचनीय नहीं तो सर्वज्ञ ब्रह्म सम्यक् ज्ञान होने पर उनके लिये सम्यक्-शब्द क्यों नहीं सुझा देता ? फिर भी अनिर्वचनीयता नाम और रूप में तो न रहेगी यह दोष बोलने वाले का होगा कि उसके पास एक भाव के व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं।

यदि कहो कि नाम और रूप ईश्वर के ज्ञान के विषय नहीं किन्तु अज्ञान या मिथ्याज्ञान के विषय हैं तो सर्वज्ञता कहाँ रहेगी ?

सारांश यह है कि युक्ति-रूपी घट में छिद्र ही छिद्र हैं। ऊपर छिद्र पेंदे में छिद्र, दांई ओर छिद्र, बांई ओर छिद्र। पानी ठहर कहीं नहीं सकता।

अब युक्ति न देकर भावुकता को अपील करते हैं :—

"यत् प्रसादाद्धि योगिनामप्यतीतानागत विषयं प्रत्यक्षं ज्ञान-मिच्छन्ति योगशास्त्रविदः, किमुवक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्य सृष्टि स्थितिसंहृतिविषयं नित्यज्ञानं भवतीति। (पृष्ठ २७)

अर्थात् जिस ईश्वर की कृपा से योगी लोग भूत और भविष्यत् को

प्रत्यक्ष कर लेते हैं उसके सृष्टि, स्थिति और संहार-विषयक नित्यज्ञान में क्या संदेह रह सकता है।

क्या इसको युक्ति कह सकते हैं ?

यह जो कहा कि 'ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपनित्यत्वे ज्ञानसाधनापेक्षानुपपत्तेः' अर्थात् ब्रह्म का ज्ञानस्वरूप होना नित्य है। उसको ज्ञान के लिए भौतिक मस्तिष्क की आवश्यकता नहीं, यह ठीक ही है। परन्तु इससे ज्ञान के उपकरणों की अनावश्यकता बताई गई है जैसे मस्तिष्क, चक्षु आदि। ज्ञेय की अनावश्यकता नहीं। बिना मस्तिष्क के तो ज्ञान का व्यापार हो सकता है परन्तु बिना ज्ञेय के नहीं। यदि ज्ञेय को अव्यक्त रूप में भी स्वीकार करेंगे तो अद्वैत की सिद्धि न हो सकेगी।

अब पूर्वपक्षी प्रश्न करता है कि जब तुम ईश्वर से अन्य किसी संसारी जीव को मानते ही नहीं तो यह क्यों कहते हो कि 'संसारिणः शरीराद्यपेक्षा ज्ञानोत्पत्तिर्नेश्वरस्य' इति (पृष्ठ २८) अर्थात् ज्ञान के लिए शरीर की आवश्यकता जीव को है ईश्वर को नहीं।

इसका उत्तर शं० स्वा० देते हैं:—

सत्यं, नेश्वरादन्यः संसारी। तथापि देहादिसंघातोपाधिसंबन्ध इष्यत एव। घटकरकगिरिगुहाद्युपाधि संबन्ध इव व्योम्नः।

(पृष्ठ २८)

सत्य है, ईश्वर से अन्य कोई जीव नहीं, तथापि देह आदि संघात के उपाधि सम्बन्ध से ऐसा कहा जाता है। जैसे घड़े, कमण्डलु, पहाड़ की गुफा आदि की उपाधि के सम्बन्ध से आकाश को अलग अलग मानते हैं।

थोड़ा सा विचारने का स्थान है। ऊपर के वाक्य को पढ़ कर विश्लेषण कीजिये :—

(१) ईश्वर से अन्य और कुछ नहीं।

(२) देहादि उपाधि के सम्बन्ध से वही ब्रह्म जीव हो गया।
जैसे घटाकाश आदि।

८—हेयत्वावचनाच्च ।

अर्थात् अहेयत्ववचनात् ।

ब्रह्म वह है जो जीव का अन्तिम लक्ष्य है । अन्य लक्ष्य तो सीढी के डण्डों के समान आगे के लक्ष्य तक पहुँचाने के लिये होते हैं अतः हेय होते हैं, अर्थात् उनको पहले ग्रहण करके फिर छोड़ना पड़ता है । परन्तु अन्तिम लक्ष्य अहेय होता है । वहाँ पहुँच कर फिर आगे गति नहीं । ब्रह्म भी वैसा ही अहेय है ।

(९) स्वाप्ययात् ।

'स्वप्न' की क्रिया भी बताती है कि जब जीव सुषुप्ति को प्राप्त होता है तो 'स्वंहि अपीतो भवति' (छा० ६।८।१) अर्थात् अपने आप में लौट जाता है । अर्थात् ब्रह्म आत्मा का भी आत्मा है ।

(१०) गति सामान्यात् ।

ब्रह्म ही सब की गति है । संसार की समस्त गतियों का केन्द्र वही हैं ।

(११) श्रुतत्वाच्च ।

वेद में ऐसा ही है जैसे :

यन्नूनमश्यां गतिं मित्रस्य यायां पथा ।
अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ॥ (ऋ० ५।६४।३)

इस प्रिय, हिंसारहित, मित्र प्रभु के धाम को (शर्मणि) विद्वान् लोग प्राप्त होते हैं (सश्चिरे) उसी मित्र की गति को मैं अवश्य ही प्राप्त होऊं (अश्यां) और ठीक मार्ग से चलूँ (यायाम्) ।

इन सूत्रों में सांख्यमत को घसीटने का कहीं भी स्थल नहीं है । परन्तु श्री शंकराचार्य जी को तो सांख्य मत का विरोध करना था इस लिये कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा इकट्ठा करके सांख्य पर आ टूटे हैं । छान्दोग्यादि उपनिषदों के जिन स्थलों का इन सूत्रों के भाष्य में उल्लेख है उन स्थलों के किसी सांख्यकार कृत भाष्य से यह नहीं दिखा सकते कि अमुक सांख्यकार ने भ्रम फैला रखा था जिनका निराकरण

करने के लिये बादरायण ने यह सूत्र लिखे और शंकराचार्य जी को अपने भाष्य में उनका उल्लेख करना पड़ा।

'ईक्षत्यधिकरण' का केवल तात्पर्य यह है कि जगत् के मूलकारण को एक ज्ञानवती सत्ता बताया जाय। यह उन भौतिकवादियों (लोकायत आदि) के आक्षेपों का समाधान तो हो सकता है जो संसार को बिना ज्ञान के आकस्मिक हीं मानते हैं। परन्तु सांख्य तो प्रधान और पुरुष दोनों को मानता है। 'ईक्षण' पुरुष का स्वभाव है ही। अतः इन सूत्रों को सांख्य-विरोध में पेश करना किसी प्रकार युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता। परन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि शंकर ने एक आक्षेप-योग्य प्रणाली आरम्भ कर दी और अन्य भाष्यकार जैसे रामानुज, निम्बार्क आदि भी उसी लकीर को पीटते चले गये।

शांकर-सांख्य विरोध

(२)

"अनुमान" का अर्थ

किसी शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक व्यौत्पत्तिक अर्थात् धात्वर्थ दूसरा पारिभाषिक। अंगरेजी के शब्द 'कलेक्टर' का धात्वर्थ है इकट्ठा करने वाला'। पैसा इकट्ठा करे वह भी कलेक्टर, टिकट इकट्ठा करे वह भी कलेक्टर और कूड़ा इकट्ठा करे वह भी कलेक्टर। परन्तु इसका पारिभाषिक अर्थ है ज़िले का शासक! इसी प्रकार संस्कृत शब्द 'वृद्धि' का धात्वर्थ है 'बढ़ना'। परन्तु पाणिनि व्याकरण की परिभाषा में "वृद्धिरादैच्" अर्थात् 'आ' 'ऐ' और 'औ' तीन अक्षरों को वृद्धि कहते हैं। 'आ', 'ऐ' और औ' ही क्यों वृद्धि कहलाये, ई या ऊ क्यों नहीं, इसके लिये कोई युक्ति नहीं दी जा सकती। पाणिनि मुनि ने इसी शब्द को उपयुक्त समझा और नियुक्त कर लिया। यह पारिभाषिक शब्द हो गया। संभव है कि पाणिनि से इतर वैयाकरण वृद्धि को इस अर्थ में न लें। यह तो पाणिनि के व्याकरण की ही विशेषता है। धात्वर्थ के लेने का प्रत्येक

पुरुष को अधिकार है जब तक वह शब्द पारिभाषिक न हो। परन्तु पारिभाषिक शब्द का अर्थ उसी शास्त्र के अनुसार लेना पड़ेगा जिससे उस शब्द का सम्बन्ध है। दूसरी स्मरणीय बात यह है कि बाहर के लोग किसी ऐसे शब्द को पारिभाषिक नहीं बना सकते जिसको उसी शास्त्र के विद्वानों ने नहीं माना। परिभाषा बनाने का अधिकार उसी शास्त्र के निर्माताओं को है बाहर वालों को नहीं।

अब 'अनुमान' शब्द को लीजिये। अनुमान का धात्वर्थ है पीछे की माप। न्याय में अनुमान एक प्रमाण है जो प्रत्यक्ष के अनुरूप होता है। अन्य शास्त्रों में अनुमान के अन्य पारिभाषिक अर्थ हो सकते हैं।

श्री शंकराचार्य्य जी ने अपने ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में 'अनुमान' का अर्थ प्रधान या प्रकृति किया है। हमारे विचार में यह सर्वथा अनुचित है। क्योंकि अनुमान का धात्वर्थ 'प्रकृति' नहीं हो सकता। 'अनुमीयते इति अनुमानम्' यह व्युत्पत्ति ठीक है परन्तु इससे बहुत सी चीज़ें अनुमान कहलाने लगेंगी। अनुमान का पारिभाषिक अर्थ प्रधान इसलिये नहीं कि सांख्य शास्त्रों में किसी ग्रन्थकार ने इसको इस अर्थ में नहीं लिया। शंकर स्वामी अपने को सांख्यवादी नहीं कहते। वादरायण को भी सांख्यवादी नहीं बताते। यदि वादरायण का तात्पर्य कपिल या किसी अन्य सांख्यवादी के सिद्धान्तों को खंडन करने का होता तो वे सांख्य की ही किसी परिभाषा को चुनते। अपनी ओर से एक शब्द गढ़ने की क्या आवश्यकता थी? वादरायण को सांख्य के प्रकृति या प्रधान शब्द के चुनने में क्या आपत्ति थी? इससे सिद्ध होता है कि अनुमान का अर्थ प्रधान या प्रकृति करना अन्याय है। वादरायण को ऐसा अभिप्रेत नहीं था। परन्तु शंकराचार्य्य जी ने अनुमान को इसी अर्थ में लिया है। कैसे? नहीं जाने। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या शंकराचार्य को पारिभाषिक शब्द निर्माण करने का अधिकार नहीं। हम कहते हैं कि नहीं। कोई ग्रन्थकर्त्ता अपने पक्ष या सिद्धान्त या शास्त्र में तो परिभाषायें नियत कर सकता है परन्तु अपने विपक्षी के पक्ष में नहीं। उसमें तो उसे

उसी शास्त्र की मर्यादित तथा प्रचलित परिभाषाओं का प्रयोग करना पड़ेगा। यहाँ हम इन सब सूत्रों को देते हैं :—

(१) कामाच्च नानुमानापेक्षा। (वे० १।१।१८)

इसका अर्थ करते हैं :—

कामयितृत्व निर्देशान्नानुमानिकमपि सांख्य परिकल्पितमचेतनं प्रधानमानन्दमयत्वेन कारणत्वेन वापेक्षितव्यम्। (पृष्ठ ३६)

अर्थात् 'काम' शब्द आने से अनुमान अर्थात् सांख्यवादियों के अचेतन प्रधान की अपेक्षा नहीं।

यहाँ प्रधान कहाँ से कूद पड़ा ?

सूत्र का सीधा अर्थ यह है कि "कामना पाये जाने के कारण जीव में आनन्दमय होने का अनुमान नहीं किया जा सकता।"

इससे पहले सूत्र में ब्रह्म और जीव का भेद बताया गया है। ब्रह्म भूमा है और जीव अल्प है। ब्रह्म में किसी चीज़ की कमी नहीं और जीव अपूर्ण होने से पूर्णता की इच्छा किया करता है। जब यह प्रत्यक्ष ही है कि कामना सब जीवों में पाई जाती है तो प्रत्यक्ष के विरुद्ध अनुमान कर लेना कि जीव आनन्दमय भी है नितान्त अयुक्त है। यह है सूत्र का अर्थ। इसमें प्रधान या प्रकृति की ओर संकेत तक नहीं। परन्तु भाष्यकार ने सूत्रकार के मत्थे मन मानें अर्थ मढ़ दिये।

शंकर स्वामी ने हर सूत्र में 'अनुमान' का अर्थ 'प्रधान' नहीं किया जैसे :—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति (१।२।२५)

यहाँ 'अनुमान' का अर्थ लिङ्ग' या गमक' किया है पृ० ८८)। सो ठीक है।

(२) नानुमानमतच्छब्दात्। (१।३।३)

का शब्दिक अर्थ होगा "अनुमान नहीं, क्योंकि इस विषय का कोई शब्द नहीं है।" शंकर स्वामी इसका ऐसा अर्थ करते हैं :—

"नानुमानिकं सांख्य स्मृति परिकल्पितं प्रधान मिह द्युभ्वाद्यायतनत्वेन प्रतिपत्तव्यम् । कस्मात् । अतच्छब्दात्" ।……न ह्यत्राचेतनस्य प्रधानस्य प्रतिपादकः कश्चिच् छब्दोऽस्ति ।

(शां० भा० १।३।३ पृष्ठ ६६)

अर्थात् यहाँ सांख्य कल्पित प्रधान को द्युलोक और पृथ्वीलोक का आयतन नहीं माना जा सकता । क्योंकि ऐसा कोई शब्द नहीं है जो अचेतन प्रधान का प्रतिपादक हो ।

यहाँ 'अनुमान' का अर्थ 'प्रधान' करने के लिये कोई प्रमाण नहीं है । शंकराचार्यजी के इस सूत्र के भाष्य के पहले और पिछले वाक्य विचारणीय हैं :—

(अ) यथा ब्रह्मणः प्रतिपादको वैशेषिको हेतुरुक्तो नैवमर्थान्तरस्य वैशेषिको हेतुः प्रतिपादकोऽस्तीत्याह ।

अर्थात् जैसे ब्रह्म का प्रतिपादक विशेष हेतु दिया इसी प्रकार विशेष हेतु अन्य अर्थ में नहीं दिया जा सकता ।

(आ) अत एव न वायुरपीह द्युभ्वाद्यायतनत्वेनाश्रीयते

अर्थात् इसलिये वायु भी यहाँ द्यौ, भू आदि का आयतन नहीं समझा जा सकता ।

इससे स्पष्ट है कि शंकराचार्य जी के समान 'प्रधान' को विशेषतया कहना सूत्रकार को अभिप्रेत न था । शंकर स्वामी के इन शब्दों से तो केवल इतना प्रकट होता है कि ब्रह्म से इतर और कोई वस्तु द्यौ, भू आदि का आयतन नहीं हो सकती ।

श्री आनंदतीर्थ (मध्वाचार्य) ने अनुभाष्य में इस सूत्र पर लिखा है :—

नानुमानात्मकागमपरि कल्पित रुद्रोऽत्र वाच्यः ।

अर्थात् यहाँ अनुमानात्मक आगम कल्पित रुद्र का अभिप्राय नहीं है ।

श्री शंकर स्वामी ने 'नानुमानमतच्छब्दात्' और 'प्राणभृच्च' दो अलग-अलग सूत्र दिये हैं। श्री रामानुज ने श्री भाष्य में इन दोनों को मिलाकर एक कर दिया है। परन्तु दोनों भाष्यकारों ने 'अनुमान' के पहले का 'न' 'प्राणभृच्च' के साथ भी लगाया है। मेरा विचार भिन्न है। 'प्राणभृत्' के साथ 'च' लगने से प्रतीत होता है कि इसके साथ 'न' की अनुवृत्ति ठीक नहीं है।

(३) आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेदर्शयति च। (१।४।१)

"कुछ लोगों का अनुमान सम्बन्धी सिद्धान्त माना जाय तो ठीक नहीं। क्योंकि शरीर के रूपक का प्रकरण है, मन्त्र में भी ऐसा ही है।"

यह है शाब्दिक अनुवाद ! इसमें प्रकृति या प्रधान के विरुद्ध कुछ नहीं है।

परन्तु शंकराचार्य लिखते हैं :—

"यदुक्तं प्रधानस्याशब्दत्वं तदसिद्धं, कासुचिच्छाखासु प्रधानसमर्पणाभासानां शब्दानां श्रूयमाणत्वात्। अतः प्रधानस्य कारणत्वं वेदसिद्धमेव महद्भिः परमर्षिभिः कपिलप्रभृतिभिः परिगृहीतमिति प्रसज्यते··· अतस्तेषामन्यपरत्वं दर्शयितुं परः सन्दर्भः प्रवर्तते।

(शां० भा० पृष्ठ १४५)

"अर्थात् यह कहा जाता है कि कुछ शाखाओं में प्रधान को जगत् का कारण माना है और कपिल आदि महर्षियों का ऐसा सिद्धान्त रहा है। अतः अब यह बताया जायगा कि उनके अर्थ ही कुछ और हैं।" इसके उदाहरण लीजिये :—

(अ) काठके हि पठ्यते—'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः' (१।३।११)······स्मृतिप्रसिद्धं प्रधानमभिधीयते।

कठ उपनिषद् में कहा है कि महत्तत्व से परे अव्यक्त है। अव्यक्त से परे पुरुष। यहाँ अव्यक्त से प्रधान अभिप्रेत है।

शंकर स्वामी का उत्तर—

नह्यत्र यादृश स्मृति प्रसिद्धं स्वतन्त्रं कारणं त्रिगुणं प्रधानं तादृशं प्रत्यभिज्ञायते । शब्दमात्रं ह्यत्राव्यक्तमिति प्रत्यभिज्ञायते । स च शब्दो न व्यक्तमव्यक्तमिति यौगिकत्वादन्यस्मिन्नपि सूक्ष्मे सुदुर्लक्ष्ये च प्रयुज्यते । (शां० भा० पृष्ठ १४५)

यहाँ सांख्यवादियों के तीन गुण वाले प्रधान का तात्पर्य नहीं है। अव्यक्त यौगिक शब्द है। जो व्यक्त न हो वह अव्यक्त। कोई चीज अव्यक्त हो सकती है जो सूक्ष्म हो और जिसका लक्षण न किया जा सके।

हमारी समालोचना—कितना निर्बल समाधान है ? जब यह कहा कि महत्तत्व से परे अव्यक्त है और अव्यक्त से परे पुरुष। तो अव्यक्त का अर्थ प्रधान ही हो सकता है अन्य कुछ नहीं। क्योंकि 'महत्तत्व', 'अव्यक्त' और 'पुरुष' तीनों सांख्य के पारिभाषिक शब्द हैं। 'अव्यक्त' के यौगिक अर्थ लेकर भी मानना पड़ेगा कि पुरुष के अतिरिक्त कोई सूक्ष्म, दुर्लक्ष्य वस्तु है। दुर्लक्ष्य हो, परन्तु है तो। प्रकृति भी दुर्लक्ष्य ही है क्योंकि प्रकृति की साम्यावस्था का लक्षण विकृति के शब्दों में किया जाता है। केवल दुर्लक्ष्य कह देने से तो द्वैत-सिद्धि में भेद नहीं आता।

शं० स्वा०—या तु प्रधानवादिनां रूढ़िः सा तेषामेव पारिभाषिकी सती न वेदार्थ निरूपणे कारणभावं प्रतिपद्यते। न च क्रममात्रसामान्यात् समानार्थ प्रतिपत्तिर्भवत्यसति तद्रूप प्रत्यभिज्ञाने। न ह्यश्वस्थाने गांपश्यन्नश्वोऽयमित्यमूढोऽध्यवस्यति।
(शां० भा० १।४।१ पृष्ठ १४५-१४६)

प्रधानवादियों ने जो शब्द रूढ़ि बना लिया है वह तो उन्हीं की परिभाषा है। वेदार्थ के निरूपण में उसका उपयोग नहीं। क्रम मात्र

की समानता से तो अर्थ की समानता नहीं होती। घोड़े के स्थान में गाय बाँध दी जाय तो कोई बुद्धिमान उसको घोड़ा नहीं मान सकता।

हमारी समालोचना—जब कठोपनिषद् में सांख्य की ही परिभाषा का प्रयोग हुआ है तो शंकर स्वामी उसको कैसे नहीं मानते? प्रश्न तो कठ-उपनिषद् का है। वहाँ 'महत्' और 'पुरुष' के मध्य में 'अव्यक्त' पड़ा है। उसका अर्थ वही लेना होगा जो प्रधान का है। मिट्टी से, घड़ा, शरावा, नांद आदि सभी बनते हैं। मिट्टी उनका उपादान है। उस मिट्टी में ये सब चीजें अव्यक्त हैं। यही उपादान का लक्षण है। इसी को आप परिभाषा कह सकते हैं। इसका कोई और अर्थ हो ही नहीं सकता। यह ठीक है कि क्रम मात्र की समानता से अर्थ की समानता नहीं होती। परन्तु यहाँ तो पूर्वापर प्रकरण और प्रसंग का प्रश्न है। घोड़े के स्थान में गाय बाँधने का नहीं। यदि अश्व के स्थान में अश्व ही बाँधा जाय और उसका नाम अश्व न कह कर 'तुरंग' कह दिया जाय तो कोई बुद्धिमान् उसको घोड़ा कहना अस्वीकार न करेगा। यदि 'महत्' और 'पुरुष' के मध्य में 'प्रधान' न कह कर 'अव्यक्त' कह दिया तो केवल शब्दों का भेद है। चीज वही है। घोड़े के स्थान में गाय नहीं किन्तु घोड़े के स्थान में तुरंग है।

शं० स्वा०—शरीरं ह्यत्ररथरूपकविन्यस्तमव्यक्तशब्देन परिगृह्यते।

(शां० भा० १।४।१ पृष्ठ १४६)

"यहाँ रथ का रूपक बाँधने से अव्यक्त शब्द से शरीर का अर्थ लिया गया है।"

हमारी समालोचना—शरीर तो व्यक्त है अव्यक्त नहीं। अभी आप यौगिक अर्थ ले रहे थे वह कहाँ गया?

यहाँ शं० स्वा० ने बड़ी लम्बी चौड़ी व्याख्या इस बात को सिद्ध करने के लिये की है कि अव्यक्त का अर्थ शरीर ही है। यह व्याख्या व्याख्या नहीं। केवल शाब्दिक हेर फेर है। थोड़ा सा सावधानी के साथ पढ़ने से पता लग जाता है कि शांकर पक्ष ठीक नहीं। शं० स्वा०

"अविद्यावतोभोक्तुः" (पृ० १४७) अर्थात् अविद्या-वत् भोक्ता लिखते हैं यह अनुचित है। अविद्या शब्द न तो सूत्र में है न कठ-उपनिषत् के उद्धरण में।

शां० स्वा०—यद्यपि स्थूलमिदं शरीरं न स्वयमव्यक्तशब्दमर्हति, तथापि तस्य त्वारम्भकं भूतसूक्ष्ममव्यक्तशब्दमर्हति। प्रकृति शब्दश्च विकारे दृष्टः। यथा "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्"

(ऋग्वेद सं० ९।४६।४) (शां० भा० १।४।२ पृष्ठ० १४८)

यद्यपि स्थूल शरीर को 'अव्यक्त' नहीं कह सकते। परन्तु उसके आरंभक भूत सूक्ष्म को अव्यक्त कह सकते हैं। विकृति के अर्थ में प्रकृति शब्द का प्रयोग आता है। जैसे ऋग्वेद में कहा है कि 'सोम के साथ गायों को पकाओ" अर्थात् गाय के दूध को। (गाय का दूध कार्य्य है और गाय कारण। यहाँ कार्य के अर्थ में कारण शब्द आ गया)।

हमारी समालोचना—उलट फेर कर वही बात आ गई। स्थूल शरीर को अव्यक्त नहीं कह सकते। तो सूक्ष्म आरम्भक को अव्यक्त कहिये। इसी का नाम तो प्रधान या प्रकृति है। ऋग्वेद के दृष्टान्त से तो और स्पष्ट हो गया। परन्तु हम फिर कहते हैं कि शां० स्वा० का यह कथन ठीक नहीं। 'अव्यक्त' का अर्थ वहाँ 'प्रकृति' ही है न कि विकृत शरीर। चाहे वह सूक्ष्म हो चाहे स्थूल। कठ-उपनिषद् का समस्त प्रकरण पढ़ जाइये और यही परिणाम निकलेगा। घोड़े की जगह बछेड़ा भले ही हो। घोड़े की जगह गाय नहीं है। रही सूत्र की बात, वह अलग है। वहाँ न अव्यक्त है न प्रधान न प्रकृति।

शां० स्वा०—(अ) यदि वयं स्वतन्त्रां कांचित् प्रागवस्थां जगतः कारणत्वेनाभ्युपगच्छेम, प्रसञ्जयेम तदा प्रधान कारण-वादम्। परमेश्वराधीनात्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते न स्वतन्त्रा। सा चावश्याभ्युपगन्तव्या।

(शां० भा० १।४।३ पृष्ठ १४८)

अगर हम जगत् की किसी स्वतन्त्र प्रागवस्था को कारण रूप से मानते तो प्रधान को मानते। परन्तु हम तो स्वतन्त्र प्रागवस्था को मानते नहीं, परमेश्वराधीन मानते हैं। और इसको मानना ही चाहिये। क्यों ?

(आ) अर्थवती हि सा। नहि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिद्धयति। शक्तिरहितस्य तस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः।

(शां० भा० पृष्ठ १४८)

उसका प्रयोजन है। उसके बिना परमेश्वर को स्रष्टा (रचयिता) कैसे सिद्ध करेंगे। यदि ईश्वर शक्तिरहित हो तो प्रवृत्ति नहीं होगी।

(इ) मुक्तानां च पुनरनुत्पत्तिः। कुतः। विद्यया तस्या बीजशक्तेर्दाहात्। अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महासुप्तिः। यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। (शां० भा० पृष्ठ १४६)

इसी के कारण मुक्त जीवों की फिर उत्पत्ति नहीं होती। क्यों ? विद्या से उस बीजशक्ति का दाह हो जाता है। यह बीजशक्ति अविद्या रूपी है। इसी के लिये 'अव्यक्त' शब्द आया है। यह परमेश्वर के आश्रय है। यह मायामयी है। यह एक महासुप्ति (गहरी नींद) है जिसमें संसारी जीव अपने स्वरूप से अनभिज्ञ पड़े रहते हैं।

हमारी समालोचना—इन तीनों संदर्भों पर विचार कीजिये और संगति लगाइये।

जगत् की प्रागवस्था है। बीज शक्ति के रूप में।

परमेश्वराधीन है।

अविद्या रूप है।

विद्या से उसका दाह हो जाता है।

इससे मुक्त जीव फिर उत्पन्न नहीं होते।

अब अविद्या के समझने का यत्न कीजिये। "अतस्मिँस्तद्बुद्धि"।

जो जैसा न हो उसको वैसा मानना अविद्या है। यह अविद्या परमेश्वर के आधीन कैसी? और इस प्रकार की अविद्या रूपी बीजशक्ति से सृष्टि की उत्पत्ति कैसे? फिर उसका दाह किसकी विद्या से होता है? ईश्वर की विद्या से या मुक्त जीवों की विद्या से? पहली बात असंगत है। दूसरी भी असंगत ही है क्योंकि जीव तो वस्तुतः ब्रह्म ही है। किसकी विद्या और किस की अविद्या?

न जाने मुक्त जीवों का प्रसंग ही कैसे चल पड़ा? अवसर तो था नहीं। फिर मुक्त जीवों का अलग अस्तित्व है या नहीं? यदि है तो अविद्या के दहन के पश्चात् भी उनका व्यक्तित्व कैसे स्थित रहा? यदि नहीं तो मुक्तजीव कहाँ से कूद पड़े?

शब्दबाहुल्य में अर्थशून्यता का यह एक अच्छा नमूना है।

जो प्रकृति को केवल उपादान कारण मानते हैं और ईश्वर को साथ ही साथ ओत प्रोत निमित्त कारण। उनके मत पर यह आक्षेप आ ही नहीं सकते।

शां० स्वा०—तदिदं 'महतः परमव्यक्तम्' इत्युक्तमव्यक्त प्रभवत्वान्महतः, यदा हैरण्यगर्भी बुद्धिर्महान।

(शां० भा० १।४।३ पृष्ठ १४६)

यह जो कहा कि महत् के परे अव्यक्य है। इसका अर्थ यह है कि अव्यक्त से महत् उत्पन्न हुआ है। महत् तत्व क्या है? हिरण्यगर्भ सम्बन्धी बुद्धि।

यदा तु जीवो महांस्तदाप्यव्यक्ताधीनत्वाज्जीवभावस्य महतः परमव्यक्तमित्युक्तम्। अविद्याह्यव्यक्तम्। जीवस्य सर्वः संव्यवहार संततो वर्तते। (पृ० १४६)

यदि जीव को महत्तत्व कहो तो भी ठीक है क्योंकि जीव भाव अव्यक्त के आधीन है अविद्या ही अव्यक्त है। जीव का सब व्यवहार अविद्या के द्वारा ही होता है।

हमारी समालोचना—यहाँ दो विकल्प दिये। दोनों असंगत और अटकल मात्र। अविद्या अव्यक्त है और उससे हिरण्यगर्भ सम्बन्धी बुद्धि की उत्पत्ति हुई है। यह कैसे?

शां० स्वा०—अत्राह सांख्य :—'ज्ञेयत्वावचनात्' इत्यसिद्धम्। कथम्। श्रूयतेह्युत्तरत्राव्यक्तशब्दोदितस्य प्रधानस्य ज्ञेयत्ववचनम् 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्यतं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।" (का० २।३।१५) (शां० भा० १।४।५ पृष्ठ १५१)

सांख्य कहता है "ज्ञेयत्वावचनात्"; सूत्र सिद्ध नहीं। क्यों? इससे आगे कठोपनिषत् २।३।१५ में प्रधान का ज्ञेयत्व कहा है।

हमारी समालोचना—आप सांख्य का कहीं ऐसा कथन नहीं बता सकते कि कठोपनिषत् के इस वाक्य में प्रधान का उल्लेख है। यह आप अपनी ओर से सांख्य की प्रतिपत्तियाँ कल्पित करते हैं और फिर उनका खांडन करते हैं जिससे सांख्य बदनाम हो और यह प्रकट किया जाय कि वादरायण कपिल के विरोधी थे। इसी सूत्र के भाष्य में आप को स्वयं लिखना पड़ा कि—

नहि प्रधान मात्रं निचाय्य मृत्युमुखात् प्रमुच्यत इति सांख्यैरिष्यते। चेतनात्मविज्ञानाद्धि मृत्यु मुखात् प्रमुच्यते इति तेषामभ्युपगमः। (शां० भा० १।४।५ पृष्ठ १५१)

अर्थात् सांख्यों को ऐसा इष्ट नहीं है कि प्रधान मात्र के ज्ञान से मृत्यु मुख से छूट जाते हैं। वे तो चेतन आत्मा के विज्ञान से ही मृत्यु से छुटकारा मानते हैं।"

नास्तिकों के भौतिकवाद को आप अपने खराडन का लक्ष्य बनाते तो ठीक भी था। परन्तु सांख्यों के प्रधान को लक्ष्य बनाना तो कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि सांख्य न केवल प्रधान को ही मानता है अपितु चेतनात्मा पुरुष को भी।

शां० स्वा०—

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च । (१।४।६)

इतश्च न प्रधानस्याव्यक्त शब्द वाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा ।

(शां० भा० पृष्ठ १५१)

नैवं प्रधानविषयः प्रश्नोऽस्ति । (शां० भा० पृष्ठ १५२)

प्रधानकल्पनायां तु न वरप्रदानं न प्रश्नो न प्रति वचनमिति वैषम्यम् । (शां भा० पृष्ठ १५४)

इस सूत्र में प्रधान का विषय नहीं है ।

हमारी समालोचना—सूत्र में प्रधान का खण्डन भी नहीं है। फिर 'प्रधान' के अप्रासंगिक होने का उल्लेख भी अयुक्त है। यदि कोई सांख्यकार आग्रह करता कि यहाँ प्रधान का उल्लेख है तब तो कहा भी जाता ।

शां० स्वा०—महद्वच्च । (१।४।७)

यथा महच्छब्दः सांख्यैः सत्तामात्रेऽपि प्रथमजे प्रयुक्तो न तमेव वैदिकेऽपि प्रयोगेऽभिधत्ते । 'बुद्धेरात्मा महान्परः' (का० १।३।१०), महान्तं विभुमात्मानम् (का० १।२।२२), 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् (पर्व ३।८)

इत्येवमादावात्मशब्द प्रयोगादिभ्यो हेतुभ्यः । तथा व्यक्त शब्दोऽपि न वैदिके प्रयोगे प्रधानमभिधातुमर्हति ।

(शा० भा० पृष्ठ १५५)

हमारी समालोचना—यहाँ भी प्रधान का प्रसंग नहीं है। सूत्र का अर्थ यह है "और महत् के समान।" अर्थात् जैसे 'महत्' शब्द कई अर्थों में आता है। और परमात्मा का भी बोधक है इसी प्रकार अन्य शब्द भी अनेक अर्थ देते हैं। ऊपर जो आपने उदाहरण दिये हैं वहाँ 'महान्' या 'महत्' ब्रह्म के अर्थों में ही आया है। यह ठीक है। परन्तु

सूत्र यह तो नहीं कहता कि अन्यत्र कहीं 'महत्' शब्द प्रधान के अर्थों में नहीं आता।

आपकी यह अनोखी युक्ति है कि महत् शब्द कहीं-कहीं परमात्मा का वाचक है इसलिये 'अव्यक्त' शब्द कठोपनिषत् के १।३।११ में प्रधान का वाचक नहीं। वहाँ तो स्पष्ट लिखा है कि 'अव्यक्तात् पुरुषः परः' अर्थात् अव्यक्त से परे पुरुष है। इसलिये सिद्ध है कि अव्यक्त वह वस्तु है जो पुरुष से इस ओर हो क्योंकि पुरुष उसके परे हैं। यह हो सकता है कि अन्य स्थानों पर अव्यक्त परमात्मा का भी वाचक हो। परन्तु इससे प्रधान के अस्तित्व का खण्डन नहीं होता। श्री शंकर स्वामी को सांख्य से चिढ़ सी प्रतीत होती है। अतः जहाँ प्रसंग नहीं वहाँ भी वह सांख्य का विरोध कर बैठते हैं। कपिल का सांख्य यह तो कहता नहीं कि आप ब्रह्म-वाचक शब्दों को भी प्रधान-वाचक बना लें। प्रधान प्रधान है और ब्रह्म ब्रह्म। यौगिक अर्थों में तो प्रधान को ब्रह्म के अर्थों में और ब्रह्म को प्रधान के अर्थों में भी ले सकते हैं। परन्तु प्रसंगवित् होना चाहिये। "महत् वच्च" सूत्र में 'वत्' शब्द बताता है कि 'महत्' कहीं-कहीं प्रधान की पहली विकृति को भी बताता है और और कहीं-कहीं ब्रह्म को भी। इससे प्रधान के अस्तित्व का खण्डन नहीं होता। न यह सिद्ध होता है कि बादरायण सांख्य के विरोधी हैं।

शांकर-सांख्य-विरोध

(३)

'अजा' शब्द।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में एक वाक्य हैं :—

'अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगाम जोऽन्यः।

(श्वे० ४।५)

इसका सीधा अर्थ यह है कि तीन सत्तायें अनादि और अनन्त

हैं। इनका जन्म नहीं होता। इनको अज या अजा कहा है। एक उपादान है जो 'अजा' है। उसमें लोहित, शुक्ल और कृष्ण अर्थात् रजोगुण, सतोगुण और तमोगुण तीन गुण हैं। उसी से समस्त सृष्टि के अन्यान्य पदार्थ बनते हैं। एक अज अर्थात् जीव उसका भोक्ता है और दूसरा अज अर्थात् परमात्मा उसको नहीं भोगता। लगभग इसी अर्थ का 'द्वासुपर्णा' आदि ऋग्वेद का मंत्र है जो श्वेताश्वतर में भी है।

यदि इस अर्थ को माना जाय तो सांख्य की प्रकृति श्वेताश्वतर से सिद्ध है। यदि न माना जाय तो क्या अर्थ किया जाय? क्योंकि शब्द स्पष्ट हैं। न किंचिदपि तिरोहितमस्ति। परन्तु शंकर स्वामी को यह स्वीकृत नहीं। वे वेदान्त के पहले अध्याय के ४ थे पाद के तीन सूत्रों (८-१०) में इसका विचित्र रीति से विरोध करते हैं। हम शंकर स्वामी के शब्दों में समस्त प्रश्नोत्तर को रखते हैं।

सांख्य-विरोधी—नन्वजाशब्दश्छागायां रूढः।

(शां० भा० पृष्ठ १५५)

अरे! अजा का अर्थ तो बकरी है।

सांख्य-वादी—बाढम् सा तु रूढिरिहनाश्रयितुं शक्या, विद्या प्रकरणात्। (शां० भा० पृष्ठ १५५)

हाँ है तो! परन्तु यह रूढि यहाँ कैसे लगेगी? यहाँ तो विद्या का प्रकरण है।

तस्माच्छ्रुतिमूलैव प्रधानादि कल्पना कापिलानामिति।

(पृष्ठ १५६)

इसलिये कपिल के मत में जो प्रधान है वह श्रुति मूलक है श्रुति के विरुद्ध नहीं।

शं० स्वा० का निजमत—नानेन मंत्रेण श्रुतिमत्त्वं सांख्य-वादस्य शक्यमाश्रयितुम्। नह्ययं मन्त्रः स्वातन्त्र्येण कंचिदपि वादं

समर्थयितुमुत्सहते । सर्वत्रापि यया कयाचित्कल्पनयाऽजात्वादि संपादनोपपत्तेः । सांख्यवाद एवेहाभिप्रेत इति विशेषावधारण-कारणाभावात् । चमसवत् ।

शंकर स्वामी कहते हैं कि इस मंत्र से सांख्य का श्रुति मूलत्व सिद्ध नहीं होता। यह मन्त्र तो स्वतन्त्र रूप से किसी वाद का समर्थन नहीं करता। किसी न किसी प्रकार 'अजात्व' तो सभी वादों में लग जाता है। जैसे बृहदारण्यक के २।२।३ में 'चमस' शब्द का विशेषण न होने से इसका चमचे के स्थान में अन्य अर्थ भी ले लिया गया वैसा ही यहाँ भी 'अजा' का प्रकृति अर्थ न लेकर अन्य अर्थ लिया जा सकता है।

हमारी आलोचना—शंकर स्वामी का यह समाधान किसी प्रकार भी युक्तिसंगत नहीं। श्वेताश्वतर में 'अजा' के इतने विशेषण दिये हैं कि इसका और कुछ अर्थ हो ही नहीं सकता और न शंकर स्वामी ने कोई बताया। सूत्र में भी यह नहीं है कि 'चमसे' का उदाहरण 'अजा' शब्द विषयक है। इस सूत्र के बहाने से सांख्य का खण्डन एक विचित्र बात है। आप लिखते हैं कि अजा' तो किसी वाद में लग जायगा। फिर आप को सांख्य के खण्डन का क्या अधिकार है? और यदि 'अजा' सभी वादों से सम्बन्ध रखता है तो आप ने इस मन्त्र को क्यों चुना? मूल सूत्र में तो कुछ है नहीं।

शां० स्वा०—भूतत्रयलक्षणैवेयमजा विज्ञेया न गुणत्रय-लक्षणा। कस्मात्। तथा ह्येके शाखिनस्तेजोबन्नानां परमेश्वरादु-त्पत्तिमाम्नाय तेषामेव रोहितादि रूपतामामनन्ति । 'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लतदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इति ।

(शां० भा० १।४।६ पृष्ठ १५६)

यहाँ 'अजा' को तीन भूतों के लक्षणवाली मानना चाहिये न कि तीन गुणों वाली, क्यों? इस लिये कि एक शाखा वाले तेज, जल और अन्न की परमेश्वर से उत्पत्ति मानते हैं और कहते हैं कि अग्नि में जो

लाली है वह तेज की, जो सफेदी है वह जलों की और जो कालापन है वह अन्न का।

हमारी समालोचना—इससे भी अधिक हास्यप्रद समाधान क्या कोई हो सकता है? उस शाखा में 'अजा' शब्द तो आया भी नहीं है। वहाँ तो अग्नि की लाली, श्वेतता और कृष्णता का वर्णन है। होम में तीन प्रकार के पदार्थ जलाये जाते हैं उनमें तेज, जल और अन्न रहता है, इत्यादि। अपने मत की पुष्टि के लिए कहाँ से कहाँ उदाहरण दे दिया? श्वेताश्वतर के शब्द तो बड़े स्पष्ट हैं। वहाँ एक 'अजा' स्त्रीलिङ्ग है और दो अज पुल्लिङ्ग। "जीवेशौ" ऐसा आया भी कई स्थलों पर है।

शां० स्वा०—तथेहापि 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति। किंकारणं ब्रह्म' (श्वे० १।१) इत्युपक्रम्य 'ते ध्यान योगानुगता अपश्यन् देवात्म-शक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् (श्वे० १।३) इति पारमेश्वर्याः शक्तेः समस्त जगद्विधायिन्या वाक्योपक्रमेऽवगमात्। वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु इति 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः" (श्वे० ४।१०।११) इति च तस्या एवावगमान्न स्वतन्त्रा काचित् प्रकृतिः प्रधाने नामाजामन्त्रेणाम्नायत इति शक्यते वक्तुम्। (शां० भा० १।४।६ पृष्ठ १५६, १५७)

श्वेताश्वतर में प्रश्न उठाया है "ब्रह्मवादी कहते हैं। ब्रह्म किसका कारण है" यहाँ से आरम्भ करके कहा है "उन्होंने ध्यानयोग से ईश्वर की आत्मशक्ति को अपने गुणों से युक्त देखा"। इससे पता चलता है कि परमेश्वर की शक्ति से ही समस्त जगत् बनता है। यह भी लिखा है कि माया को प्रकृति समझो और मायी को महेश्वर। "जो एक योनि का अधिष्ठाता है" (श्वे० ४।१०।११) इससे ज्ञात होता है कि 'अजा' वाले ऊपर के मन्त्र से किसी स्वतन्त्र प्रकृति या प्रधान की सिद्धि नहीं होती।

हमारी समालोचना—परमेश्वर की शक्ति को जगत् का कारण मानना 'प्रधान' या 'प्रकृति' के उपादानत्व का खण्डन नहीं करता। यदि कहा जाय कि हलवाई ने मिष्ठान्न बनाया तो इससे आटे, घी या शक्कर का खण्डन नहीं होता। आप कहते हैं कि 'अजावाले' मन्त्र में प्रधान का उल्लेख नहीं। अजी वहाँ तो स्पष्ट एक 'अजा' 'भुक्तभोगा' है और दूसरा भोक्ता 'अज' है। ईश्वर की शक्ति को अजा तो कह सकते थे परन्तु 'भुक्तभोगा' कैसे कहेंगे और 'अनुशेते' तथा 'जहात्येनां' का क्या अर्थ करेंगे?

आपने कई स्थलों पर यह बल दिया है कि "न स्वतन्त्रा काचित् प्रकृतिः" अर्थात् कोई स्वतन्त्र प्रकृति नहीं। यदि 'स्वतन्त्र' का अर्थ आप लेते हैं 'निजतन्त्र' वाली, तो ठीक है। उपादान कभी स्वतन्त्र नहीं होता। वह कर्ता का परतन्त्र होता है। उसमें बनने की योग्यता है बनाने की शक्ति नहीं इसीलिये सांख्य में कहा भी है :—

"स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता" (सांख्य ३।५६)

वह सर्वज्ञ और सबका कर्त्ता है। परन्तु यदि आप स्वतन्त्र का यह अर्थ लेते हैं कि प्रधान या प्रकृति रूपी कोई उपादान कारण सृष्टि का नहीं, ब्रह्म ही उपादान है। तो यह ठीक नहीं। श्वेताश्वतर में स्पष्ट लिखा है कि माया शब्द प्रकृति का वाचक है और मायी परमेश्वर का। इससे प्रकृति का अस्तित्व तो स्पष्टतया सिद्ध है। यही अजा है।

शं० स्वा०—नायमजाकृतिनिमित्तोऽजा शब्दः। नापि यौगिकः। किं तर्हि कल्पनोपदेशोऽयम्। अजारूपकक्लृप्तिस्तेजोबन्नलक्षणाया- श्चराचर योनेरुपदिश्यते। यथाहि लोके यदृच्छया काचिदजा लोहितशुक्लकृष्णवर्णा स्याद् बहुबर्करा सरूपबर्करा च, तांच कश्चिदजोजुषमाणोऽनुशयीत, कश्चिच्चैनां भुक्तभोगां जह्यात्, एवमियमपि तेजोबन्नलक्षणा भूतप्रकृतिस्त्रिवर्णा बहु सरूपं चरा- चरलक्षणं विकारजातं जनयति, अविदुषा च क्षेत्रज्ञेनोपभुज्यते

कि भेद पारमार्थिक है और मंत्र में इष्ट है। जैसा कि सांख्य वादियों का सिद्धान्त है।

उत्तर—**नहीयं क्षेत्रज्ञ भेद प्रतिपिपादयिषा किंतु बन्ध मोक्ष व्यवस्था प्रतिपिपादयिषा त्वेषा। प्रसिद्धं तु भेदमनूद्य बन्धमोक्ष व्यवस्था प्रति पाद्यते। भेदस्तूपाधिनिमित्तो मिथ्या ज्ञानकल्पितो न पारमार्थिकः।** (शां० भा० १।४।१० पृष्ठ १५७)

यहाँ श्रुति का अभिप्राय क्षेत्रज्ञों के भेद को दिखाने का नहीं है किन्तु बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था करने का है। बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था ही तब बनेगी जब भेद माना जाय। परन्तु यह भेद उपाधि निमित्त मिथ्या ज्ञान है। पारमार्थिक नहीं।

हमारी समालोचना—अभिप्राय चाहे भेद दिखाने का न हो परन्तु भेद तो स्पष्ट हो ही गया। यदि गाय को दूध दोहने के लिये लाया जाय तो उसके सींग छिप नही सकते। बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था का प्रति पादन करते हुये ही भेद भी सिद्ध हो जाता है। यदि इस भेद को पारमार्थिक न मानेंगे तो मोक्ष का प्रश्न ही न उठ सकेगा। और शांकरमत की भी हानि होगी। क्योंकि यदि बंध और मोक्ष की समस्या वास्तविक नहीं किन्तु मिथ्याज्ञान के कारण है। तो सब चिन्ता ही चली जाती है। काल्पनिक रोग के लिये कौन डाक्टर को बुलावे ?

शां० स्वा०—**मध्वादिवत्। यथा आदित्यस्यामधुनो मधुत्वम्** (छा० ३।१), **वाचश्च धेनोर्धेनुत्वम्** (बृ० ५।८). **द्युलोकादीनां चानग्नीनामग्नित्वम्** (बृ० ८।२।६) **इत्येवं जातीयकं कल्प्यते एवमिदमनजाया अजात्व कल्प्यते इत्यर्थः।**

जैसे आदित्य मधु नहीं है परन्तु मधु मान लिया गया, वाणी धेनु नहीं है परन्तु धेनु मान ली गई, द्युलोक आदि अग्नि नहीं है परन्तु इनको अग्नि मान लिया गया। इसी प्रकार यहाँ भी अजा नहीं है परन्तु अजा मान ली गई।

हमारी समालोचना—अमधु में मधु की या अनग्नि में अग्नि की कल्पना इसलिये की जाती हैं कि उसमें मधुत्व या अग्नित्व की कुछ झलक मिलती है। और उस झलक को दर्शाना ही तात्पर्य होता है। जैसे जो शेर न हो उस में शेर की कल्पना वीरता दिखाने के लिये की जाती है। परन्तु 'अनजा' में अजात्व की कल्पना करने का क्या अभिप्राय होगा ? फिर 'अजा' और 'अनजा' का अर्थ क्या ? शं० स्वा० यौगिक अर्थ को तो स्वीकार नहीं करते। अब केवल यही अर्थ रह गया कि बकरी नहीं हैं परन्तु उसको बकरी मान लिया गया। इस बकरीपन में कौन सी दार्शनिक विशेषता है यह समझ में नहीं आता।

शांकर सांख्य-विरोध

(४)

"पञ्चपञ्चजनाः"

बृहदारण्यक में एक श्रुति है।

'यस्मिन् पञ्चपञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्।' (बृ० ४।४।१७)

इसका सम्बन्ध वेदान्त सूत्र १।४।११ से बताया जाता है। सूत्र यह है :—

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च।

सूत्र का शाब्दिक अर्थ यह है :—

"संख्या के कथन से भी नहीं, क्योंकि नाना भाव है और अतिरेक भी है।" सूत्र में संख्या शब्द है। यह शब्द कौनसी संख्या की ओर संकेत करता है ? ऐसा सूत्र में कुछ भी नहीं है और न सांख्यवाद के किसी ग्रन्थ में यह आग्रह किया गया है कि उपनिषद् के इस वाक्य का सांख्यवाद से कोई सम्बन्ध है। परन्तु सांख्यवाद को रगड़ डालने के लिये सांख्यवादियों की ओर से यह प्रश्न खड़ा किया गया कि 'पंचपंचजना' से तात्पर्य है ५ × ५ = २५ तत्वों से जिनको सांख्य मानता है और इस

प्रश्न को उठाकर फिर बलपूर्वक इसका खण्डन किया गया जिससे कि वादरायण का कपिल से विरोध सिद्ध हो।

अगला सूत्र है :

प्राणादयो वाक्यशेषात्। (१।४।१२)

इससे यह तात्पर्य लिया गया है कि 'पंच पंचजना' से प्राण अभिप्रेत हैं। यह बात बिना सांख्य को बीच में लाये हुये भी सिद्ध हो सकती थी। श्री आनन्दतीर्थ ने अणु भाष्य में अच्छा कहा है। प्रश्न उठाते हैं कि :—

'सर्व शब्दानां परमात्म वाचकत्वे कथमन्यत्र व्यवहार इत्यतो ब्रवीत् समाकर्षात्" (१।४।१६)

सब शब्द यदि ब्रह्म परक हो गये तो अन्य व्यवहार कैसे चलेगा। इसके उत्तर में वादरायण कहते हैं कि प्रसंग से देख लीजिये।

शांकर सांख्य-विरोध

(५)

प्रकृति

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। (१।४।२३)

इसका शाब्दिक अर्थ हुआ "प्रकृति भी, क्योंकि ऐसा मानने से प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का विरोध नहीं है।" यहाँ शंकर स्वामी ने यह अर्थ लिया है कि ब्रह्म उपादान कारण भी है और अपने ही बनाये हुये पूर्वपक्ष का कुछ उत्तर नहीं दिया जो इस प्रकार है :—

"तद्वत् परमेश्वरस्यापि निमित्त कारणत्वमेव युक्तं प्रतिपत्तुम्। कार्यं चेदं जगत् सावयवमचेतनमशुद्धं च दृश्यते, कारणेनापि तस्य तादृशेनैव भवितव्यम्। कार्यकारणयोः सारूप्यदर्शनात्। ब्रह्म च विलक्षणमवगम्यते।" (शां० भा० १।४।२३ पृष्ठ १७५)

अर्थात् ईश्वर निमित्त कारण ही है। कार्य जगत् सावयव, अचेतन, अशुद्ध है। इसका कारण भी वैसा ही होगा क्योंकि जैसा कारण वैसा कार्य। ब्रह्म तो न सावयव है न अचेतन न अशुद्ध।"

यह आक्षेप ब्रह्म के उपादानत्व के विरुद्ध इतना प्रबल है कि उसका उत्तर ही नहीं हो सकता। शंकर स्वामी ने प्रश्न तो उठा दिया परन्तु समाधान नहीं किया।

आगे के तीन सूत्रों में भी उन्होंने इसी का प्रतिपादन किया है। यदि ब्रह्म को उपादान और निमित्त दोनों माना जाय तो ब्रह्म को परिणामी मानना ही पड़ेगा क्योंकि बिना परिणाम के उपादान कैसा? चाहे मिट्टी और घड़े का दृष्टान्त लीजिये चाहे स्वर्ण और आभूषणों का। इसी आक्षेप से बचने के लिये उन्होंने अध्यास, विवर्त्त तथा अनिर्वचनीय ख्याति का आश्रय लिया है। परन्तु आक्षेप से बचने का यह मार्ग कण्टकाकीर्ण है। इन सूत्रों को देखिये :—

अभिध्योपदेशाच्च। (वेदान्त १।४।२४)

"**अभिध्योपदेशाच्चात्मनः कर्तृत्व प्रकृतित्वे गमयति।**

(शां० भा० १।४।२४ पृष्ठ १७६)

"अभिध्या अर्थात् संकल्प के उपदेश से सिद्ध होता है कि आत्मा कर्ता है और उपादान भी।"

हमारी समालोचना—वेदान्त १।३।४ के भाष्य में शं० स्वा० कह चुके हैं :—

इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योम वत् सर्वव्यापि, सर्व विक्रिया रहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं, स्वयं ज्योतिः स्वभावम्।

(पृष्ठ १४)

अर्थात् ब्रह्म कूटस्थनित्य, आकाश के समान व्यापक, सब विकारों से रहित, नित्य तृप्त, निरवयव, स्वयं ज्योतिस्वभाव है।"

ऐसा ब्रह्म कैसे तो उपादान होगा और कैसे निमित्त? क्योंकि जब

तक कर्तृत्व न हो निमित्त नहीं हो सकता। यदि कहो कि कर्तृत्व मिथ्या है, अविद्याजन्य है, विवर्त है, पारमार्थिक नहीं, तो इस सूत्र में दिये हुये 'अभिध्या' शब्द का क्या अर्थ होगा? इसलिये इसका अर्थ यह करना चाहिये कि ब्रह्म में अभिध्या है क्योंकि वह असली कर्ता है, और प्रकृति या उपादान 'अभिध्यात' है जिसमें उस संकल्प का आविर्भाव होता है। स्वामी हरिप्रसाद ने वेदान्त सूत्र वैदिक वृत्ति में इसकी अच्छी व्याख्या की है :—

उपदिश्यते तावदभिध्या 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' तै०(२।६) **'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय'** (छां० ६।२।३) **इत्याद्या। सा चेच्छाविशेषात्मकतया यथाऽभिध्यातारमपेक्षते तथाऽभिध्यातव्यमप्यपेक्षते तत्राऽभिध्यातृत्वं कर्तृत्वमभिध्यातव्यत्वं च कर्मत्वम्। ते चोभे परस्परं विरुद्धे। नैकस्य कर्हिचिदुपपद्यते। तेनाभिध्यातृ ब्रह्म तदाश्रया तच्छरीरकल्पा च प्रकृति रभिध्यातव्येति वक्तव्यम्। तत्र ब्रह्माभिध्यातृत्वान् निमित्तकारणं प्रकृतिश्चाभिध्यातव्यत्वादुपादान कारणम्।**

अर्थात् तैत्तिरीय और छान्दोग्य में अभिध्या का उपदेश है 'उसने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ। इस इच्छा या अभिध्या के लिये कर्त्ता और कर्म दोनों की अपेक्षा है अभिध्याता ब्रह्म है, अभिध्यात प्रकृति है। यह दोनों विरुद्ध धर्म एक ही में नहीं रह सकते। ब्रह्म निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण।

अगले सूत्र में इसको स्पष्ट किया है।

साक्षाच्चोभयाम्नात्। (१।४।२५)

साक्षात् दोनों का उपदेश है। अर्थात् श्रुति में निमित्त और उपादान दोनों का ही अलग-अलग उल्लेख हैं।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वे० ४।१०)

आगे के सूत्र में बहुत ही स्पष्ट है।

'आत्मकृतेः परिणामात्'　　(१।४।२६)

अर्थात् उपादान का परिणाम आत्मा की कृति के कारण है। मिट्टी स्वयं घड़ा नहीं बन सकती जब तक कुम्हार न बनावे। सोना स्वयं हार नहीं बन सकता जब तक सुनार न बनावे।

इससे परिणाम और निमित्त के विषय में वे प्रबल आक्षेप भी दूर हो जाते हैं जिनको शं० स्वा० ने उठाकर समाधान के बिना ही छोड़ दिया है।

इस सम्बन्ध में एक सूत्र रह गया।

'योनिश्च हि गीयते'　　(१।४।२७)

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि योनि शब्द सभी कारणों के लिये प्रयुक्त होता है। अतः ब्रह्म को भी योनि कह सकते हैं और प्रकृति को भी। जैसे "तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः" (मु० १।३।६) यहाँ योनि ब्रह्म का वाचक है।

'मम योनिर्महद्ब्रह्म' (गीता)

यहाँ योनि प्रकृति का बोधक है।

शांकर-सांख्य-विरोध

(६)

स्मृति-विरोध

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इतिचेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोष प्रसङ्गात्॥　　(पृष्ठ २।१।१)

इस सूत्र का अर्थ यह है कि यदि किसी सिद्धान्त को इस लिये त्यागा जाय कि उसके ग्रहण करने से किसी स्मृति का विरोध होता है तो यह हेतु ठीक नहीं। क्योंकि इस प्रकार तो किसी न किसी स्मृति का विरोध करना ही पड़ेगा। इस सिद्धान्त को श्री शंकर स्वामी इन शब्दों में व्यक्त करते हैं :—

वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूप विषये। पुरुषवचसां तु मूलान्तरापेक्षं वक्तृस्मृतिव्यवहितं चेति विप्रकर्षः। तस्माद्वेदविरुद्धे विषये स्मृत्यनवकाश प्रसङ्गो न दोषः ॥

(शां० भा० २।१।१, पृ० १८२)

'वेद का अपने अर्थ में निरपेक्ष प्रामाण्य है जैसे रूप के विषय में सूर्य्य का। पुरुषों के कथनों के साथ यह बात नहीं। उनको तो किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा होती है। इसलिए यदि कोई सिद्धान्त वेद विरुद्ध हो तो उसे न मानना चाहिये। चाहे किसी स्मृति का विरोध ही क्यों न करना पड़े।"

श्री शंकर स्वामी का यह कथन सभी आस्तिकों को माननीय है। बादरायण का भी यही मत है। परन्तु सूत्र में कहीं यह नहीं कहा कि सांख्य का मत वेद विरुद्ध है। यह शं० स्वा० की अपनी कल्पना है। सांख्य न ईश्वर-विरोधी है न वेद विरोधी। वह प्रकृति को उपादान और ईश्वर को निमित्त कारण मानता है :—

(१) **स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता।** (सां० ३।५६)

वह ईश्वर सर्वज्ञ और सब उत्पन्न पदार्थों का कर्त्ता है।

(२) **निजशक्त्य भिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्।** (सां० ५।५१)

वेद स्वतः प्रमाण हैं क्योंकि उनमें निजशक्ति है।

जब सांख्य को वेद मान्य हैं तो वेद विरुद्ध स्मृतियों (बौद्धादि) के अनवकाश का प्रसंग होना चाहिये न कि सांख्य का। परन्तु शं० स्वा० को येनकेन प्रकारेण सांख्य का विरोध अभिमत है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में न शांकर अद्वैत है न सांख्य का विरोध। इसके हम कई प्रमाण दे चुके हैं जैसे :—

(१) **द्वासुपर्णा·········** (४।६)

(२) **मायां तु प्रकृतिं विद्यात्।** (४।१०)

ऐसे ग्रन्थ में कपिल की प्रशंसा स्वाभाविक थी—

"ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति ज्ञायमान चपश्येत्।
(५।२)

परन्तु शं० स्वा० न तो श्वेताश्वर का विरोध कर सकते थे न उनको कपिल की प्रशंसा सह्य थी। अतः उन्होंने ऐसा कह दियाः—

'या तु श्रुतिः कपिलस्य ज्ञानातिशयं प्रदर्शयन्ती प्रदर्शिता न तया श्रुतिविरुद्ध मपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यं, कापिलमिति श्रुति सामान्यमात्रत्वात्। अन्यस्य च कपिलस्य सगरपुत्राणां प्रतप्तुर्वासुदेवनाम्नः स्मरणात्। (शां० भा० २।१।१ पृष्ठ १८१)

"यद्यपि श्रुति में कपिल के ज्ञान की प्रशंसा की गई है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि यदि कपिल का मत श्रुति-विरुद्ध हो तो उसे मान लिया जाय। दूसरी बात यह है कि श्रुति में तो केवल कपिल का नाम है। यह तो कहा नहीं कि यह सांख्यकार कपिल है। एक वासुदेव नामी कपिल भी हुये हैं जिन्होंने सगर के पुत्रों को जला दिया था।"

इस युक्ति की खींचातानी स्पष्ट है। हम दिखा चुके हैं कि श्वेताश्वतर को सांख्य का विरोध इष्ट नहीं। इसके अतिरिक्त उपनिषद् में किसी प्रसिद्ध कपिल का ही वर्णन रहा होगा। यों तो आजकल भी बहुत से कपिल होंगे। श्री शंकर जी किसी ऐसे कपिल का नाम नहीं बता सकते जो दर्शनकार हो और सांख्यकार के अतिरिक्त हो।

अब मनुस्मृति पर दृष्टि डालिये :—

"भवति चान्या मनोर्माहात्म्यं प्रख्यापयन्ती श्रुतिः—'यद्वै किंच मनुरवदत् तद् भेषजम्' (तै० सं० २।२।१०।२) इति। मनुना च 'सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति' (१२।९१) इति सर्वात्मत्वदर्शनं प्रशंसता कापिलं मतं निन्द्यत इति गम्यते। कपिलो हि न सर्वात्मत्वदर्शनमनुमन्यते, आत्मभेदाभ्युपगमात्"।

(शां० भा० २।१।१, पृष्ठ १८१)

तैत्तिरीय संहिता में मनु की प्रशंसा की गई है कि जो कुछ मनु ने कहा वह औषध है। मनु ईश्वर को सर्वात्मा सब में ओत प्रोत मानता है। इसलिये मनु के अनुसार भी कपिल निन्दनीय है। क्योंकि कपिल सर्वात्मा नहीं मानता। वह 'आत्मा अनेक हैं' ऐसा मानता है।

हमारी आलोचना—शंकर स्वामी का यह कहना ठीक नहीं। हम अभी दिखा चुके हैं कि सांख्य ईश्वर को सर्वज्ञ मानता है (सां० ३।५६)। जीवों के अनेक मानने से ईश्वर के सर्वात्मत्व का खण्डन नहीं होता। मनु का जो श्लोक ऊपर दिया है (१२।६१) उससे तो जीवों के अनेकत्व का प्रदर्शन होता है न कि खण्डन। उसमें तो लिखा है कि सब भूतों को आत्मा में जो मानता है वह तत्वदर्शी हैं। इससे स्पष्ट है कि जब तक जीव अनेक न होंगे उनमें परमात्मा का व्यापक होना कैसे हो सकेगा? व्यापकता के लिये व्याप्य और व्यापक दोनों ही होने चाहिये।

(७)

विलक्षणत्व।

पूर्व पक्ष—

इदं हि ब्रह्मकार्यत्वेनाभिप्रेयमाणं जगत् ब्रह्मविलक्षणमचेतनमशुद्धं च दृश्यते। ब्रह्म च जगद्विलक्षणं चेतनं शुद्धं च श्रूयते। न च विलक्षणत्वे प्रकृतिविकारभावो दृष्टः। न हि रुचकादयो विकारा भवन्ति शरावादयो वा सुवर्णप्रकृतकाः। मृदैव तु मृदन्विता विकाराः क्रियन्ते सुवर्णेन च सुवर्णान्विताः। तथेदमपि सुखदुःखमोहान्वित सदचेतनस्यैव सुखदुःख मोहात्मकस्य कारणस्य कार्यं भवितुमर्हतीति न विलक्षणस्य ब्रह्मणः। ब्रह्मविलक्षणत्वं चाम्य जगतो, शुद्ध्यचेतनत्वदर्शनादवगन्तव्यम्। अशुद्धं हि जगत् सुखदुःखमोहात्मकतया प्रीतिपरिताप विषादादिहेतुत्वात् स्वर्गनरकाद्युच्चावच प्रपञ्चत्वाच्च। अचेतनं चेदं जग-

चेतनं प्रति कार्यकारणभावेनोपकरणभावोगमात् । नहि साम्ये सत्युपकार्योपकारक भावो भवति। नहि प्रदीपौ परस्पर-स्योपकुरुतः ॥ (शां० भा० २।१।४, पृष्ठ १८४-१८५)

"यह जो जगत् ब्रह्म का कार्यरूप माना जाता है वह ब्रह्म से विलक्षण अशुद्ध और अचेतन है, और ब्रह्म जगत् से विलक्षण चेतन और शुद्ध सुना जाता है। जो दो चीजें परस्पर विलक्षण होती हैं उनमें कारण कार्य भाव नहीं होता। हार आदि आभूषण मिट्टी का विकार नहीं माने जा सकते और न सकोरे आदि सोने का, मिट्टी की चीजें मिट्टी जैसे होती हैं और सोने की सोने जैसी। इसी प्रकार यह सुख दुःख मोह युक्त अचेतन जगत् किसी सुख दुःख मोह युक्त अचेतन कारण का ही कार्य होगा न विलक्षण ब्रह्म का। इस जगत् के अचेतन और अशुद्ध होने से इसका ब्रह्म से विलक्षणत्व स्पष्ट ही है। सुख-दुःख-मोह आत्मक होने के कारण प्रीति, परिताप, विषाद आदि का हेतु है तथा स्वर्ग नरक आदि भिन्न भिन्न अवस्थाओं का आधार भी है। यह अचेतन है क्योंकि यह चेतन के प्रति कार्यकारण भाव से उपकरण होता है। दो बराबर की चीजों में उपकारक और उपकरण भाव नहीं हो सकता। जैसे दो दीपक एक दूसरे के उपकरण नहीं होते।

उत्तर पक्ष—यदुक्तं विलक्षणत्वान्नेदं जगद् ब्रह्म प्रकृतिकमिति। नायमेकान्तः। दृश्यतेहि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्या विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः। अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम्।

(शां० भा० २।१।६, पृष्ठ १८७)

यह जो कहा कि जगत् विलक्षण होने से ब्रह्म का कार्य नहीं। यह सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि लोक में देखा जाता है कि चेतन पुरुष से विलक्षण अचेतन केश, नख आदि उत्पन्न होते हैं, और गोबर आदि अचेतन से चेतन बिच्छू आदि।

पूर्वपक्ष—अचेतनान्येव पुरुषादि शरीराण्यचेतनानां केशनखादीनां कारणानि, अचेतनान्येव च वृश्चिकादिशरीराण्यचेतनानां गोमयादीनां कार्य्याणीति। (शां० भा० २।१।६ पृष्ठ १८७)

पुरुषों के अचेतन शरीर अचेतन केश नख आदि के कारण हैं और बिच्छू आदि के अचेतन शरीर अचेतन गोबर आदि के कार्य हैं। अतः सिद्धान्त तो वही है।

उत्तर पक्ष—एवमपि किंचिदचेतनं चेतनस्यायतनभावमुपगच्छति किंचिन्नेत्यस्त्येव वैलक्षण्यम्। महाँश्चायं पारिणामिकः स्वभाव विप्रकर्षः पुरुषादीनां केशनखादीनां च स्वरूपादि भेदात्। तथा गोमयादीनां वृश्चिकादीनां च। अत्यन्तसारूप्ये च प्रकृतिविकारभाव एव प्रलीयेत। (शां० भा० २।१।६, पृष्ठ १८७)

फिर भी विलक्षणता तो रही ही। क्योंकि अचेतन का कुछ भाग तो चेतन शरीर बन गया और कुछ न बन सका। कुछ तो अचेतन भाग पुरुष आदि का शरीर बन जाता है और कुछ केश नख आदि। कितना भारी भेद हो जाता है! इसी प्रकार गोबर और बिच्छू आदि का हाल है। कारण और कार्य में अत्यन्त सारूप्य तो हो नहीं सकता। यदि ऐसा हो तो कारण और कार्य भाव में भेद न रहे और किसी को किसी का कारण या कार्य कह ही न सकें।

पूर्वपक्ष—अस्ति कश्चित् पार्थिवत्वादि स्वभावः पुरुषादीनां केशनखादिष्वनुवर्तमानो गोमयादीनां वृश्चिकादिष्विति।

(शां० भा० २।१।६, पृ० १८७)

कुछ सारूप्य तो है ही। जैसे पुरुषों के शरीर और उनके कार्यरूप केश, नख आदि में पार्थिवता का सादृश्य है। इसी प्रकार गोबर और बिच्छू के शरीर में भी दोनों में पार्थिवता है।

उत्तर पक्ष—ब्रह्मणोऽपितर्हि सत्तालक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमानो दृश्यते। (शां० भा० २।१।६ पृ० १८७)

इस प्रकार तो कारण ब्रह्म और कार्य आकाश आदि में भी एक लक्षण मिलता है। अर्थात् सत्ता लक्षण।

हमारी आलोचना—यहाँ उत्तर पक्ष शं० स्वा० का है जो ब्रह्म को जगत् का उपादान भी मानते हैं। और पूर्व पक्ष उन लोगों का है जो सांख्य आदि की भांति जगत् का उपादान अचेतन प्रकृति आदि को मानते हैं।

इन युक्तियों से पता चल जायगा कि शं० स्वा० की युक्तियाँ कितनी निर्बल हैं। उन्होंने पूर्व पक्षी का एक भी समाधान नहीं किया, आक्षेप ज्यों का त्यों है। प्रश्न यह है कि अचेतन जगत् का चेतन ब्रह्म उपादान कैसा? इसका उत्तर वे देते हैं कि ऐसा तो होता है। परन्तु इस मत का अन्यत्र उन्होंने ही खण्डन किया है। देखिये :—

नच मृदन्वितः शरावादयो भावास्तन्त्वादिविकाराः केनचिदभ्युपगम्यन्ते। मृद्विकारानेव तु मृदन्वितान् भावांल्लोकः प्रत्येति।

(शां० भा० २।२। २६ पृष्ठ २४६)

कोई नहीं मानता कि मिट्टी के शकोरे आदि तन्तु आदि सूत से बने हैं। सकोरे आदि को तो सभी मिट्टी का बना ही मानते हैं।

यही बात तो विचारे पूर्व-पक्षी ने यहाँ कही थी। यही दृष्टान्त भी दिया था। परन्तु यहाँ तो शं० स्वा० ने हँसी उड़ाई और अगले कुछ पृष्ठों में फिर उसी बात को स्वीकार भी किया। क्या एक ही दृष्टान्त पुस्तक के कुछ पृष्ठों के पश्चात् भिन्न हो जाता है? प्रकरण तो वही है।

यहाँ शंकर स्वामी ने एक बात बड़े मजे की कही। कहते हैं कि यदि कार्य्य और कारण में सामलक्षण्य माना जाय तो भी ठीक है क्योंकि कारण ब्रह्म और आकाश आदि दोनों में *सत्ता लक्षण* पाया जाता है। यहाँ शंकर स्वामी अपने ही मत का खण्डन कर गये। क्योंकि इससे तो *जगत् सत् सिद्ध* हो गया। मिथ्या नहीं रहा। दृश्यते हि सत्तालक्षणो ब्रह्मस्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमान इति! यदि ब्रह्म का सत्तालक्षण

जगत् में भी पाया जाता है तो जगत् को भी पारमार्थिक सत्यता देनी पड़ेगी।

पूर्व पक्ष—यदि स्थौल्य-सावयवत्व ाचेतनत्वपरिच्छिन्नत्व-ाशु कार्य्यं ब्रह्मकारणमभ्युपगम्येत तदपीतौ प्रलये प्रति संसृज्य मानं कार्य्यं कारणाविभागमापद्यमान कारणमात्मीयेन धर्मेण दूपयेदित्यपीतौ कारणस्यापि ब्रह्मणः कायस्येवाशुद्ध्यादि रूप प्रसङ्गात् सर्वज्ञं ब्रह्म जगत् कारणम् इति असमजसम्।

(शां० भा० २।१।८ पृष्ठ १९०)

यदि स्थूल, सावयव, अचेतन, परिच्छिन्न, अशुद्ध जगत् का उपादान कारण ब्रह्म को माना जावे तो जब प्रलय होगी और कार्य्य कारण में लय होगा यो कार्य्य का दोष कारण में भी लग जायगा और ब्रह्म भी अशुद्ध आदि हो जायगा।

उत्तर पक्ष—तत्र यः परिहारः कार्यस्य तद्धर्माणां चाविद्याध्यारोपितत्वान्न तैः कारणं संसृज्यत इति, अपीतावपि समानः। अस्ति चायमपरो दृष्टान्तो यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्; एवं परमात्मापि संसार मायया न संस्पृश्यत इति, यथा च स्वप्नदृगेकः स्वप्नदर्शन मायया न संस्पृश्यत इति। प्रबोधसंप्रसादयोरनन्वागतत्वात्। एवमवस्थात्रयसाक्ष्येकोऽव्यभिचार्यवस्थात्रयेण व्यभिचारिणा न संस्पृश्यते। मायामात्रं ह्येतद् यत्——

रज्ज्वा इव सर्पादिभावेनेति। अत्रोक्तं वेदान्तार्थ संप्रदायविद्भिराचार्यैः—अनादि मायया सुप्तो यदाजीवः प्रबुध्यते। अजमनिद्र मस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा (गौड पा० कारि० १।१६) इति। तत्र यदुक्तमपीतौ कारणस्यापि कार्यस्येव स्थौल्यादि दोष प्रसङ्ग इत्येत दयुक्तम्॥ (शां० भा० २।१।६ पृष्ठ १९१)

जगत् के लिये जो हेतु दिया कि कार्य्य जगत् और उसके धर्म

अविद्या के द्वारा आरोपित हैं वास्तविक नहीं। इसलिये वे कारण को भी दूषित नहीं करते, वही हेतु प्रलय के साथ भी लागू होता है। और भी दृष्टान्त है। जैसे जादूगर अपने जादू से तीनों कालों में भी प्रभावित नहीं होता क्योंकि जादू अवस्तु है (कोई वस्तु नहीं) इसी प्रकार परमात्मा भी संसार की माया से दूषित नहीं होता। जैसे स्वप्न देखने वाला स्वप्न की माया से दूषित नहीं होता क्योंकि स्वप्न में देखी हुई चीजें जागृत या सुषुप्ति में नहीं रहतीं, इसी प्रकार तीनों अवस्थाओं का साक्षी तीनों अवस्थाओं के व्यभिचार दोष से दूषित नहीं होता। (अर्थात् तीन अवस्था में जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अलग अलग हैं। परमात्मा उनका साक्षी है) परमात्मा का इन तीनों अवस्थाओं में (प्रतीति) माया मात्र है जैसे रस्सी में सांप की प्रतीति होती हो। आचार्य गौडपाद ने कहा है :—

अनादि माया से सोया हुआ जीव जब जागता है तब उसको जन्म-रहित, निद्रा रहित, स्वप्न रहित अद्वैत का बोध होता है।

हमारी आलोचना—अभी शां० स्वा० जगत् को सत्ता लक्षण वाला बताते थे। अब इसको माया या स्वप्न वत् अतथ्य बताते हैं। यह कहना कि जादूगर जादू के दोष से या स्वप्न देखने वाला स्वप्न के दोष से दूषित नहीं होता जादू और स्वप्न के स्वभाव को न समझना है। जादूगर जादू को दूसरों को धोखा देने के लिये करता है। उसका आत्मा इस धोखे से अवश्य दूषित होता है। परमात्मा किसको धोखा देता है और फिर उस धोखे से क्यों दूषित नहीं होता ? स्वप्न वही देखता है जिसके शरीर या मन में कुछ विकार होता है। पूर्णतया स्वस्थ पुरुष को स्वप्न भी कम होते हैं। दूसरी बात यह है कि स्वप्न में पहले संस्कार ही दीखते हैं।

स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्। (शां० भा० २।२।२९ पृष्ठ २५०)

और स्वप्न के पश्चात् भी स्वप्न देखने वाले के मन पर स्वप्न जनित शोक, विषाद, भय आदि का प्रभाव रहता है। इसलिये स्वप्न का दृष्टान्त ठीक नहीं।

गौडपादीय कारिका में तो बहुत से दोष हैं :—

यदि माया अनादि है और उसके द्वारा अनादि काल से जीव सोया हुआ है तो यह सोने वाला ब्रह्म कैसे हुआ ? क्या यह अनादि ब्रह्म ही है जो अनादि माया द्वारा सोया हुआ है ? और क्या यह समस्त ब्रह्म है या ब्रह्म का कोई अंश है ? यदि अंश मानोगे तो ब्रह्म के टुकड़े हो जायँगे और यदि समस्त मानोगे तो एक जीव के मुक्त होते ही समस्त जीव मुक्त हो जायंगे और कर्म-फल की व्यवस्था ठीक न रहेगी। वह निद्रा रहित, स्वप्न रहित कौनसा अद्वैत है जिसको जीव जाग पड़ने के पश्चात् जानता है ? यह हैं भूल भुलय्यां। न कि समाधान !

पूर्व पक्ष—अपि च समस्तस्य विभागस्याविभागप्राप्तेः पुनरुत्पत्तौ नियमकारणाभावाद् भोक्तृभोग्यादि विभागेनोत्पत्तिर्न प्राप्नोतीत्यसमञ्जसम्। (शां० भा० २।१।८ पृष्ठ १६०)

प्रलय अवस्था में सब भेद लुप्त होकर अभेद हो जायंगे। फिर पुनः उत्पत्ति के लिये कोई कारण न रहेगा। और भोक्ता तथा भोग्य के विभाग रूप सृष्टि न उत्पन्न हो सकेगी।

तात्पर्य यह है कि जब ब्रह्म ही जगत् का उपादान है तो प्रलय में जगत् तो अपने कारण ब्रह्म में लीन हो जायगा। जैसे टूटने पर घड़ा, शरावा, आदि सब मिट्टी हो जाते हैं। फिर दुबारा सृष्टि कैसे उत्पन्न हो सकेगी ? और भोक्ता तथा भोग का भेद कैसे होगा ?

उत्तरपक्ष—अयमपि अदोषः। दृष्टान्तभावादेव। यथाहि सुषुप्ति समाध्यादावपि सत्यां स्वाभाविक्यामविभागप्राप्तौ मिथ्या-ज्ञानस्यानपोदितत्वात् पूर्ववत् पुनः प्रबोधे विभागो भवत्येवमिहापि भविष्यति। श्रुतिश्चात्र भवति—'इमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदा भवन्ति' (छा० ६।६।२,३) इति। यथा ह्यविभागेऽपि

परमात्मनि मिथ्याज्ञान प्रतिबद्धो विभाग व्यवहारः स्वप्नवद्-व्याहतः स्थितो दृश्यते, एवमपीतावपि मिथ्याज्ञान प्रतिबद्धैव विभाग शक्तिरनुमास्यते। (शां० भा० २।१।९ पृष्ठ १९१-१९२)

यह भी दोष नहीं। दृष्टान्त है। सुषुप्ति और समाधि में जब जीव जाता है तो इन अवस्थाओं में भी भेदभाव नहीं रहता। परन्तु मिथ्या-ज्ञान का अभाव न होने के कारण जब जागृत अवस्था में जीव आता है तो फिर विभाग उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी होगा। छान्दोग्य में कहा है। "यह सब प्रजा जब सत् में समा रहे हैं जो नहीं जानते कि हम सत् में समारहे हैं व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, सुअर, कीट, पतंग, डांस, मच्छड़। जो जो पहले होते हैं वे ही फिर हो जाते हैं।" जैसे परमात्मा विभाग शून्य है फिर भी मिथ्याज्ञान के कारण भिन्नता का व्यवहार स्वप्न के समान होता रहता है इसी प्रकार प्रलय में भी मिथ्याज्ञान से प्रतिबद्ध विभाग शक्ति माननी चाहिये।

हमारी आलोचना—सुषुप्ति और समाधि में जाने वाला जीव तो ब्रह्म नहीं। उसके अपने कर्म और फल हैं, इनके द्वारा वह शरीर से सम्बद्ध है। इसलिये सुषुप्ति और समाधि के पश्चात् वे शारीरिक भेद फिर उत्पन्न हो जाते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में भी उन्हीं जीवों के विषय में कहा है जो ब्रह्म नहीं। और न उनके सिंह, वराह, मशक आदि के शरीर मिथ्या हैं। उनमें तो वास्तविक भेद है। परन्तु जो जगत् को मिथ्या और ब्रह्म और जीव को एक ही मानते हैं उनके मत में तो दोष वैसा ही रहता है। जीव ब्रह्म को एक मानकर प्रलय में मिथ्याज्ञान प्रतिबद्ध विभाग शक्ति मानना किसी प्रकार भी सुसंगत नहीं। हाँ। यदि जीव और ब्रह्म में भेद माना जाय तो कह सकते हैं कि जीवों को पुराने कर्मों के फल भुगाने के लिये फिर सृष्टि उत्पन्न होती है। आक्षेप है आपके मत पर और आप समाधान करते हैं दूसरे के मत से। पंगु से किसी ने पूछा कि तुम कैसे चलोगे? उत्तर मिला 'आपके

कंधे पर चढ़कर'। चलने का काम तो निकल गया। परन्तु पंगुता तो नष्ट नहीं हुई।

पूर्वपक्ष—अपि च भोक्तॄणां परेण ब्रह्माऽविभागं गतानां कर्मादिनिमित्त प्रलयेऽपि पुनरुत्पत्तावभ्युपगम्यमानायां मुक्तानामपि पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गादसमञ्जसम्। (शां० भा० २।१।८ पृष्ठ १६०)

यदि हम यह मानें कि प्रलय अवस्था में भोक्ता जीव परब्रह्म में मिल जाते हैं और विभाग के मिटजाने से कर्मादि नहीं रहते फिर भी दुबारा सृष्टि उत्पन्न हो जाती है। तो हमको यह मानना पड़ेगा कि जैसे बद्ध आत्मायें ब्रह्म में एक होकर और कर्मों का नाश होकर फिर उत्पन्न हो सकती हैं इसी प्रकार मुक्त जीव भी फिर उत्पन्न हो सकेंगे। क्योंकि ब्रह्म में लीन होना और कर्म आदि का विभाग न रहना मुक्त और बद्ध दोनों जीवों के साथ समान है।

उत्तरपक्ष—एतेन मुक्तानां पुनरुत्पत्ति प्रसङ्गः प्रत्युक्तः। सम्यग्ज्ञानेन मिथ्याज्ञानस्यापोदित्वात्।

(शां० भा० २।१।८ पृष्ठ १६२)

इससे मुक्तों के विषय का आक्षेप भी मिट गया। सम्यग्ज्ञान से मिथ्याज्ञान हट जाता है इस लिये उनकी उत्पत्ति नहीं होती।

हमारी आलोचना—यह समाधान भी तभी ठीक होता जब जीव और ब्रह्म अलग-अलग होते। हमारी जो आलोचना ऊपर दी हुई है वह यहाँ भी लागू होती है। शंकर स्वामी अपने सिद्धान्त को मानते हुये यह समाधान नहीं दे सकते।

पूर्वपक्ष—अथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेव परेण ब्रह्मणावतिष्ठेत, एवमप्यपीतिश्च न संभवति, कारणाव्यतिरिक्तं च कार्यं न संभवतीत्यसमञ्जसमेवेति। (शां० भा० २।१।८ पृष्ठ १६०)

यदि यह माना जाय कि प्रलय अवस्था में भी जगत् परब्रह्म से विभक्त रहता है तो प्रलय ही न होगी। कारण में कार्य कैसे लय होगा?

उत्तरपक्ष—यः पुनरयमन्तेऽपरो विकल्प उत्प्रेक्षितोऽथेदं जगदपीतावपि विभक्तमेवपरेण ब्रह्मणावतिष्ठेतेति, सोऽप्यनभ्युपगमादेव प्रतिषिद्धः। (शां० भा० २।१।६ पृष्ठ १६२)

यह जो पिछला विकल्प है कि प्रलय में जगत् को परब्रह्म से विभक्त माना जाय। यह तो वेदान्ती लोग मानते नहीं। अतः इसका खण्डन स्वयं ही हो गया।

हमारी आलोचना—यह ठीक है कि वेदान्ती इसको नहीं मानते। परन्तु स्वप्न और मायावत् जगत् को मानने से भी तो प्रलय के लिये कोई अवकाश नहीं रहता। क्योंकि जो कारण स्वप्नवत् या मायावत् सृष्टि की उत्पत्ति के लिये सोचे जा सकते हैं उनका अभाव प्रलय में कैसे होगा? यदि ब्रह्म ही जगत् का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है और जगत मिथ्या है तो स्वभावतः प्रश्न होता है कि इस मिथ्या कार्य की उत्पत्ति क्यों हुई? और अब क्यों प्रलय हो रही है? यदि कहो कि वह उत्पत्ति भी मिथ्या है तो प्रलय भी मिथ्या ही हुई। फिर पुनरुत्पत्ति सम्बन्धी शङ्काओं का समाधान कैसे होगा?

शं० स्वा०—यत् तावदभिहितं विलक्षणत्वान्नेदं जगत् ब्रह्मप्रकृतिकमिति प्रधान प्रकृतिकतायामपि समानमेतत्।

(१) शब्दादि हीनात् प्रधानाच्छब्दादिमतो जगत उत्पत्त्यभ्युपगमात्।

(२) अतएव च विलक्षणकार्योत्पत्त्यभ्युपगमात्समानः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्य्यवादप्रसङ्गः।

(३) तथाऽपीतै। कार्यस्य कारणविभागाभ्युपगमात् तद्वत् प्रसङ्गोऽपि समानः।

(४) तथामृदितसर्वविशेषेषु विकारेष्वपीतावविभागात्मतां गतेष्विदमस्य पुरुषस्योपादानमिदमस्येति प्राक् प्रलयात् प्रतिपुरुषं ये नियता भेदा न ते तथैव पुनरुत्पत्तौ नियन्तुं शक्यन्ते कारणाभावात्।

(५) विनैव कारणेन नियमेऽभ्युपगम्यमाने कारणाभाव-साम्यान् मुक्तानामपि पुनर्बन्ध प्रसङ्गः ।

(शां० भा० २।१।१० पृष्ठ १६२)

जो दोष वेदान्त के पक्ष में बताये गये वही दोष सांख्य के पक्ष में भी लागू होते हैं । जैसे :—

(१) जैसी विलक्षणता ब्रह्म और जगत् में बताई गई वैसी तो प्रधान और जगत् में भी पाई जाती है । प्रधान में तो शब्द आदि गुण हैं नहीं । परन्तु कार्य्य रूपी जगत् में कहाँ से आ गये ।

(२) यदि विलक्षणता आ गई तो असत् कार्य्यवाद का सिद्धान्त ठीक हो गया । सांख्य सत्कार्य्यवादी है । अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व कार्य्य का भाव मानता है ।

(३) हमारे समान सांख्य भी मानता है कि प्रलय में कार्य्य कारण में लय हो जाता है और विभिन्नता नहीं रहती ।

(४) यदि प्रलय में विशेष विकारों की विशेषता मिटकर अविभाग हो गया तो प्रलय से पूर्व जो यह भेद था कि अमुक पुरुष का यह उपादान है, अमुक का यह, वह न रहेगा और पुनरुत्पत्ति कैसे हो सकेगी ?

(५) यदि बिना नियम के अकारण ही पुनरुत्पत्ति हुई तो मुक्त पुरुषों की भी उत्पत्ति हो सकेगी ।

हमारी आलोचना—यह दोष ब्रह्म को निमित्त और प्रधान को उपादान कारण मानने वालों के पक्ष में नहीं आते । क्योंकि प्रकृति सत-रज-तम गुणों वाली है । इन गुणों के द्वारा ही अन्य सब विभिन्न-तायें संभव होती हैं । शांकर मत में ब्रह्म निर्गुण हैं । विलक्षणता का दोष शांकर-मत पर लगता है सांख्य मत पर नहीं ।

इसके अतिरिक्त सांख्य मत में न केवल अचेतन प्रधान ही है किन्तु चेतन पुरुष भी है' उन पुरुषों के अपने अपने कर्म हैं जिनके

अनुसार सृष्टि उत्पन्न होती है। ये कर्म प्रलय काल में भी रहते हैं। इसलिए पुनरुत्पत्ति में बाधा नहीं होगी। इसमें नियमों के अभाव का प्रश्न ही नहीं उठता। न मुक्तों के पुनर्बन्धन का।

शं० स्वा०—न च प्रधानवादी तर्कविदामुत्तमः।

(शां० भा० २।१।११ पृष्ठ १६४)

यह कैसे कहा जाय कि प्रधान वादियों का तर्क सबसे श्रेष्ठ है?

हमारी आलोचना—यहाँ सांख्य का विशेष उल्लेख व्यर्थ है। क्योंकि सांख्य तो वेद का अनादर नहीं करता! देखो :—

निजशक्त्यभिव्यक्तेस्स्वतः प्रामाण्यम्॥ (सां० ५।५१)

अर्थात् वेद अपनी निज शक्ति के कारण स्वतः प्रमाण हैं।

शं० स्वा०—एतेन प्रकृतेन प्रधानकारण वादनिराकरणकारणेन शिष्टैर्मनुव्यासप्रभृतिभिः केनचिदंशेनापरिगृहीता येऽणवादि-कारणवादास्तेऽपि प्रतिषिद्धतया व्याख्याता निराकृता द्रष्टव्याः।

(शां० भा० २।१।१२ पृष्ठ १६५)

प्रधानवाद का जो खण्डन किया उससे अणुवाद आदि का भी खण्डन हो गया। जिसको मनु व्यास आदि ने किसी अंश में भी स्वीकार नहीं किया।

हमारी आलोचना—इससे स्पष्ट है कि मनु व्यास आदि को प्रधानवाद किसी अंश में स्वीकृत था। उसका श्री शंकर स्वामी ने खण्डन कर दिया। अर्थात् शांकर मत मनु व्यास आदि ऋषियों को अभिप्रेत नहीं। यह उनका नयामत है।

(८)

भोक्त्रापत्तिः।

पूर्वपक्ष—**प्रसिद्धो ह्ययं भोक्तृभोग्यविभागो लोके भोक्ता चेतनः शारीरो भोग्याः शब्दादयो विषया इति। यथा भोक्ता देवदत्तो**

भोज्य ओदन इति। तस्य च विभागस्याभावः प्रसज्येत यदि भोक्ताभोग्यभावमापद्येत। भोग्यं वा भोक्तृभावमापद्येत। तयोश्चेतरेतरभावापत्तिः परमकारणाद् ब्रह्मणोऽनन्यत्वात् प्रसज्येत। न चास्य प्रसिद्धस्य विभागस्य बाधनं युक्तम्। यथा त्वद्यत्वे भोक्तृभोग्ययोर्विभागो दृष्टस्तथातीतानागतयोरपि कल्पयितव्यः। तस्मात् प्रसिद्धस्यास्य भोक्तृभोग्य विभागस्याभावप्रसङ्गादयुक्तमिदं ब्रह्मकारणतावधारणम्। (शां० भा० २।१।१३ पृष्ठ १६५)

"भोक्ता और भोग्य का भेद तो प्रसिद्ध ही है चेतन जीव भोक्ता है। शब्दादि विषय भोग्य हैं। जैसे देवदत्त भोक्ता है और भात भोग्य है। यदि भोक्ता भोग्य हो जाय या भोग्य भोक्ता हो जावे तो यह भेद ही मिट जाय। यदि जगत् को ब्रह्म से अनन्य (एक ही) माना जाय तो भोक्ता भोग्य हो जाय और भोग्य भोक्ता। परन्तु यह भेद न तो वर्तमान काल में मिट सकता है न भूत या भविष्य में। इसलिये ब्रह्म जगत् का उपादान नहीं हो सकता।

उत्तरपक्ष—उपपद्यत एवायमस्मत्पक्षेऽपि विभागः एवं लोके दृष्टत्वात्। तथाहि-समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद्विकाराणां फेनवीचीतरङ्ग बुद्बुदादीनामितरेतरविभाग इतरेतर संश्लेषादिलक्षणश्च व्यवहार उपलभ्यते। न च समुद्रादुदकात्मनोऽनन्यत्वेऽपि तद् विकाराणां फेनतरङ्गादीनामितरेतरभावापत्तिर्भवति। न च तेषामितरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति। एवमिहापि न च भोक्तृभोग्ययोरितरेतरभावापत्तिः, न च परस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्वं भविष्यति। यद्यपि भोक्ता न ब्रह्मणोविकारः। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० २।६) इति स्रष्टुरेवाविकृतस्य कार्यानुप्रवेशेन भोक्तृत्वश्रवणात् तथापि कार्यमनुप्रविष्टस्यास्त्युपाधिनिमित्तोविभाग आकाशस्येव घटाद्युपाधिनिमित्तः।

(शां० भा० २।१।१३ पृष्ठ० १६५-१६६)

हमारे पक्ष में भी यह विभाग संभव है। जैसे समुद्र एक है। तरंगें, बुलबुले आदि भी एक ही हैं। परन्तु वह भिन्न भिन्न होते हैं। समुद्र के एक होने का यह अर्थ नहीं कि तरंगें बुलबुला हो जायँ या बुलबुला तरंग। इनके इतररेतर में न बदलने पर भी वह समुद्र से भिन्न नहीं होते। इसी प्रकार यद्यपि भोक्ता और भोग्य परब्रह्म ही हैं फिर भी वह अलग अलग हैं। यद्यपि भोक्ता ब्रह्म का विकार नहीं है क्योंकि तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा है कि "उसको रच कर उसने उसमें अनुप्रवेश किया'। तो भी कार्य में अनुप्रवेश करने के पश्चात् अविकारी ब्रह्म भोक्ता हो जाता है, और उपाधि के कारण भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं जैसे घट आदि की उपाधि के कारण आकाश के कई विभाग हो जाते हैं।

हमारी आलोचना—यह दृष्टान्त ठीक नहीं है। यदि केवल समुद्र ही होता और वायु आदि न होते तो न तरंग उठतीं न बुलबुला। बुलबुला या फेन केवल जल का ही विकार नहीं है। किन्तु वायु आदि का भी उनके निर्माण में हाथ है। जो ब्रह्म को ही उपादान और निमित्त मानते हैं उनका समुद्र के दृष्टान्त से काम नहीं बनता। तैत्तिरीय उपनिषद् का वाक्य ब्रह्म को उपादान नहीं मानता। उपादान के लिये अनुप्रवेश का प्रश्न ही नहीं उठता।

विचित्रता यह है कि एक ओर तो समुद्र के ही विकार बुलबुले का दृष्टान्त दिया जाता है। दूसरी ओर कहते हैं कि *भोक्ता ब्रह्म का विकार* नहीं हैं। यदि भोक्ता ब्रह्म का विकार नहीं तो ब्रह्म उपादान कैसा? आकाश ने घट नहीं बनाया। आकाश न तो घट का उपादान है न निमित्त। उपाधि का भी तो कोई कारण होना चाहिये।

सूत्र में न समुद्र है न आकाश। इसका सीधा अर्थ तो यह है:—

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्॥ (२।१।१३)

भोक्तृ = भोगने वालों के।

आपत्तेः = एकीभाव होने के कारण ।

अविभागः = एकता ।

चेत् = हो तो ।

स्यात् = होवे ।

लोकवत् = लोक व्यवहार के समान ।

अर्थात् यदि प्रलय में सब भोक्ता जीव एक हो जायँ तो क्या हो ? इसका उत्तर यह है कि यह बात नहीं । लोक में जल में जल मिल जाता है फिर भी अलग रहता है ।

आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य) कृत भाष्य में ऐसा लिखा है :—

यथालोके उदके उदकांतरस्यैकीभाव व्यवहारेप्यंतर्भेदोस्ति एव । एवं स्यादत्रापि ॥

जैसे जल में जल मिल कर एकीभाव हो जाते हैं फिर भी आन्तरिक भेद के कारण अलग रहते हैं वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये ।

(९)

कारण-कार्य्य-अनन्यत्व ।

कारण और कार्य्य का क्या सम्बन्ध है यह दर्शन शास्त्र में एक जटिल प्रश्न समझा जाता है । मिट्टी कारण है और घड़ा कार्य । यह सब जानते और सब मानते हैं । परन्तु प्रश्न यह है कि क्या कार्य अपने कारण में उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान रहता है ? एक पक्ष कहता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता । इस मत की पुष्टि में हेतु यह है :—

(१) *बुद्धि-भेद*—प्रत्येक मनुष्य समझता है कि यह कारण है और यह कार्य । कोई दोनों को एक नहीं समझता । अतः कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता ।

(२) *नाम-भेद*—कोई घड़े को मिट्टी या मिट्टी को घड़ा नहीं कहता ।

(३) *प्रयोजन-भेद*—जो काम घड़े से निकल सकता है वह मिट्टी से नहीं। न मिट्टी में पानी भर सकते हैं न घड़े की नांद बना सकते हैं।

(४) *काल-भेद*—घड़ा अपनी उत्पत्ति से पूर्व नहीं होता। मिट्टी होती है।

(५) *संख्या भेद*—मिट्टी एक है और शरावे बहुत।

(६) *आकार-भेद*—जो आकार घड़े का है वह मिट्टी का नहीं जो मिट्टी का है वह घड़े का नहीं।

(७) *कर्तृ-सार्थक्य*—यदि घड़ा मिट्टी से भिन्न न होता तो कुम्हार क्यों बनाने का यत्न करता।

(८) *नित्यानित्य विवेक*—कार्य अनित्य होता है कारण की अपेक्षा से।

इस मत को असत्कार्यवाद कहते हैं। अर्थात् कार्य का अपनी उत्पत्ति से पूर्व अभाव है।

परन्तु सब लोग इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है कि यदि कार्य अपने कारण में नहीं था तो कहाँ था? यदि कहो कि कहीं न था तो कार्य का सर्वथा अभाव होगा। यदि ऐसा है तो अभाव से भाव की उत्पत्ति हो जायगी। फिर तो बिना कारण के भी कार्य हो सकेगा या किसी कारण से कार्य हो सकेगा। अर्थात् बिना मिट्टी के भी घड़ा बन सकेगा और सूत के धागों से भी घड़ा बना सकेगा। फिर यह कहना कठिन होगा कि अमुक वस्तु अमुक कार्य का कारण है। फिर कार्य कारण सम्बन्ध ही न रहेगा। यह बात तो असत्कार्य वादियों को भी अभिमत नहीं है। असत् कार्यवादी इस आक्षेप का समाधान इस प्रकार करते हैं कि:—

"यत्कार्योपादानशक्तं यत्कारणं तद्गतकारक व्यापारेण तत्कार्योत्पत्तिसिद्धेः।" (वेदान्त० श्रीभाष्य २।१।३५)

अर्थात् जिस कार्य के उत्पन्न करने की जिस कारण में शक्ति होती

है उसी कारण से वह कार्य उत्पन्न हो सकता है। सूत से घड़ा नहीं बन सकता क्योंकि सूत में कपड़ा बनाने की ही शक्ति है।

यदि इस युक्ति पर विचार किया जाय तो अवश्य ही सम्मेलन स्थान मिल सकता है। क्योंकि असत्कार्यवादियों ने भी यह तो मान ही लिया कि विशेष कारण की विशेष उत्पादन शक्ति है और वह कार्य की उत्पत्ति से पहले ही उस विशेष कारण में रहती है। सत्कार्यवादी भी यह तो कहते नहीं कि मिट्टी घड़ा है या घड़ा मिट्टी है। उनका तो यह कहना है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती अर्थात् घड़े को उत्पादन करने की शक्ति पहले से घड़े में विद्यमान है।

इसी विषय को छान्दोग्य-उपनिषद् में इस प्रकार वर्णन किया है—

श्वेत केतु के पिता आरुणि ने श्वेत केतु से कहाः—

'श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः येनाश्रुतँ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातंविज्ञातमिति। कथ नु भगवः स आदेशो भवतीति यथासोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वंमृन्मयं विज्ञातँ स्याद् वाचारम्भणंविकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वंलोहमयं विज्ञात स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्। यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातँ स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवँ सोम्य स आदेशोभवति। (छा० उप० ६।१।२-६)

हे श्वेत केतो। तू जो ऐसा महामना, अभिमानी और विनय-शून्य है। सो क्या तू ने वह आदेश पूछा है जिसके द्वारा बिना सुना हुआ सुने हुये के तुल्य हो जाता है, बिना माना हुआ माने हुये के तुल्य हो जाता है, और बिना जाना हुआ जाने हुये के तुल्य हो जाता है?

श्वेतकेतु ने अपनी अज्ञानता जताते हुये कहा, "भगवन् वह आदेश कैसा है?" पिता ने वह आदेश इस प्रकार सुनाया :—

हे सोम्य ! जैसे मिट्टी के एक ढेले के जानने से सब मिट्टी वाली चीजों को जान लिया जाता है। वाणी से आरंभ (आलंभ) होने वाला विकार नाम वाला है। मिट्टी ही तत्व है।

हे सोम्य। जैसे सोने के एक डले के जानने से सब सोने वाली चीज़ों को जान लिया जाता है। बाणी से आरंभ होने वाला विकार नाम वाला है सोना ही तत्व है।

हे सोम्य जैसे एक निहन्ने (नाखून काटने का यंत्र) के जानने से लोहेवाली सब चीज़ों को जान लिया जाता है। बाणी से आरंभ होने वाला विकार नाम वाला है। लोहा ही तत्व है।

यहाँ तीन दृष्टान्त दिये गये हैं। पहले दो में कारण के ज्ञान से कार्य्य का ज्ञान दिखाया गया है और तीसरे में कार्य्य के ज्ञान से कारण आदि का ज्ञान। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है। वेदान्त सूत्रों के समस्त भाष्यकारों ने केवल पहला ही दृष्टान्त दिया है। पिछला छोड़ दिया है। पहले और दूसरे एक कोटि के हैं। परन्तु तीसरे में विशेषता यह है कि वहाँ 'नखनिकृन्तन' अर्थात् निहन्ने का दृष्टान्त दिया है। निहन्ना कार्य्य है। कारण नहीं।

बादरायण का वेदान्त सूत्र २।१। ४

'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' । है। इसमें कारण और कार्य्य का अनन्यत्व बताया है। और छान्दोग्य के 'आरंभण' आदि की ओर संकेत किया है। अर्थात् तत्व की दृष्टि से जो कारण के गुण हैं वही कार्य्य के। वैशेषिक दर्शन में भी कहा है।

कारण गुण पूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः। (वैशेषिक २।१।२४)

इसका यह अर्थ नहीं है कि कार्य्य और कारण हर बात में एक हैं। केवल तत्व की दृष्टि से एक हैं। कार्य्य का कार्य्यत्व बाणी से आरम्भ होता है। बाणी क्या है ? विशेषता जताने वाली चीज़ ! नाम, शब्द या बाणी का यही लक्षण है। यदि नामधेयत्व को छोड़ दिया जाय अर्थात् विशेषता को छोड़ कर तत्व का विचार करें तो कारण

को समझ कर समस्त कार्य्य और एक कार्य्य को समझ कर कारण तथा अन्य सब कार्य्यों को समझा जा सकता है। दर्शन शास्त्र का लक्ष्य ही तत्व की खोज है उसी की ओर आरुणि ने श्वेतकेतु का ध्यान आकर्षित किया है। उपनिषद् में सत्य का अर्थ तत्व है। अर्थात् वह चीज़ जो कार्य्य में सदा विद्यमान रहती है जैसे सोने के समस्त आभूषणों में सोना।

भूल से लोगों ने यह समझ लिया कि उपनिषद् आभूषण आदि को असत्य और मिथ्या समझती है। उपनिषद् तो दोनों बातें कहती है। कारण से कार्य्य और कार्य्य से कारण जाना जा सकता है। जगत् से ब्रह्म और ब्रह्म से जगत्।

श्री शंकराचार्य्य ने इसके विपरीत अर्थ लिया है :—

कार्यमाकाशादिकं बहु प्रपञ्चं जगत्, कारणं परंब्रह्म, तस्मात्कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्य्यस्यावगम्यते।

(शां० भा० २।१। ४ पृष्ठ १६६)

अर्थात् आकाश आदि प्रपंच जगत् कार्य्य है। परं ब्रह्म कारण है। उस कारण का कारण के साथ अनन्यत्य है। अर्थात् कार्य्य का व्यतिरेक से अभाव है।

अनन्यत्व शब्द से "व्यतिरेकेणाभावः" तो ज्ञात नहीं होता। इससे तो शांकर सिद्धान्त की भी हानि होती है। जब कारण का कार्य्य से अनन्यत्व माना और कार्य्य को मिथ्या माना। तो परंब्रह्म भी मिथ्या हो गया। उपनिषद् निहन्ने का दृष्टान्त देती है। निहन्ना कार्य्य है। लोहा कारण। यदि निहन्ने का अभाव है और निहन्ना समान है लोहे के, तो लोहे का भी अभाव सिद्ध होगा।

इसी प्रकार छान्दोग्य ६।४।१ को शंकर स्वामी ने उद्धृत किया है :—

"अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणी-

त्येव सत्यम्" । यहाँ 'अपागात्' शब्द का 'अभाव' या मिथ्यात्व परक अर्थ लिया है । यह ठीक नहीं । वस्तुतः उपनिषद तो यह कहना चाहती है कि तत्वदर्शी को कार्य्य की विशेषता पर ध्यान नहीं देना चाहिये । यह अर्थ नहीं कि अंगूठी है ही नहीं । यदि नहीं होती तो उसको कार्य्य और सोने को कारण क्यों कहते ? तात्पर्य केवल इतना है कि यदि सोने के गुण जानना चाहते हो तो अंगूठी के अंगूठीपन को दृष्टि से ओझल कर दो । 'अपागात्' का इतना ही अर्थ है ।

शंकर स्वामी लिखते हैं :—

यथा घट करकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वं, यथाच मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टनष्ट स्वरूपत्वात् स्वरूपेणानुपाख्यत्वात्, एवमस्य भोग्य भोक्त्रादि प्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति द्रष्टव्यम् । (शां० भा० २।१।१४ पृष्ठ १६७)

जैसे घटाकाश आदि का महाकाश से अनन्यत्व है और मृगतृष्णिका के जल का ऊसर आदि से अनन्यत्व है क्योंकि दृष्ट होकर नष्ठ हो जाता है और स्वरूप से उसका लक्षण नहीं जाना जा सकता, इसी प्रकार भोग्य और भोक्ता आदि वाला यह प्रपञ्च जगत् भी ब्रह्म के व्यतिरेक से अभाव मात्र है ।

यहाँ दोनों दृष्टान्त गलत है :—क्योंकि

(१) महाकाश और घटाकाश में कार्य्य कारण का सम्बन्ध नहीं ।

(२) न ऊसर और मृगतृष्णिका में कार्य्य कारण का सम्बन्ध है ।

(३) जगत् देखते ही नष्ट नहीं हो जाता । शांकर भाष्य को मैं बहुत दिनों से पढ़ता हूँ । वह मेरे पास है । देखते ही नष्ट नहीं हो गया ।

(४) उपनिषद् में लोहा, सोना और मिट्टी तीनों को सत्य माना है । उन पर शंकर स्वामी का न तो 'दृष्ट नष्ट स्वरूपत्व' लागू होता है न 'स्वरूपेणानुपाख्यत्व' । यह सब जगत् के अंग हैं ।

पूर्व पक्ष—नन्वनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षोऽ नेकशाख एवमने-कशक्ति प्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म ॥ (शां० भा० २।१।१४ पृष्ठ १६७)

यदि ब्रह्म को अनेकात्मक मानो। जैसे एक वृक्ष की अनेक शाखायें हैं। इसी प्रकार ब्रह्म में अनेक शक्ति तथा प्रवृत्ति हैं।

शं० स्वा० का उत्तर पक्ष—नैवं स्यात् ।······वाचारम्भण-शब्देन च विकार जातस्यानृतत्वाभिधानात् ।

ऐसा नहीं······उपनिषद् में समस्त विकारों को अनृत कहा है।

हमारी आलोचना—यद्यपि ब्रह्म की तुलना वृक्ष से नहीं की जा सकती क्योंकि ब्रह्म अखण्ड एक रस है तो भी जैसा हम ऊपर कह चुके हैं उपनिषद् जगत् को विकार तो बताती है परन्तु अनृत नहीं।

शं० स्वा०—(१) 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात्। स्वयं प्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते न यत्नान्तरं प्रसाध्यम्। अतश्चेदं शास्त्रीयं ब्रह्मात्मत्वमवगम्यमानं स्वाभाविकस्य शारीरात्मत्वस्य बाधकं संपद्यते, रज्ज्वादिबुद्धय इव सर्पादिबुद्धीनाम्।

(२) बाधिते च शारीरात्मत्वे तदाश्रयः समस्तः स्वाभाविको व्यवहारो बाधितो भवति यत् प्रसिद्धये नानात्वांशोऽपरो ब्रह्मणः कल्प्येत। (शां० भा० २।१।१४ पृष्ठ १६७)

(१) छान्दोग्य उपनिषद् में आया है कि हे श्वेतकेतो तू वही आत्मा है।यहाँ जीव को ब्रह्म बताया गया है। यह जीव का ब्रह्मत्व स्वयं सिद्ध है यत्न-सिद्ध नहीं। जब ब्रह्मत्व का ज्ञान हो गया तो जीवत्व का ज्ञान चला गया जैसे रस्सी को जान लेने से सर्प का भ्रम दूर हो जाता है।

(२) जब जीवत्व का भ्रम दूर हो गया तो उसके आश्रित समस्त जगत् का व्यवहार भी दूर हो गया। फिर ब्रह्म में नानात्व की कल्पना क्यों की जाय।

हमारी आलोचना—छान्दोग्य उपनिषद् के समस्त 'तत्त्वमसि'

संदर्भ (६।८।१-७) को देखने से ज्ञात होता है कि यहाँ जीव के जीवत्व की सिद्धि है न कि जीव के ब्रह्मत्व की। श्वेतकेतु का पिता भिन्न-भिन्न दृष्टान्तों से उपदेश करता है कि जीव शरीर से भिन्न एक तत्व है। "वही तू है" ब्रह्म का तो वहाँ प्रश्न भी नहीं है। न तो जीव को बाधित किया है न जगत् को अथवा उसके व्यवहार को।

पूर्वपक्ष—(१) एकत्वैकान्ताभ्युपगमे नानात्वाभावात् प्रत्यक्षादीनि लौकिकानि प्रमाणानि व्याहन्येरन् निर्विषयत्वात्, स्थाण्वादिष्विव पुरुषादिज्ञानानि।

(२) तथा विधिप्रतिषेधशास्त्रमपि भेदापेक्षत्वात् तदभावे व्याहन्येत।

(३) मोक्ष शास्त्रस्यापि शिष्यशासित्रादि भेदापेक्षत्वात् तदभावे व्याघातः स्यात्।

(४) कथं चानृतेन मोक्षशास्त्रेण प्रतिपादितस्यात्मैकत्वस्य सत्यत्वमुपपद्येत। (शां० भा० २।१।१४ पृष्ठ १६८)

(१) यदि एकत्व का सिद्धान्त माना जाय तो नानात्व नहीं रहेगा। जैसे ठूंठ को ठूंठ समझ लेने से झूठे पुरुष का ज्ञान नहीं रहता। नाना वस्तुओं के न रहने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी न रहेंगे।

(२) फिर विधि और निषेध बताने वाला शास्त्र भी व्यर्थ होगा।

(३) शिष्य गुरु का भेद भी न रहेगा फिर मोक्ष शास्त्र का कौन किसको उपदेश करेगा?

(४) जब शास्त्र झूठा सिद्ध हो गया तो उस शास्त्र में दिया हुआ आत्मएकत्व कैसे सत्य होगा?

शां०—उत्तर पक्ष—नैष दोषः।

(अ) सर्व व्यवहाराणामेव प्राग्ब्रह्मात्मता विज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः। स्वप्नव्यवहारस्येव प्राक्प्रबोधात्॥

(आ) यावद्धि न सत्यात्मैकत्वप्रतिपत्तिस्तावत् प्रमाणप्रमेयफललक्षणेषु विकारेष्वनृतत्वबुद्धिर्न कस्यचिदुत्पद्यते। विकारानेव

त्वहं ममेत्यविद्ययात्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रति-पद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा । तस्मात् प्राग् ब्रह्मात्मता प्रतिबोधादुपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः ॥

(शां० भा० २।१।१४ पृष्ठ १६८)

यह दोष नहीं ! क्योंकि—

(अ) ब्रह्मात्मता (मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार) के ज्ञान से पूर्व सभी व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं। जैसे जागने से पूर्व स्वप्न के व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं।

(आ) जब तक सत्य आत्मैकत्व का ज्ञान नहीं हो जाता उस समय तक किसी को यह बुद्धि नहीं होती कि प्रमाण, प्रमेय, फल लक्षण वाला विकारयुक्त जगत् मिथ्या है। स्वाभाविकी ब्रह्मात्मता को छोड़ कर प्राणी विकारों को ही अविद्या के कारण "मैं", 'मेरा" ऐसा मानता है। इसलिये ब्रह्म-आत्मता का ज्ञान होने से पूर्व सब लौकिक और वैदिक व्यवहार ठीक ही हैं।

हमारी आलोचना—शंका का समाधान नहीं हुआ। शंका यह थी कि वेद शास्त्र आदि प्रमाण तो अविद्याजन्य हैं, और ऐसे शास्त्रों के आधार पर ही ब्रह्म-आत्मता को माना जाता है। ब्रह्म-आत्मता का इससे भिन्न कोई प्रमाण ही नहीं। फिर ऐसे अविद्या-युक्त झूठे प्रमाणों से जो बात जानी जाय वह सच्ची कैसे? पाठक सोचें कि इसका क्या उत्तर है? कहा गया है कि ब्रह्म-आत्मता के ज्ञान से पूर्व सब झूठे व्यवहार सच्चे प्रतीत होते हैं स्वप्न के समान। हम पूछते हैं कि जब आप पुस्तक लिख रहे हैं या उपदेश दे रहे हैं या अपने विपक्षी का खण्डन कर रहे है अपने मत की पुष्टि कर रहे हैं उस समय आप स्वप्न-तुल्य व्यवहार दशा में हैं या जागृति-तुल्य पारमार्थिक दशा में। यदि जागृति-तुल्य पारमार्थिक दशा में हैं और अपने अतिरिक्त सबको मिथ्या समझते हैं तो आपका यह व्यापार कैसे होता है? किसी रस्सी को सांप न समझने वाला पुरुष उसको मारने का प्रयत्न नहीं करता।

यदि कहो कि हम तो स्वप्न-तुल्य व्यवहार दशा में हैं तो आपको ब्रह्म-आत्मता का ज्ञान कैसे हुआ ? क्या आप स्वप्न के समान इस सिद्धान्त को भी तो अविद्यावश ही नहीं मान रहे ? जागने पर तो स्वप्न की कभी-कभी कुछ कुछ स्मृति रहती है परन्तु स्वप्न में जाग्रत की स्मृति की भावना नहीं रहती। जागने पर तो मनुष्य कहता है कि मैं अब स्वप्न नहीं देख रहा परन्तु स्वप्न में कोई नहीं कहता कि मैं इस समय जाग नहीं रहा स्वप्न देख रहा हूँ।

पूर्वपक्ष—कथ त्वसत्येन वेदान्तवाक्येन सत्यस्य ब्रह्मात्मत्वस्य प्रतिपत्तिरूपपद्येत। नहि रज्जुसर्पेण दष्टो म्रियते।

(शां० भा० २।१।१४ पृष्ठ १६८-१६६)

असत्य वेदान्त वाक्यों से सत्य ब्रह्मात्मता का ज्ञान कैसे संभव है ? रस्सी को भ्रम से सांप समझने से तो उसके काटने से मृत्य नहीं होती।

शां० उत्तर पक्ष—नैष दोषः। शङ्काविषादिनिमित्तमरणादि कार्योपलब्धेः। स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनोदकस्नानादि कार्य दर्शनात्। (शां० भा० २।१।१४ पृष्ठ १६६)

यह दोष नहीं। कभी कभी विष की शंका मात्र से मृत्यु देखी गई हैं। स्वप्न देखने वाले को स्वप्न दशा में सांप काटने या जल-स्नान करने आदि के कार्य्य देखे गये हैं।

पूर्व पक्ष—तत्कार्यमप्यनृतम्। (पृ० १६६)

वह कार्य्य तो मिथ्या है।

शां० उत्तर पक्ष—यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य सर्पदंशनोदक स्नानादि कार्य मनृतं तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलं, प्रतिबुद्धस्याप्यबाध्यमानत्वात्। (शां० भा० २।१।१४ पृष्ठ १६६)

मिथ्या हो। परन्तु उसका ज्ञान तो सच्चा फल है। क्योंकि जागने पर उसका बाध नहीं होता।

हमारी आलोचना—प्रथम तो झूठ को सत्य का आधार या प्रेरक मानना भयानक सिद्धान्त है। विष की आशंका से मृत्यु का होना सत्य के अनृत-मूलक होने का दृष्टान्त नहीं। मृत्यु मिथ्या विष के कारण नहीं होती किन्तु वास्तविक विष की वास्तविक स्मृति के कारण जो वास्तविक भय होता है उनके कारण मृत्यु होती है। एक वैद्य बता सकता है कि यह मृत्यु विष के कारण हुई और यह मृत्यु भय के कारण। मिथ्या विष के कारण जो मृत्यु हुई होगी उसके शव में विष का कोई चिह्न न होगा केवल भय का चिह्न होगा।

आपका यह कहना भी ठीक नहीं कि यद्यपि कार्य्य मिथ्या हो परन्तु उसका ज्ञान तो ठीक है क्योंकि यह ज्ञान तो आपको जागने की अवस्था में हुआ है स्वप्न की अवस्था में नहीं। दार्ष्टान्त है स्वप्न तुल्य व्यवहार अवस्था का क्योंकि तो इसी व्यवहार अवस्था की चीज़ है।

शां० स्वा०—(१) असत्येनैवस्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यते।

(२) प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वयव्यतिरेककुशलानामीदृशेन स्वप्नदर्शनेन साध्वागमः सूच्यत ईदृशेनासाध्वागम इति।

(३) तथाकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः।

(शा० भा० २।१।१४. पृष्ठ १६६)

(१) असत्य स्वप्न से सत्य मौत की सूचना मिलती है।

(२) लोक में प्रसिद्ध है कि चतुर लोग ठीक-ठीक बता देते है कि अमुक स्वप्न शुभ है अमुक अशुभ।

(३) मिथ्या 'अ' आदि लकीरों से सत्य अक्षर 'अ' का बोध होता है। अर्थात् यद्यपि लिखा हुआ 'अ' ध्वनि नहीं है परन्तु उससे ध्वनि का बोध होता है।

हमारी आलोचना—यह दृष्टान्त श्री शं० स्वा० के यश को बट्टा लगाने वाले हैं। इससे अधिक हम कुछ नहीं कहते। न जाने लोक

में प्रचलित या उनके आधार पर पुस्तकों में लिखी हुई ऐसी भ्रम-मूलक बातों पर शं० स्वा० ने कैसे विश्वास कर लिया और ऐसे गौरवान्वित ग्रन्थ में उसको क्यों लिख दिया ? झूठे गवाह को तो कोई अपनी पुष्टि में पेश नहीं करता चाहे वह उस समय सच ही क्यों न बोलता हो। स्वप्न-दृष्ट बात कभी कभी अकस्मात् ठीक भी हो सकती है। कोई कारण रहा होगा। परन्तु क्या उसको प्रमाण की कोटि में लाते हैं ?

लिपि और भाषा का सम्बन्ध भी झूठा नहीं है। यदि मिथ्या 'आ' आदि रेखा से सत्य 'आ' ध्वनि का ज्ञान होता तो झूठी 'इ' रेखा से भी 'आ' ध्वनि का ज्ञान होना चाहिये था क्योंकि यद्यपि सत्य 'अ' सत्य 'इ' से भिन्न है तथापि मिथ्या 'अ' और मिथ्या 'इ' में क्या भेद है ?

वस्तुतः लिपि आँख का विषय है और ध्वनि कान का। प्रश्न केवल प्रतिनिधित्व का है। मिथ्या और सत्य का नहीं। कोई मिथ्या किसी सत्य का प्रतिनिधि नहीं हो सकता। केवल एक सत्य दूसरे सत्य का प्रतिनिधि हो सकता है। आप का सिद्धान्त भी गलत, दृष्टान्त भी गलत और आपकी व्याख्या भी गलत।

शां० स्वा०—अपि चान्त्यमिदं प्रमाणमात्मैकत्वस्य प्रतिपादकं नातः परं किंचिदाकाङ्क्ष्यमस्ति। (शा० भा० २।१।१४ पृष्ठ १६६)

आत्मा के एकत्व का प्रतिपादक यह अन्त्यं प्रमाण है। इसके पश्चात् कुछ चाहने योग्य नहीं रहता।

हमारी आलोचना—परन्तु इस अन्त्य प्रमाण के पहुँचने तक जो व्यापार होता है उसको कैसे मिथ्या माना जाय ? वास्तविक प्रश्न तो यही है। व्यवहार को परमार्थतः मिथ्या मान कर तो एक क्षण भी नहीं चल सकते। परमार्थतः मिथ्या जल में कौन कब तक नहा सकता है ? और कौन उसको उपदेश कर सकता है कि नहाते जाओ ? यदि शास्त्र अविद्या जन्य है और उसमें यज्ञ आदि के करने का विधान है तो

शास्त्रवित् ऋषियों ने इस मिथ्या व्यवहार के करने का उपदेश ही क्यों किया ? यदि कहो कि अन्त्य सत्य की खोज के लिये। तो फिर वही प्रश्न होगा कि मिथ्या व्यापारों से सत्य की खोज नहीं हो सकती।

पूर्व पक्ष—मृदादि दृष्टान्त प्रणयनात् परिणामवद् ब्रह्म शास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते। परिणामिनो हि मृदादयोऽर्थालोके समधिगता इति।

मिट्टी आदि के दृष्टान्त से ज्ञात होता है कि शास्त्र ब्रह्म को परिणामी मानता है। क्योंकि मिट्टी आदि तो परिणामी हैं।

शां० उत्तर पक्ष—नेत्युच्यते। 'सवा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म (बृ० ४।४। २५) 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।६। २६) 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) इत्याद्याभ्यः सर्व विक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात्। न ह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वं तद् रहितत्वं च शक्यं पतिपत्तुम्

(शा० भा० २।१। १४ पृष्ठ २००)

नहीं। 'वह आत्मा महान् अज, अजर, अमर, अमृत, अभय हैं। 'वह ऐसा नहीं, ऐसा नहीं'। 'वह न स्थूल है न अणु'। इन श्रुतियों से ब्रह्म का कूटस्थ होना पाया जाता है। एक ही ब्रह्म परिणामी भी हो और न भी हो यह दोनों बातें नहीं हो सकतीं।

हमारी आलोचना—आपने समाधान न करके एक बात कह दी कि ब्रह्म परिणामी और अपरिणामी दोनों नहीं हो सकता। यह तो विपक्षी भी मानता है। यही तो विपक्षी ने आप के विरुद्ध आक्षेप किया था कि आप ब्रह्म को अपरिणामी भी मानते हैं और साथ ही परिणामी मिट्टी का दृष्टान्त भी देते हैं। इस का तो आपने निराकरण नहीं किया। वस्तुतः इस प्रबल कथन से आपके ही सिद्धान्त का व्यभिचारत्व और स्पष्ट हो गया।

पूर्वपक्ष—कूटस्थब्रह्मात्मवादिन एकत्वैकान्त्यादीशित्रीशितव्याभाव ईश्वरकारणप्रतिज्ञाविरोधः। (शां० भा० २।१।१४ पृष्ठ २००)

जो ब्रह्म को कूटस्थ मानते हैं वे शासक शासित भेद का अभाव मानते हैं फिर ईश्वर को जगत् का कारण मानने से प्रतिज्ञा का विरोध होगा (क्योंकि सूत्र १।१।२ में ब्रह्म को जगत् का कारण माना गया है) ।

शां० उत्तर प्रश्न—न । (१) अविद्यात्मकनामरूपबीज व्याकरणापेक्षत्वात् सर्वज्ञत्वस्य । (शां० भा० २।१।१४ पृष्ठ २००)

विरोध नहीं है क्योंकि सर्वज्ञत्व अविद्यात्मक नाम और रूप के बीज के विकास के आश्रित है ।

अर्थात् अविद्यात्मक नाम और रूप का जब विकास होता है तो संसार के पदार्थों का बहुत्व दृष्टिगोचर होता है और इस बहुत्व से ही ब्रह्म सर्वज्ञ कहलाता है । जब तक 'सर्व' न हो 'सर्वज्ञ' कैसा ? और 'सर्व' नाम तथा रूप के कारण है । नाम और रूप अविद्या के कारण हैं ।

(१) सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे तत्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते सर्वज्ञस्येश्वरस्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्योरभिलप्येते । ताभ्यामन्यः सर्वज्ञः ईश्वर इति । (पृष्ठ २०१)

सर्वज्ञ ईश्वर के आत्मभूत जैसे अविद्या कल्पित नाम और रूप हैं जो न तो तत्व हैं न तत्वेतर हैं । अनिर्वचनीय हैं । ये संसार प्रपञ्च के बीज हैं । इन्हीं को श्रुति और स्मृति में सर्वज्ञ ईश्वर की माया, शक्ति, प्रकृति कहा है । सर्वज्ञ ईश्वर इन दोनों से अलग है ।

हमारी आलोचना—नाम और रूप जब अविद्या कल्पित हैं तो सर्वज्ञ ईश्वर के आत्मभूत कैसे ? अविद्या-कल्पित का क्या अर्थ ? नाम और रूप तो कल्पित हुये । कल्पक कौन हुआ ? अविद्या स्वयं कल्पक नहीं हो सकती क्योंकि अविद्या तत्व नहीं । यदि तत्व मानोगे तो द्वैत सिद्ध होगा । अतत्व मानोगे, तो अविद्या कल्पक न होगी । यदि कल्पक

कोई तीसरा हो जो अविद्या के कारण कल्पना करता हो तो यह केवल ब्रह्म हो सकता है। इससे तो अविद्या का अधिष्ठान ब्रह्म ही होगा। यदि नाम और रूप ईश्वर के आत्म भूत इव हैं तो ईश्वर उनसे अन्य कैसा। आत्म-भूत का क्या अर्थ और आत्म-भूत इव का क्या अर्थ? कुछ निरर्थक शब्दों को जोड़ देने मात्र से शङ्का का समाधान नहीं हो सकता। यह कैसे हो सकता है कि एक चीज तत्व भी न हो और अतत्व भी न हो? यदि तत्व होगी तो अतत्व नहीं और यदि अतत्व होगी तो तत्व नहीं। ऐसी प्रतिपत्ति का खण्डन तो स्वयं शंकर स्वामी ने अन्यत्र किया है। देखिए :—

(१) न ह्येकस्मिन्धर्मिणि युगपत् सदसत्त्वादिविरुद्धधर्म समावेशः संभवति शीतोष्णवत्। (शां० भा० २।२।३३ पृष्ठ २५३)

एक ही धर्म में एक साथ सत् और असत् दोनों विरुद्ध धर्मों का समावेश संभव नहीं ठंडक और गरमी के समान।

(२) अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन्। उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम्। (पृष्ठ २५३)

अवक्तव्य है तो क्यों कहते हो। कहते हो तो अवक्तव्य कैसे? कहा भी जाय और अवक्तव्य भी हो यह ठीक नहीं।

यह वाक्य शं० स्वा० ने जैनियों के सप्तभंगी न्याय के सम्बन्ध में कहे हैं। परन्तु ये ठीक ठीक उनके 'अनिर्वचनीय' पर लागू होते हैं। भेद केवल शब्दों का है जैनी 'अवक्तव्य' कहते हैं। शं० स्वा० 'अनिर्वचनीय'। 'तव्यत्' प्रत्यय और 'अनीयर' प्रत्ययों के अर्थों में क्या भेद? (तव्यत्तव्यानीयरः—पाणिनि ३।१।९६)।

श्री शंकराचार्य जी का अविद्या का सिद्धान्त तो अनेकों दोषों का घर है। श्रीरामानुजाचार्य के श्रीभाष्य में इसी सूत्र के भाष्य में अनेक दोष दिखाये गये हैं। कुछ हम भी यहाँ उद्धृत करते हैं:—

(१) जीवस्याकल्पित स्वाभाविकारूपेणाविद्याश्रयत्वे ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात्।

यदि यह मानो कि अविद्या का अधिष्ठान जीव का स्वाभाविक रूप है जिसमें कल्पना न की गई हो तो कहना पड़ेगा कि ब्रह्म ही अविद्या का अधिष्ठान है।

(२) तदतिरिक्तेन तस्मिन् कल्पितेनाकारेणाविद्याश्रयत्वे जडस्याविद्याश्रयत्वमुक्तं स्यात्।

यदि ब्रह्म से अतिरिक्त कल्पित स्वरूप में अविद्या का आश्रय मानो तो अविद्या जड़ के आश्रित होगी। यह भी ठीक नहीं क्योंकि अद्वैत-वादी इन दोनों से भिन्न आकार को स्वीकार नहीं करते।

(३) कल्पिताकारविशिष्टेन स्वरूपेणैवाविद्याश्रयत्वमिति चेत् तन्न। स्वरूपस्याखण्डैकरसस्याविद्यामन्तरेण विशिष्ट रूपत्वासिद्धेः।

यदि जीव के कल्पित-आकार-विशिष्ट स्वरूप को अविद्या का आश्रय मानो तो भी ठीक नहीं। क्योंकि बिना अविद्या के अखण्ड, एकरस स्वरूप में विशिष्ट रूप की सिद्धि कैसे होगी? (अविद्या से ही तो जीव को विशेषता प्राप्त होती है)

(४) किं च बन्धमोक्षादिव्यवस्था सिद्ध्यर्थं जीवाज्ञानस्य समाश्रयणम्। सा तु व्यवस्था जीवाज्ञानपक्षेपि न सिध्यति अविद्या विनाश एव हि मोक्षः।

यदि बन्ध-मोक्ष आदि की व्यवस्था की सिद्धि के लिए जीव के अज्ञान का आश्रय लिया जावे तो भी व्यवस्था नहीं बनती। अविद्या का नाश ही तो मोक्ष है।

(५) तत्रैकस्मिन्मुक्ते विद्याविनाशादितरेपि विमुच्येरन्।

ऐसी दशा में एक की मुक्ति होते ही अविद्या के नाश के कारण सबकी मुक्ति हो जायगी।

(६) अन्यस्यमुक्तत्वादविद्या तिष्ठतीति चेत् तर्हि अमुक्तिःस्यात्।

यदि दूसरों की मुक्ति नहीं हुई तो अविद्या रहेगी और उसके कारण एक की भी मुक्ति न होगी।

(७) प्रतिजीवमविद्याभेदः कल्प्यते। तत्र यस्याविद्या विनष्टा स मोक्ष्यते यस्य त्वनष्टा स भ्रन्स्यत इति चेत् तन्न।

यदि जीवों में अविद्या भेद अलग अलग माना जाय। अर्थात् जिसकी अविद्या नष्ट हो जाय वह मुक्त हो जाय, जिसकी न नष्ट हो वह भ्रान्त रहे। यह भी नहीं बनता।

(८) प्रति जीवमिति जीवभेदमाश्रित्य ब्रूषे स जीवभेदः किं स्वाभाविक उताविद्याकल्पितः।

अलग-अलग जीव में तो तब कहोगे जब जीवों में भेद मानों। यह भेद स्वाभाविक है या अविद्याकल्पित ?

(९) न तावत् स्वाभाविकः। अनभ्युपगमात्।

स्वाभाविक तो है नहीं यह सिद्धान्त के विरुद्ध होगा।

(१०) अथाविद्याकल्पितस्तत्रेयं जीवभेदकल्पिकाविद्या किं ब्रह्मण उत जीवानाम्।

यदि अविद्याकल्पित मानो तो प्रश्न होगा कि यह जीव के भेद की कल्पना करने वाली अविद्या ब्रह्म की है या जीवों की।

(११) ब्रह्मण इति चेदागतोसि मदीयं मागम्।

यदि ब्रह्म की तो तुम हमारे ही रास्ते पर आ गये। अर्थात् ब्रह्म को अविद्या का अधिष्ठान मान लिया।

(१२) अथ जीवानाम्। किमस्याजीवभेदक्लृप्ति सिद्धयर्थतां विस्मरसि।

अगर जीवों की तो क्या यह भूल गये कि जीवों के भेदों की व्याख्या करने के लिये ही अविद्या की कल्पना की गई थी।

(१३) न चात्र बीजाङ्कुरन्यायः सिद्धयति। बीजाङ्कुरेषु ह्यन्य-दन्यद्बीजमन्यस्यान्यस्याङ्कुरस्योत्पादकम्। इह तु याभिरविद्याभिर्ये जीवाः कल्प्यन्ते तानेवाश्रित्य तासां सिद्धिरित्यशङ्कनीयता।

यहाँ बीजाङ्कुर न्याय भी काम नहीं देता क्योंकि बीज अलग होता है और अंकुर अलग। यहाँ तो जिन अविद्याओं की कल्पना जीवों के भेद के लिये की गई वही अविद्यायें जीव-भेद के आश्रित हो गई। अन्योन्याश्रय दोष आ गया।

(१४) किं च जीवाश्रयाया अविद्यायास्तत्वज्ञानोदयान्नाशे सति जीवो नश्येद्वा न वा।

तत्वज्ञान होने पर जब अविद्या नष्ट हो जायगी तो जीव का नाश होगा या नहीं।

(१५) यदि नश्येत् स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः स्यात्।

यदि नाश हो जाय तो मोक्ष का अर्थ होगा स्वरूप का नाश।

(१६) नाचेदविद्यानाशेऽप्यनिर्मोक्षः।

यदि नाश न हो तो अविद्या के नाश पर भी मोक्ष न होगी।

इस प्रकार युक्तियों की एक शृङ्खला है जिसमें अविद्या और माया-वाद का भली भांति खण्डन विद्यमान है। हम यहाँ इसको अधिक नहीं बढ़ाते।

शं० स्वा०—यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरत्येवं कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति।

(शां० भा० २ १।१६ पृष्ठ २०३)

जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालों में सत्व से व्यभिचरित नहीं होता इसी प्रकार कार्य्य जगत् भी तीनों कालों में सत्व से व्यभिचरित नहीं होता।

हमारी आलोचना—फिर जगत् को मिथ्या क्यों कहते हो ? वाद-रायण का सूत्र सत्वाच्चावरस्य (२।१।१६) सिद्ध करता है कि जगत् सत्य है। तभी तो छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है।

कथमसतः सज्जायेत। (छा० ६।२।२)

अर्थात् असत् से सत् उत्पन्न नहीं हो सकता। यहाँ कारण को सत् बताना है क्योंकि कार्य्य तो सत् है ही।

हाँ एक बात शं० स्वा० ने विचित्र कही। कारण ब्रह्म तीनों कालों में एक सा रहता है। परन्तु कार्य्य तीनों कालों में विकृत रूप से बदलेगा। अन्यथा कार्य कैसा? हम इस अध्यास के आरम्भ में लिख चुके हैं कि इतने मात्र से अनन्यत्व में भेद नहीं पड़ता। शंकर स्वामी ने इस सम्बन्ध में बहुत अच्छा कहा है :—

न ह्ययमत्यन्तासत्त्वाभिप्रायेण प्रागुत्पत्तेः कार्यस्यासद् व्यपदेशः, किं तर्हि व्याकृतनामरूपत्वाद् धर्माद्व्याकृत नामरूपत्वं धर्मान्तरं तेन धर्मान्तरेणायमसद् व्यपदेशः प्रागुत्पत्तेः सत एव कार्य्यस्य कारणरूपेणानन्यस्य। (शां० भा० २।१।१७ पृष्ठ २०३)

कार्य्य का उत्पत्ति से पूर्व '**असत्**' कहलाना अत्यन्त असत्व के अभिप्राय से नहीं है। केवल नाम और रूप के अव्याकृत होने के कारण है। उत्पत्ति के पूर्व कार्य्य के नाम रूप आदि अव्यक्त रहते हैं। उत्पत्ति के पश्चात् व्यक्त होते हैं। उत्पत्ति के पूर्व कार्य्य कारण रूप से विद्यमान ही रहता है। इस अवस्था में उसका अनन्यत्व है।

यह बात तो सभी को माननीय होनी चाहिये। परन्तु इससे शंकराचार्यजी के अपने मत का खण्डन हो जाता है।

रहा असत्कार्य्यवाद और सत्कार्य्यवाद का झगड़ा। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि कारण में केवल उपादान कारण को ही लिया गया है। अन्य कारण छोड़ दिये गये हैं। और शांकर-मत में ब्रह्म को अभिन्न निमित्त-उपादान कारण मानकर झमेले को और बढ़ा दिया गया है। घड़े का केवल उपादान कारण मिट्टी है। निमित्त कारण कुम्हार या कुम्हार का ज्ञान है। साधारण कारणों में प्रयोजन भी शामिल है जिसके लिये घड़ा बनाया जाता है। यद्यपि घड़े का उपादान मिट्टी सदैव घड़े में रहती है और उत्पत्ति से पूर्व कारण की अपेक्षा से घड़े का केवल अवस्था-सम्बन्धी अभाव है तात्विक नहीं। फिर भी घड़े के बनने का ज्ञान कुम्हार की बुद्धि में पहले से होता है।

श्री शंकर स्वामी ने वैशेषिक आदि के विरुद्ध कुछ आक्षेप किये हैं। उनकी मीमांसा आवश्यक है।

पूर्व पक्ष—क्षीर एव दध्नः कश्चिदतिशयो न मृत्तिकायां, मृत्तिकायामेव च घटस्य कश्चिदतिशयो न क्षीरे।

(शां० भा० २।१।१८ पृष्ठ २०४)

दूध में ही दही बनाने की योग्यता (अतिशय) है मिट्टी में नहीं। मिट्टी में ही घड़ा बनाने की योग्यता है दूध में नहीं। इसलिये यद्यपि कार्य्य कारण में नहीं होता, उस के उत्पन्न करने की योग्यता होती है।

शां० उत्तर पक्ष—शक्तिश्च कारणस्य कार्य्यनियमार्था कल्पमाना नान्या ऽसती वा कार्य्यं नियच्छेत्। असत्त्वाविशेषादन्यत्वाविशेष च। तस्मात् कारणस्य आत्म भूता शक्तिः शक्तेश्चात्मभूतं कार्य्यम्। (पृष्ठ २०४)

कारण में जो कार्य्य के निर्माण की शक्ति कल्पित की गई वह न अन्य है न असत् है। यदि अन्य हो तो किसी अन्य से कोई अन्य उत्पन्न हो जाय। यदि असत् हो तो कारण की आवश्यकता न रहे। असत् से सत् की उत्पत्ति हो जाय, इसलिये कारण और शक्ति में भेद नहीं। शक्ति और कार्य्य में भेद नहीं। अतः कारण और कार्य्य में भेद नहीं।

हमारी समालोचना—भेद तो शंकर स्वामी ने भी माना है यदि भेद न मानते ती अविद्या और माया की कल्पना क्यों करते? कार्य्य को 'वाचारम्भणं विकारो नाम धेयं' कह कर मिथ्या माना और मिट्टी को सत्य माना। उनकी इस कल्पना से तो कार्य्य का कार्य्यत्व ही उड़ जाता है। उसके उड़ते ही 'जन्माद्यस्य यतः' भी निरर्थक हो जाता है।

एक वस्तु में कई प्रकार की योग्यतायें होती हैं जो अन्य वस्तुओं के सम्बन्ध से व्यक्त हुआ करती हैं। इसलिए प्रत्येक अंश में उनको अभिन्न नहीं कह सकते। जैसे दूध में दही बनाने की भी शक्ति है और

रक्त बनाने की भी। किसी पात्र में विशेष क्रिया के द्वारा रख देने से दही बन जाता है। और पीने वाले के पेट में पच कर रक्त बन जाता है। परन्तु क्या यह कह सकेंगे कि दूध अनन्य है दही से और दूध अनन्य है रक्त से। मिट्टी में दही बनाने की शक्ति तो नहीं है परन्तु कई प्रकार के घड़े बनाने की शक्ति है। फिर क्या उनको एक दूसरे से अनन्य कहेंगे ? कोई बुद्धिमान् पूर्ण घट के स्थान में फूटा घड़ा न लेगा चाहे उन दोनों की मिट्टी एक ही क्यों न हो।

यह जो कहा कि शक्ति न तो कारण से अन्य है न असत्। असत् तो है नहीं। क्योंकि विद्यमान है। रही अन्यत्व की बात। सो अन्यत्व के अनेक अर्थ हैं। उनमें गड़बड़ कर देने से युक्ति में भी गड़बड़ हो जाती है। यदि वस्तु और शक्ति एक ही होती तो 'कारणस्य शक्ति' ऐसा क्यों कहते ? सम्बन्धकारक लगाने का अर्थ ही क्या है ? इस प्रकार तो समस्त भाषा ही निरर्थक हो जायगी, हाँ जिस प्रकार घोड़ा औरभैंसा अलग अलग हैं इस प्रकार नहीं। शंकर स्वामी स्वयं लिखते हैं :—

"कार्य्यकारणयोर्द्रव्यगुणादीनां चाश्वमहिषवद् भेदबुद्धिय भावात् तादात्म्यमभ्युपगन्तव्यम्" । (पृष्ठ २०४)

अर्थात् कार्य्य कारण और द्रव्यगुण में घोड़े और भैंसे के समान बुद्धि भेद का भाव नहीं। अतः उनमें "तादात्म्य" है।

यह ठीक है कि कारण-कार्य्य या द्रव्यगुण में घोड़े और भैंसे के समान बुद्धि-भेद नहीं। परन्तु बुद्धि-भेद है तो अवश्य। तभी तो एक को कारण कहा दूसरे को कार्य्य। कोई मिट्टी को घड़ा नहीं कहता। जब हम सुनार से कहते हैं कि इस सोने का कंगन बना दो और जब वह बना कर लाता है तो कहते हैं देखो यह कंगन वैसा नहीं बना जैसा हमने कहा था। हम तुम को दाम न देंगे। तो क्या कोई कह सकता है कि कारण और कार्य्य में बुद्धि-भेद नहीं। इसी प्रकार बर्फ द्रव्य है उसमें ठंडक गुण है। कोई बर्फ को ठंडक नहीं कहता। बर्फ में सफेदी

भी तो है। यदि बर्फ और ठंडक में 'तादात्म्य' मानो और बर्फ और सफेदी में 'तादात्म्य' मानो तो ठंडक और सफेदी में 'तादात्म्य' मानना पड़ेगा। और मानने वाला हँसी का पात्र हो जायगा। इसलिये कारण में विशेष कार्य्य के उत्पादन का अतिशय स्वीकार कर लेना आपकी अविद्या-कल्पना से तो अच्छा ही है। यह अतिशय तो प्रत्यक्ष दीखता है। आपकी अविद्या तो कल्पना-मात्र ही है। चाहे इसको सत्कार्य्य-वाद कहिये चाहे असत्कार्य्यवाद कहिये। शब्दों के झगड़े से कोई प्रयोजन नहीं।

यहाँ तो आप पूर्व-पक्ष के "अतिशय" को स्वीकार नहीं करते परन्तु अन्यत्र आप ही ने किया है क्योंकि वहाँ अतिशय के बिना आपका काम नहीं चल सकता था। देखिये :—

(१) **असत्यतिशये प्रकृतिविकारभावानुपपत्तेः।**

(शां० भा० ११।३।६ पृष्ठ २७१)

यदि कारण में अतिशय न माना जाय तो कार्य्य अर्थात् विकार की उपपत्ति नहीं हो सकती।

(२) **सामान्याद्धि विशेषा उत्पद्यमाना दृश्यन्ते मृदादेर्घटादयो न तु विशेषेभ्यः सामान्यम्।**

(शां० भा० ११।३।६ पृष्ठ २७१)

सामान्य से ही विशेष उत्पन्न हुये देखे जाते हैं जैसे मिट्टी से घड़े आदि, न कि विशेषों से सामान्य*।

शां० स्वा०—समवायकल्पनायामपि समवायस्य समवायिभिः संबन्धेऽभ्युपगम्यमाने तस्य तस्य अन्योन्यः संबन्धः कल्पयितव्य इत्यनवस्था प्रसङ्गः। अनभ्युपगम्यमाने च विच्छेदप्रसङ्गः।

(शा० भा० २।१।१८, पृष्ठ २०४)

---

*नोट—यदि शंकर स्वामी वैशेषिक के सामान्य, विशेष को नहीं मानते तो यहाँ उनका प्रयोग क्यों करते।

यदि यह मानो कि कार्य-कारण या द्रव्य-गुण में समवाय सम्बन्ध है तो अनवस्था दोष आयेगा क्योंकि उस समवाय का समवायि के साथ क्या सम्बन्ध होगा यह प्रश्न रहेगा। न मानो तो विच्छेद का प्रश्न उठेगा।

हमारी समालोचना—अनवस्था दोष बताना बिना खाल के बाल की खाल खींचने के प्रयत्न के समान है। कार्य और कारण में या गुण और द्रव्य में सम्बन्ध तो है ही। कारण और कार्य में एक प्रकार का और द्रव्य और गुण में दूसरी प्रकार का। यह कल्पित नहीं है। वास्तविक है। हमारे दैनिक व्यवहार से यह प्रख्यात है। इसका निषेध अपनी बुद्धि का निषेध है। बुद्धि में इस सम्बन्ध का भाव विद्यमान है। केवल इस सम्बन्ध का नाम रखना है। सो इन दोनों प्रकार के सम्बन्धों के लिये एक नाम रख दिया गया "समवाय-सम्बन्ध"। याद रखना चाहिये कि कारण-कार्य सम्बन्ध वही नहीं है जो द्रव्य-गुण सम्बन्ध है। ये हैं तो दो। परन्तु दार्शनिकों ने नाम एक ही रक्खा है। हम ऊपर दिखा चुके हैं कि आपके रक्खे हुए 'तादात्म्य' में क्या दोष है। इससे तो 'समवाय' बहुत अच्छा है। यदि इन दोनों से इतर आप कोई तीसरा नाम रखते तो हम उसकी भी परीक्षा करते। यदि भाव एक ही हैं तो नाम पर इतना झगड़ा क्यों?

पूर्वपक्ष—समवायः स्वयं संबन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैवापरं संबन्धं संबध्यते।

समवाय स्वयं सम्बन्ध है। वह बिना किसी की अपेक्षा के दूसरे सम्बन्ध से सम्बद्ध हो जायगा।

शां० उ० प०—संयोगोऽपितर्हि स्वयं संबन्धरूपत्वादनपेक्ष्यैव समवायं संबध्यते। (शां० भा० २।१।१८ पृष्ठ २०४)

तो संयोग भी स्वयं सम्बन्ध होने के कारण बिना समवाय की अपेक्षा के सम्बद्ध हो जायगा।

हमारी समालोचना—संयोग सर्वथा भिन्न प्रकार का सम्बन्ध है। उस पर आपका आक्षेप लागू नहीं होता। दो घोड़ों को परस्पर बाँधने के लिये रस्सी चाहिये परन्तु घोड़े और उसके रंग को बाँधने के लिये रस्सी की आवश्यकता नहीं।

शां० स्वा०—तादात्म्यप्रतीतेश्च द्रव्य गुणादीनां समवाय-कल्पनानर्थक्यम्। (पृ० २०४)

द्रव्य गुण तथा कार्य कारण में तादात्म्य-प्रतीति है, अर्थात् सब इनको एक ही समझते हैं। इसलिये समवाय की कल्पना करने का कोई अर्थ नहीं।

हमारी समालोचना—तादात्म्य प्रतीति नहीं होती। तादात्म्य प्रतीति बताना मनोवैज्ञानिक भूल (Psychological mistake) होगी। इसकी व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं। परन्तु यदि आपको 'समवाय' शब्द से चिड़ है तो आप इसको न प्रयुक्त कीजिये। बादरायण के सूत्र में तो है नहीं। आपने ही बीच में प्रश्न उठा दिया। परन्तु कार्य-कारण और द्रव्य-गुण में कोई सम्बन्ध तो मानना ही पड़ेगा। आपने उसके लिये 'तादात्म्य' नाम चुना। चुनिये! क्या हानि। परन्तु कारण के भाव और कार्य के भाव में, एवं द्रव्य के भाव और गुण के भाव में जो बौद्धिक भिन्नता है उसे तो आप दूर नहीं कर सकते। यह न तो कल्पना है न भ्रम। कोई नहीं कह सकता कि कारण कार्य है या कार्य कारण। अथवा द्रव्य गुण है या गुण द्रव्य।

श्री शंकराचार्य जी भी व्यवहार में ऐसा ही मानते आये हैं जैसे :—

"योऽयमदृश्यत्वादिगुणकोभूत योनिः स परमेश्वर एव"।

(शां० भा० १।२।२१ पृ० ८२)

अर्थात् "यह जो अदृश्यत्व आदि गुण वाला भूतयोनि है वह परमेश्वर ही है।"

यह अदृश्यत्व गुण है। भूतयोनि गुणी या द्रव्य। गुण और गुणी एक नहीं हो सकते।

यदि कहा जाय कि यह तो व्यावहारिक प्रयोग है तो ठीक नहीं क्योंकि भावों में बौद्धिक-भेद है। उपचार की भाषा नहीं।

आगे शं० स्वा० ने एक लम्बी विकल्प-शृङ्खला द्वारा समवाय का खण्डन किया है। इसका भी सूत्र से सम्बन्ध नहीं। परन्तु षड् दर्शनों के ऐक्य के कारण हम इसकी आलोचना करते हैं।

शं० स्वा०—(१) कथं च कार्यमवयविद्रव्यं कारणेष्ववयव-द्रव्येषु वर्तमानं वर्तते। (शां० भा० २।१।१८ पृष्ठ २०४)

कार्य रूप अवयवी द्रव्य कारणरूप अवयव द्रव्यों में कैसे रहता है ?

अर्थात् प्रश्न यह है कि घड़ा मिट्टी के कणों में कैसे वर्तमान रहता है ?

(२) किं समस्तेष्ववयवेषु वर्तेत उत प्रत्यवयवम्। (पृ० २०४)

(यदि वर्तमान रहता है तो) क्या सब अवयवों में मिल कर या अलग अलग एक एक अवयव में ?

(३) यदि तावत् समस्तेषु वर्तेत ततो-वयवी-अनुपलब्धिः प्रसज्येत। समस्तावयवसंनिकर्षस्याशक्यत्वात्। (पृ० २०४)

यदि सब में मिलकर रहेगा तो अवयवी का ज्ञान न होगा क्योंकि प्रत्यक्ष का ज्ञान होता है इन्द्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से। अवयवों का संपूर्णतया मिलकर इन्द्रियों से संनिकर्ष नहीं हो सकता।

(४) नहि बहुत्वं समस्तेष्वाश्रयेषु वर्तमानं व्यस्ताश्रयग्रहणेन गृह्यते। (पृष्ठ २०४)

दूसरी बात यह है कि समस्त के आश्रित रहने वाले बहुत्व का ज्ञान अवयवों के व्यस्त अर्थात् अलग-अलग ज्ञान से न हो सकेगा।

तात्पर्य यह है कि यदि बीस चीज़ें हैं तो यह बीस होने का ज्ञान अलग-अलग चीज़ें नहीं दे सकतीं। सब मिलकर बीस हैं। एक-एक बीस नहीं। ज्ञान होता है एक-एक का अलग-अलग। फिर बीस का ज्ञान कहाँ से आया ?

(५) अथावयवाः समस्तेषु वर्तेत तदाप्यारम्भकावयव-व्यतिरेकेणावयविनोऽवयवाः कल्प्येरन्, यैरारम्भकेष्ववयवेष्ववयवशोऽवयवी वर्तेत कोशावयव व्यतिरिक्तैह्यवयवै रसिः कोशं व्याप्नोति।

(पृष्ठ २०४-२०५)

या यह मानो कि कार्य्यरूप अवयवी कारणरूप अवयवों के समस्त में अवयवशः (अवयवों द्वारा) रहता है। तो एक और आपत्ति होगी। आरम्भक अवयवों के अतिरिक्त अवयवी के अवयवों की कल्पना करनी पड़ेगी जिनके द्वारा आरम्भक अवयवों में अवयवी रह सके। तलवार अपने म्यान में रहती है तो म्यान के अतिरिक्त अवयवों के द्वारा रहती है।

तात्पर्य यह है कि तलवार म्यान में अपने अवयवों द्वारा रहती है म्यान के अवयवों द्वारा नहीं। इसी प्रकार कार्य्यरूप अवयवी कारणरूप अवयवों में यदि अवयवशः वर्तमान होगा तो अन्य अवयवों की कल्पना करनी पड़ेगी।

(६) अनवस्था चैवं प्रसज्येत। तेषु तेष्ववयवेषु वर्तयितु-मन्येषामन्येषामावयवानां कल्पनीयत्वात्।

अनवस्था दोष भी आयेगा। उन-उन अवयवों में वर्तमान होने के लिये अन्य अन्य अवयव मानने पड़ेंगे। जैसे यदि कहा जाय कि घड़ा मिट्टी के कणों में समस्तरूपेण अवयवशः वर्तमान है तो उन अवयवों में किन्हीं दूसरे अवयवों द्वारा होगा प्रश्नकर्ता ऐसे ही पूछता चला जायगा कि उन अवयवों में किसके द्वारा, उन अवयवों में किसके द्वारा इत्यादि।

(७) अथ प्रत्यवयवं वर्तेत तदैकत्र व्यापारेऽन्यत्राव्यापारः स्यात्।

यदि कहा जाय कि कार्य्य रूप अवयवी कारण रूप अवयवों में समस्तरूप से वर्तमान नहीं होता अपितु एक-एक अवयव में व्याप्त होता

है तो भी आपत्ति होगी। जब एक अवयव में व्यापार होगा तब शेष अवयवों में न होगा।

एक हीं देवदत्त प्रयाग और दिल्ली दोनों नगरों में एक बार ही नहीं काम कर सकता।

(८) युगपदनेकत्रवृत्तावनेकत्वप्रसङ्गः स्यात्। (पृष्ठ २०५)

यदि एक ही साथ कई जगह व्यापार हो तो कई अवयवी मानने पड़ेंगे जैसे यज्ञदत्त दिल्ली में और देवदत्त प्रयाग में।

(६) गोत्वादिवत् प्रत्येकं परिसमाप्तेर्न दोष इति चेत्। न। तथा प्रतीत्यभावात्। यदि गोत्वादिवत् प्रत्येकं परिसमाप्तोऽवयवी स्याद् यथा गोत्वं प्रतिव्यक्ति प्रत्यक्षं गृह्यत एवमवयव्यपि प्रत्यवयवं प्रत्यक्षं गृह्येत। न चैवं नियतं गृह्यते। (पृष्ठ २०५)

यदि यह मानो कि जैसे गौ जाति प्रत्येक गौ में वर्तमान है इसी प्रकार अवयवी प्रत्येक अवयव में रहेगा तो भी ठीक नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष में देखते हैं कि प्रत्येक गौ के देखने से गौजाति का भान हो जाता है। प्रत्येक मिट्टी को देखने से घड़े का भान तो नहीं होता।

(१०) प्रतयेक परिसमाप्तौ चावयविनः कार्येणाधिकारात् तस्य चैकत्वाच् छृङ्गेणापि स्तनकार्यं कुर्यादुरसा च पृष्ठकार्यम्। न चैवं दृश्यते। (शां० भा० २।१।१८ पृष्ठ २०५)

यदि अवयवी प्रत्येक अवयव में पूरा-पूरा रहे तो वह किसी अवयव द्वारा अपना प्रभाव डाल देगा। जैसे सींग से दूध देना। और स्तन से पूँछ का काम लेना।

हमारी आलोचना—इसको विकल्प-शृङ्खला कहिये या विकल्प जाल। सिद्ध तो करना था कारण और कार्य का अनन्यत्व। और वह भी उस अर्थ में जिसकी व्याख्या आरम्भ में हो चुकी। कारण और कार्य के सम्बन्ध को समवाय नाम से पुकारा। इस समवाय का खण्डन करने के लिये श्री शं० स्वामी ने अवयवी और अवयव का झगड़ा आरम्भ कर दिया।

हम पूछते हैं कि यदि यह मान भी लिया जाय कि इस विकल्प-जाल ने समवाय का खण्डन कर दिया तो फिर शं० स्वा० मिट्टी और घड़े के सम्बन्ध की क्या व्याख्या करेंगे ? अविद्या और माया से तो कुछ समाधान होता नहीं, आप मिट्टी से घड़ा बनने के व्यापार से इनकार तो कर नहीं सकते। आपने ऊपर की शृङ्खला में कई बार 'प्रत्यक्ष' और 'दृश्यते' का प्रयोग किया है। और गाय आदि के उदाहरण दिये हैं। एक मायावादी को इन उदाहरणों का क्या अधिकार है ? यदि कहो कि विपक्षी के सिद्धान्त का आश्रय लिया है तो विपक्षी के समाधान को दृष्टि में रखकर क्यों विचार नहीं करते ?

न्यायदर्शन के चतुर्थाध्याय के दूसरे आह्निक के ११वें तथा १२वें सूत्र में इन प्रश्नों का समासरूपेण उत्तर दिया है :—

एकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ।११।

अवयवान्तराभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ।१२। (न्याय ४।२।११-१२)

अर्थात् अवयवों के समूह का नाम अवयवी नहीं है। अवयवी एक समूचा पदार्थ है। (देखो न्याय दर्शन २।१।३४,४५)। इसलिये उसके अवयव मानकर यह प्रश्न करना कि संपूर्ण अवयवों में रहता है या एक देश में, ठीक नहीं है।

तात्पर्य यह है कि अवयवों में अवयवी एक देश या कृत्स्न(समूह) रूप से नहीं रहता किन्तु आश्रयाश्रयिभाव नामक समवाय सम्बन्ध से रहता है।

शं० स्वा०—(१) प्रागुत्पत्तेश्च कार्य्यस्यासत्व उत्पत्तिरकर्तृका निरात्मिका च स्यात्। (शां० भा० २।१।१८ पृष्ठ २०५)

उत्पत्ति से पूर्व यदि कार्य्य का अभाव माना जाय तो उत्पत्ति किसकी होगी और कर्त्ता का किसके साथ सम्बन्ध होगा ? जब घड़ा था ही नहीं तो कुम्हार किसको बनाने बैठेगा ? इत्यादि।

हमारी आलोचना—निमित्त कारण पर विचार न करके ही यह आपत्ति उठाई गई है। घड़ा घड़े के रूप में तो नहीं होता परन्तु कुम्हार के मस्तिष्क में घड़े का ज्ञान होता है। तभी वह मिट्टी से घड़ा बनाता है। शंकर स्वामी स्वयं मानते हैं :—

उत्पत्तिश्च नाम क्रिया। सा सकर्तृकैव भवितुमर्हति गत्यादिवत्। क्रिया च नाम स्यादकर्तृका चेति विप्रतिषिध्येत।

(शां० भा० २।१।१८ पृष्ठ २०५)

उत्पत्ति नाम है क्रिया का। क्रिया बिना कर्ता के नहीं हो सकती। जैसे गति। क्रिया भी हो और उसका कर्त्ता न हो यह अनर्गल है।

यदि शं० स्वामी अपना आक्षेप ठीक समझते हैं तो अपने इस कथन की पुष्टि कैसे करेंगे? दो अनर्गल मिलकर एक सार्थक नहीं बना सकते।

पूर्वपक्ष—कारकव्यापारोऽनर्थकः प्रसज्येत।

(शां० भा० २।१।१८ पृष्ठ २०६)

यदि कार्य्य का कारण में प्राग्भाव माना जाय तो कर्त्ता क्या करेगा? यदि मिट्टी में घड़ा था तो कुम्हार की क्या आवश्यकता थी?

शं० स्वा०—(१) नैष दोषः। यतः कार्य्याकारेण कारणं व्यवस्थापयतः कारकव्यापारस्यार्थवत्त्वमुपपद्यते। (पृष्ठ २०६)

यह दोष नहीं, क्योंकि कर्त्ता कारण को कार्य्य का आकार दे देता है।

(२) न च विशेषदर्शनमात्रेण वस्त्वन्यत्वंभवति। नहि देवदत्तः संकोचितहस्तपादः प्रसारितहस्तपादश्च विशेषेण दृश्यमानोऽपि वस्त्वन्यत्वं गच्छति स एवेति प्रत्यभिज्ञानात्। (पृष्ठ २०६)

आकार बदल जाने से तो एक चीज़ भिन्न नहीं हो जाती। यदि देवदत्त हाथ पैर सकोड़ कर ऐसा बैठ जाय कि विशेष आकार का हो जाय तो भी वह अन्य न होगा। क्योंकि उसको पहचान सकते हैं कि वही देवदत्त है।

हमारी आलोचना—हेर फेर कर वही बात आ गई। हाँ आकार भेद की अवहेलना ठीक नहीं। आकार देना तो कर्त्ता का काम है, और यही मुख्य काम है। ईश्वर का ईश्वरत्व यही है जिसको 'जन्माद्यस्य यतः' (१।१।२) में बताया गया है। आप एक इतनी बड़ी चीज़ को भुलाना चाहते हैं जिसके आधार पर ब्रह्म के अस्तित्व की सिद्धि होती है। देवदत्त का दृष्टान्त तो पूरा नहीं घटता क्योंकि कागज को देखकर कोई नहीं पहचान सकता कि यह घास है जिससे कागज़ बना है। न गाय के दूध को देखकर कोई उस घास को पहचान सकता है जो उस दूध का उपादान है। यों तो उपादान कार्य्य में विद्यमान ही रहता है। जैसे कार्य्यरूप जगत् का उपादान प्रधान।

जितने दृष्टान्त आपने दिये उनसे ब्रह्म अभिन्न निमित्तोपादान कारण सिद्ध नहीं होता। न प्रधान का खण्डन होता है। आपके "जगत् मिथ्या" वाद की भी इससे पुष्टि नहीं होती।

शां० स्वा०— यथा च संवेष्टनसमये पट इति गृह्यमाणोऽपि न विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते स एव प्रसारणसमये विशिष्टायामविस्तारो गृह्यते, न संवेष्टितरूपादन्योऽयं भिन्नः पट इति। एवं तन्त्वादिकारणावस्थं पटादिकार्यमस्पष्टं सत् तुरीवेमकुविन्दादि कारक व्यापारादिभिर्व्यक्तं स्पष्टं गृह्यते।

(शां० भा० २।१।१६ पृष्ठ २०७)

और जैसे लिपटी हुई दशा में यह तो मालूम होता है कि कपड़ा है परन्तु यह नहीं मालूम होता कि कितना लम्बा कितना चौड़ा है और जब फैला दिया जाय तो लम्बाई मालूम हो जाती है। साथ ही यह भी मालूम हो जाता है कि लिपटी हुई दशा में भी यह कपड़ा वही था इसी प्रकार सूत आदि कारण अवस्था में कपड़ा आदि कार्य *अस्पष्ट* होता हुआ भी करघा जुलाहा आदि के व्यापार से व्यक्त होकर *स्पष्ट* हो जाता है।

हमारी आलोचना—ठीक है। कार्य्य और कारण में इतना ही भेद है। कारण अव्यक्त, अस्पष्ट, तिरोभूत तथा बीज मात्र है। कार्य्य व्यक्त, स्पष्ट, आविर्भूत तथा वृक्ष रूप है। अनन्यत्व का इतना ही अर्थ यहाँ लागू होता है अधिक नहीं। न कपड़ा सूत है न सूत कपड़ा है। जुलाहा उसका नैमित्तिक कारण है और करघा आदि साधारण कारण। ठीक इसी प्रकार जगत् का उपादान कारण प्रधान या प्रकृति है जिससे आपको चिढ़ है परन्तु जो किसी न किसी प्रकार आपके लेखों में स्थान पा ही जाती है। ब्रह्म निमित्त कारण है। उपादान नहीं। देश काल आदि साधारण कारण हैं। यह है वादरायण का मत और हमारा भी परन्तु आपका इससे विरुद्ध है। "यथा च प्राणादि" सूत्र २।१।२० का भाष्य भी शं० स्वामी तथा अन्य प्रायः सभी भाष्यकारों ने 'पटवच्च' (सूत्र २।१।१६) के समान किया है। हमारे विचार से २०वें सूत्र में १६वें से विशेषता है। "यथा च" शब्द इसी विशेपता को प्रकट करता है। जीवन में प्राणों की वहीं स्थिति नहीं है जो वस्त्र और सूत की या तह किये हुये और फैलाये हुये कपड़े की है। प्राणों में जीवन के निमित्त कारण का अधिक प्रभाव है। श्री आनन्द तीर्थ ने अणुभाष्य में कूर्म पुराण का जो वाक्य उद्धृत किया है वह इस आशय को अच्छा प्रकट करता है :—

प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्य पुरुषोत्तमः। क्षोभयामास भगवान् सृष्ट्यर्थं जगतो विभुः॥

जगत् की सृष्टि करने के निमित्त भगवान विभु परमेश्वर ने प्रकृति और पुरुष में व्यापक होकर क्षोभ उत्पन्न कर दिया।

(१०)

प्रधान की अनुमेयता

पूर्वपक्ष—यथा घटशरावादयो भेदा मृदात्मनान्वीयमाना मृदात्मकसामान्यपूर्वका लोके दृष्टाः, तथा सर्व एव बाह्याध्यात्मिका

भेदाः सुखदुःखमोहात्मतयान्वीयमानाः सुखदुःखमोहात्मकसामान्यपूर्वका भवितुमर्हन्ति। यत्तत् सुखदुःखमोहात्मकं सामान्यं तत त्रिगुणं प्रधानं मृद्वदचेतनं चेतनस्य पुरुषस्यार्थं साधयितुं स्वभावेनैव विचित्रेण विकारात्मना विवर्तत इति।

तथा परिमाणादिभिरपि लिङ्गैस्तदेव प्रधानमनुमिमते।

(शां० भा० २।२।१ पृष्ठ २२०-२२१)

जैसे घड़ा, शकोरा आदि में मिट्टी विद्यमान रहती है और उनका उपादान कारण मिट्टी होती है इसी प्रकार सुख, दुःख और मोह वाले सब बाहरी तथा भीतरी भेदों का कारण भी सुख दुःख और मोहवाली कोई चीज़ होनी चाहिये। सुख दुःख मोह वाला सामान्य ही तीन गुण वाला प्रधान है। यह अचेतन है और चेतन पुरुष के लिये स्वभाव से ही अनेक रूप में बदल जाता है। परिणाम आदि लिंगों से भी प्रधान का अनुमान होता है।

शां० उत्तर पक्ष—(१) यदि दृष्टान्तबलेनैवैतन्निरूप्येत, नाचेतनं लोके चेतनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं किंचिद् विशिष्ट पुरुषार्थनिर्वर्तनसमर्थान् विकारान् विरचयद् दृष्टम्।

(२) गेहप्रासादशयनासनविहारभूम्यादयो हि लोकेप्रज्ञावद्भिः शिल्पिभिर्यथा कालं सुखदुःख प्राप्ति परिहारयोग्या रचिता दृश्यन्ते।

(३) तथेदं जगदखिलं पृथिव्यादि नानाकर्मफलोपभोगयोग्यं बाह्यम्, आध्यात्मिकं च शरीरादि नानाजात्यन्वितं प्रतिनियतावयव विन्यासम्, अनेककर्मफल-अनुभव-अधिष्ठानम्, दृश्यमानं, प्रज्ञावद्भिः संभाविततमैः शिल्पिभिर्मनसा प्यालोचयितुमशक्यं सत् कथमचेतनं प्रधानं रचयेत्।

(शां० भा० २।२।१ पृष्ठ २२१)

(१) यदि केवल दृष्टान्तों से ही सिद्धि करना है तो लोक में

कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं मिलता जहाँ अचेतन चीज़ ने चेतनों के लाभ के लिये स्वयं बिना चेतन की सहायता के कुछ भी रचा हो। (२) घर महल, सोने तथा खेलने के स्थान आदि को *बड़े बड़े बुद्धि वाले शिल्पी बनाते हैं* जिससे अवसर पड़ने पर सुख मिल सके या दुःख की निवृत्त हो सके। (३) इसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् जिसमें पृथ्वी आदि अनेक प्रकार के भोग भोगने का सामान हैं और भिन्न भिन्न प्राणियों के शरीर जिनमें नाना प्रकार के अवयवों की रचना है और जो भोग भोगने का अधिष्ठान हैं। ऐसी विचित्र रचनायें जिनको समझना बड़े बड़े चतुर शिल्पियों की भी शक्ति से बाहर है। ऐसी चीजों को अचेतन प्रधान कैसे बना सकता है?

हमारी आलोचना—श्री शं० स्वा० का यह कथन सर्वथा ठीक है। परन्तु इससे उन सिद्धान्तों का खण्डन नहीं होता जो प्रकृति को उपादान और ब्रह्म को निमित्त कारण मानते हैं। इस व्याख्यान से तो केवल उन स्वभाववादियों का खण्डन होता है जो जगत् के बनाने में चेतन ज्ञानवती शक्ति की अपेक्षा नहीं मानते।

हाँ! शं० स्वा० के इस सुन्दर कथन के आधार पर हम उनसे पूछ सकते हैं कि भगवन्! ऐसी विचित्र वाह्य तथा आध्यात्मिक सृष्टि जिसकी रचना का समझना योग्यतम शिल्पियों की भी बुद्धि से परे है अविद्यावत् तथा मिथ्या कैसे हो सकती है? जिसमें पूर्व-पर का नियत सम्बन्ध हो, जिसका बाध न हो सके, जो समय पर सुख बढ़ाने और दुःख को हटाने में काम देती हो उसकी अविद्या के कारण प्रतीत मात्र हो ऐसा मानना आप जैसे योग्य दार्शनिक-शिरोमणि को कैसे स्वीकार हो गया? महदाश्चर्यम्! महदाश्चर्यम्।

शं० स्वा०—(१) नहि बाह्याध्यात्मिकानां भेदानां सुख-दुःखमोहात्मकतयान्वय उपपद्यते, सुखादीनां चान्तरत्वप्रतीतेः, शब्दादीनां चातद्रूपत्वप्रतीतेः; तन्निमित्तत्वप्रतीतेश्च।

(२) शब्दादि-अविशेषेऽपि च भावनाविशेषात् सुखादि-विशेषोपलब्धेः। (शां० भा० २।२।१ पृष्ठ २२१)

बाहरी और भीतरी भेदों का भी सुख दुःख मोह आत्मक अन्वय नहीं होता। सुख दुःख आदि तो मन में होते हैं। और शब्द आदि बाहर होते हैं उनमें सुख दुःख की प्रतीति नहीं होती। उनके निमित्त की प्रतीति होती है।

हमारी आलोचना—ठीक! परन्तु इससे तो चेतन जीव और अचेतन जड़ प्रकृति का भेद और स्पष्ट हो जाता है। और साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि अचेतन शब्द आदि चेतन के सुख दुःख पर प्रभाव डालते हैं। यह ठीक है कि एक ही गाना किसी को सुख और किसी को दुःख देता है। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उस गाने में किसी के सुख के भावों को जगाने की योग्यता है। इससे शब्दों का न तो नास्तित्व सिद्ध होता है न मिथ्यात्व। द्वैत सिद्ध है और अद्वैत असिद्ध।

शं० स्वा०—परिमितानां भेदानां मूलांकुरादीनां संसर्गपूर्वकत्वं दृष्ट्वा बाह्याध्यात्मिकानांभेदानां परिमितत्वात् संसर्ग पूर्वकत्वमनुमिमानस्य सत्वरजस्तमसामपि संसर्गपूर्वकत्व प्रसङ्गः परिमितत्वाविशेषात्। (शां० भा० २।२।१, पृ० २२१)

जैसे मूल, अंकुर आदि के भेद परिमित हैं और इनसे संसर्ग (संयोग) का अनुमान होता है। इसी प्रकार सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण भी परिमित हैं। इसलिये इनको भी संयुक्त मानना पड़ेगा। अतः प्रश्न होगा कि यह किनके संयोग से बने हैं?

हमारी आलोचना—नैष दोषः। क्यों? इसलिये कि प्रकृति को सत, रज और तम की साम्यावस्था बताया है। अर्थात् वह मौलिक अवस्था जिसमें अभी सत, रज और तम का भेद हो नहीं पाया। निमित्त कारण की सहायता से आगे होगा।

मिट्टी क्या है ? यदि आपने मिट्टी न देखी हो और उसके बने हुये शकोरे, घड़े आदि देखें हों तो आप मिट्टी के लिये क्या कहेंगे ? यही न कि मिट्टी घड़े, शकोरे आदि की साम्यावस्था है अर्थात् अभी इसमें इनका भेद उत्पन्न नहीं हुआ। कुम्हार के द्वारा होगा। इसी प्रकार सोना कंगन, हार आदि की साम्यावस्था है अर्थात् वह अवस्था जिसमें अभी कंगन, हार आदि की विषमता उत्पन्न नहीं हुई। अविशेषता का नाम साम्यावस्था है। विशेषता और विषमता एकार्थक हैं। कुम्हार और सुनार का काम ही यह है कि वह साम्य में वैषम्य उत्पन्न कर दे। सत, रज तथा तम का वैषम्य विकृति-अवस्था की चीज़ है। उनका साम्य प्रकृति-अवस्था की चीज।

शं० स्वा०—प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नाचेतनं जगत् कारणमनुमातव्यं भवति। (शां० भा० २।२।२ पृष्ठ२२२)

प्रवृत्ति की उपपत्ति न होने से भी अचेतन को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता।

पूर्वपक्ष—चेतनस्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न दृष्टा।

अकेले चेतन की भी तो प्रवृत्ति नहीं देखी जाती।

शं० स्वा०—सत्यमेतत्। तथापि चेतनसंयुक्तस्य रथादेरचेतनस्य।

शं० स्वा०—यह ठीक है। परन्तु रथ आदि अचेतन जब चेतन से संयुक्त होते हैं तभी तो प्रवृत्ति होती हैं।

पूर्व पक्ष—न त्वचेतन संयुक्तस्य चेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा।

दिखाई तो रथ आदि अचेतन की ही प्रवृत्ति पड़ती है। उससे संयुक्त चेतन की प्रवृत्ति तो आँख से दीखती नहीं।

शं० स्वा०—किं पुनरत्र युक्तम्। यस्मिन् प्रवृत्तिर्दृष्टा तस्य सा उत्यत् संप्रयुक्तस्य दृष्टा तस्य सा इति।

इससे क्या सिद्ध हुआ जिसमें प्रवृत्ति देखी जाती है उसकी है या

जिसके संयोग से प्रवृत्ति देखी जाती है उसकी है। रथ की है? या रथवान् की?

पूर्व पक्ष—यस्मिन् दृश्यते प्रवृत्तिस्तस्यैव सा इति युक्तमुभयोः प्रत्यक्षत्वात्। ननु प्रवृत्त्याश्रयत्वेन केवलश्चेतनो रथादिवत् प्रत्यक्षः.........अतएव च प्रत्यक्षे देहे सति दर्शनादसति चादर्शनाद् देहस्यैव चैतन्यमपीति लौकायतिकाः प्रतिपन्नाः।

(पृ० २२२)

जिस चीज़ में प्रवृत्ति दिखाई पड़ेगी उसी की कही जायगी। दोनों ही प्रत्यक्ष होते हैं। परन्तु जैसे रथादि अचेतन प्रत्यक्ष होते हैं वैसे चेतन तो प्रत्यक्ष होते नहीं.........................इसलिये प्रत्यक्ष देह में प्रवृत्ति देखी जाती है और देह न हो तो नहीं देखी जाती। इसलिये केवल देह की ही चेतनता भी लौकायत लोग मानते हैं।

शं० स्वा०—न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्ति दृश्यते न तस्य सा इति। भवतु तस्यैव सा। सा तु चेतनाद् भवतीति ब्रूमः।

(पृ० २२२)

हमने यह नहीं कहा कि जिसमें प्रवृत्ति दिखाई दे उसकी नहीं। उसी की रहने दो। हम तो यह कहते हैं कि प्रवृत्ति का कारण चेतन है। अर्थात् यदि चेतन न होता तो न होती।

हमारी आलोचना—यह ठीक है परन्तु यह अनीश्वरवादी लोकायतों का खण्डन है। ईश्वर-तथा वेदवादी सांख्यों का नहीं।

यहाँ शंकर स्वामी ने मान लिया कि प्रवृत्ति चेतन की है अचेतन के द्वारा प्रकाशित होती है। जैसे मेरी प्रवृत्ति अचेतन कलम द्वारा प्रकट हो रही है। परन्तु ग्रन्थ के आरम्भ में शंकर स्वामी अपना अध्यासवाद सिद्ध करने के लिये इसके विरुद्ध लिख गये हैं:—

देहेन्द्रियादिष्वहं ममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाण प्रवृत्यनुपपत्तेः।

(शां० भा० १।१।१ पृष्ठ २)

देह, इन्द्रिय आदि में 'मैं' 'मेरा' ऐसे प्रमाता की उपपत्ति नहीं है। अतः प्रमाण की भी प्रवृत्ति नहीं है।

इससे शंकर स्वामी ने प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों को अविद्यावत् बताया है। यदि वे मान लें कि चेतन अपनी प्रवृत्ति को अचेतन के द्वारा प्रकट करता है तो उनको अध्यास या अविद्या के मानने की आवश्यकता न पड़े।

शां० स्वा०—यथा अयस्कान्तो मणिः स्वयं प्रवृत्तिरहितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति..............................
एवं प्रवृत्तिरहितोऽपीश्वरः सर्वगत् सर्वात्मा सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सन् सर्वं प्रवर्तयेदित्युपपन्नम्। (शां भा० २।२। २ पृष्ठ २२२)

जैसे प्रवृत्ति शून्य चुम्बक लोहे में प्रवृत्ति करा देती है इसी प्रकार सर्वगत, सर्वात्मा, सर्वज्ञ, सर्व शक्ति ईश्वर प्रवृत्ति-शून्य होते हुये भी सब प्रवृत्ति उत्पन्न कर देता है।

पूर्व पक्ष—एकत्वात् प्रवर्त्याभावे प्रवर्तकत्वानुपपत्तिरिति।

प्रवर्तक हो और प्रवर्त्य न हो तो प्रवृत्ति कैसे होगी। यदि चुम्बक और लोहा न हो तो प्रवृत्ति कैसे होगी?

शां० स्वा० का उत्तर पक्ष—

अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनासकृत् प्रत्युक्तत्वात्॥ (शां० भा० २।२। २ पृष्ठ २२३)

हम कई बार कह चुके हैं कि ब्रह्म के साथ-साथ अविद्या जनित नाम रूप वाली माया भी तो है।

हमारी आलोचना—प्रति पक्षी का बड़ा प्रबल प्रश्न था कि यदि तुम केवल ब्रह्म ही को मानते हो तो प्रवर्तक है प्रवर्त्य नहीं फिर कौन किसमें प्रवृत्ति उत्पन्न करेगा? तुम्हारा चुम्बक का दृष्टान्त तो लंगड़ा होकर गिर गया और उसकी हड्डियाँ भी चूर-चूर हो गईं। इस का शां० स्वा० ने कितना निर्बल उत्तर दिया है? हम अविद्या का बार बार खण्डन कर चुके हैं। अतः यहाँ पीसे को पीसना व्यर्थ है।

पूर्व पक्ष—यथा क्षीरमचेतनं स्वभावेनैव वत्सविवृद्धयर्थं प्रवर्तते, यथाच जलमचेतनं स्वभावेनैव लोकोपकाराय स्यन्दत एवं प्रधानमचेतनं स्वभावेनैव पुरुषार्थसिद्धये प्रवर्तिष्यत इति ।

(शां० भा० २।२।३ पृष्ठ २२३)

जैसे गाय के थनों में अचेतन दूध बच्चे की वृद्धि के लिये स्वभाव से ही आ जाता है और जैसे अचेतन जल स्वभाव से ही लोगों के उपकार के लिये बहता है उसी प्रकार अचेतन प्रधान स्वभाव से ही पुरुष के उपकार के लिये प्रवृत्त हो जाता है ।

शां० स्वा०—(१) नैतत् साधूच्यते । यतस्तत्रापि पयोम्बुनोश्चेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्तिरित्यनुमिमीमहे । (पृ० २२३)

(२) चेतनापेक्षत्वं तु सर्वत्रोपदर्शितम् । (पृ० २२३)

(१) यह ठीक नहीं । दूध और जल दोनों में प्रवृत्ति चेतन अधिष्ठाता के कारण होती है ।

(२) चेतन की अपेक्षा तो सर्वत्र ही देखी जाती है ।

हमारी आलोचना—इससे तो प्रवर्त्तक ईश्वर, प्रवर्त्य प्रकृति और बछड़े के तुल्य अर्थी जीव, तीनों की सिद्धि हो गई । बादरायण का भी यही अभिप्राय है ।

शां० स्वा०—(१) सांख्यानां त्रयोगुणाः साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानम् । न तु तद् व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्तकं निवर्तकं वा किंचिद् बाह्यमपेक्ष्यमवस्थितमस्ति । पुरुषस्तूदासीनो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानम् अनपेक्षत्वाच्च कदाचित् प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते कदाचिन्न परिणमत इत्येतदयुक्तम् ।

(शां० भा० २।१।४ पृष्ठ २२३)

सांख्यो के मत में तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रधान है । प्रधान को छोड़ कर और कोई बाहरी प्रवर्त्तक या निवर्तक है ही नहीं ।

पुरुष उदासीन है न प्रवर्तक, न निवर्तक। इससे तो यही सिद्धान्त निकला कि अकेला प्रधान ही बिना किसी की अपेक्षा के कभी महत्तत्व आदि रूप में बदल जाय और कभी न बदले। *यह तो ठीक नहीं है।*

(८) ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात् सर्वशक्तित्वान्महामायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्ती न विरुध्येते। (पृ० २२३)

ईश्वर तो सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और महामाय है। उसमें प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति दोनों हो सकती हैं।

हमारी आलोचना—यहाँ शंकर स्वामी ने कपिल के सांख्य मत का ठीक ठीक प्रदर्शन नहीं किया। प्रकृति के तीनों गुणों की साम्यावस्था का विवेचन हम अभी ऊपर कर चुके हैं। पुरुष अर्थात् जीवों को उदासीन मानने का यह तात्पर्य नहीं। यदि उनका कोई काम ही न होता तो सांख्य में उनको माना ही क्यों जाता।

यदि अकेला प्रधान ही सब कुछ कर लेता तो सांख्यकार यह न लिखते।

"स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता" (सांख्य ३।५६)

अर्थात् ईश्वर सर्वज्ञ और सब का कर्त्ता हैं। आप ईश्वर को 'सर्वज्ञ' कहते हैं सांख्य 'सर्ववित्'। आप 'सर्वशक्ति' और सांख्य 'सर्वकर्त्ता'। भेद तो नहीं है। हाँ आप उसको 'महामाय' कहते हैं। और 'माया' का अर्थ करते हैं।

"अविद्याप्रत्युपस्थापित नामरूपवती"

(शां० भा० २।२।२ पृष्ठ २१३)

इससे तो उसकी सर्वज्ञता भी उड़ जाती है और सर्वशक्तिमत्ता भी।

सांख्य के निम्न सूत्रों में बादरायण के अनुकूल ही सिद्धान्त मिलता है :—

(१) अकार्यत्वे पि तद्योगः।

यद्यपि प्रकृति कार्य्य नहीं परन्तु ईश्वर के वश में है अतः उसका योग हो जाता है।

(२) स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता।

वह तो सर्वज्ञ और सब जगत् का कर्त्ता है।

(३) ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा।

इस प्रकार ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है।

(४) प्रधान सृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वादुष्ट्रकुङ्कुम वहनवत्।

प्रधान की सृष्टि अपने लिये नहीं। दूसरे (जीवों) के लिये है। क्योंकि प्रधान भोगने वाला नहीं है जैसे ऊँट पर कुम्कुम लदा हो।

(५) अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य।

प्रकृति अचेतन है परन्तु जैसे गाय के थनों में अचेतन होते हुये भी गाय के आत्मा की प्रेरणा से बछड़े के लिये प्रेम प्रेरित दूध आ जाता है इसी प्रकार प्रकृति भी ईश्वर की प्रेरणा से जीवों के लिये भोग की सामर्थ्य संपादित कर देती है।

(सांख्य - ३।५५।५६।५७।५८।५९)

कपिल और बादरायण के भाव भी एक हैं और शब्द भी प्रायः समान ही हैं। केवल कहने का ढंग अलग है।

आगे चल कर शंकर स्वामी ने कपिल के प्रधानवाद के विषय में चार विकल्प उठा कर अलग अलग उनका निराकरण किया है। दूसरे विकल्प में तीन भाग हैं (अ), (आ), (इ) इनका निराकरण भी अलग-अलग दिखाया है (अ) का (अ) में, (आ) का (आ) में और (इ) का (इ) में। पाठक विचार करें :—

शं० स्वा०—यदि तावत् प्रधानस्य प्रवृत्तिर्न किंचिदन्यदिहापेक्षत इत्युच्येत।

(१) ततो यथैव सहकारि किंचिन्नापेक्षत एवं प्रयोजनमपि किंचिन्नापेक्षिष्यते इत्यतः प्रधानं पुरुषस्यार्थं साधयितु प्रवर्तत इतीयं प्रतिज्ञा हीयते ।

(२) स यदि ब्रूयात् सहकार्येव केवलं नापेक्षते न प्रयोजनमपीति । तथापि प्रधानप्रवृत्तेः प्रयोजनं विवेक्तव्यं :—

(अ) भोगो वास्यात् ।

(आ) अपवर्गो वा ।

(इ) उभयं वा इति ।

(अ) भोगश्चेत् कीदृशोऽनाधेयातिशयस्य पुरुषस्य भोगो भवेत् । अनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च ।

(आ) अपवर्गश्चेत् प्रागेव प्रवृत्तेरपवर्गस्य सिद्धत्वात् प्रवृत्तिरनर्थिकास्यात् । शब्दाद्यनुपलब्धि प्रसङ्गश्च ।

(इ) उभयार्थताभ्युपगमेऽपि भोक्तव्यानां प्रधानमात्राणामानन्त्याद अनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव ।

(उ) न च औत्सुक्यनिवृत्त्यर्था प्रवृत्तिः ।

(क) न हि प्रधानस्याचेतनस्य औत्सुक्यं सम्भवति ।

(ख) न च पुरुषस्य निर्मलस्य निष्कलस्यौत्सुक्यम् ।

(४) दृक् [illegible] शक्ति-वैयर्थ्यभयाच् चेत् प्रवृत्तिस्तर्हि दृक् शक्ति-अनुच्छेदवत् सर्गशक्ति-अनुच्छेदात् संसार-अनुच्छेदाद् अनिर्मोक्षप्रसङ्ग एव । (शां० भा० २।२।६, पृष्ठ २२४ २२५)

यदि कहा जाय कि प्रधान की प्रवृत्ति स्वाभाविक है और उसके लिये किसी की अपेक्षा आवश्यक नहीं है तो चार विकल्प हो सकते हैं :—

(१) यदि प्रधान की प्रवृत्ति के लिये किसी सहकारी की अपेक्षा न मानी जाय तो प्रयोजन की अपेक्षा भी क्यों मानी जाय ? यदि दोनों की अपेक्षा न मानो तो सांख्यों की यह प्रतिज्ञा झूठ हो जायगी कि प्रकृति पुरुष के अर्थ की सिद्धि के लिये प्रवृत्त होती है ।

(२) यदि कहो कि सहकारी की अपेक्षा नहीं है। प्रयोजन की अपेक्षा है तो प्रयोजन की विवेचना होनी चाहिये। इस अवस्था में तीन विकल्प होंगे :—

(अ) क्या भोग के लिये प्रवृत्ति होती है? यदि भोग के लिये मानो तो यह दोष आयेगा कि पुरुष में तो कमी या आधिक्य हो ही नहीं सकता। (अर्थात् पुरुष में न तो सुख की प्राप्ति की गुञ्जायश है न दुःख की निवृत्ति की) मोक्ष का भी इस प्रकार कोई अर्थ न होगा।

(आ) यदि यह कहो कि प्रधान की प्रवृत्ति पुरुष के मोक्ष के लिये है तो प्रवृत्ति से पहले ही मोक्ष तो सिद्ध है। (पुरुष शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है)। ऐसी दशा में शब्द आदि का भोग भी निरर्थक है।

(इ) यदि माना जाय कि प्रधान की प्रवृत्ति के दोनों प्रयोजन हैं अर्थात् भोग भी और मुक्ति भी। तो प्रधान अनन्त है। अतः भोग भी अनन्त हुये। इन भोगों का अन्त कैसे होगा? फिर भी मोक्ष की नौबत न आयेगी। (तात्पर्य यह है कि पुरुष भोगने के चक्कर में ही पड़ा रहेगा। उससे कभी छुटकारा न हो सकेगा)।

(३) यदि कहो कि औत्सुक्य निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति है तो दो दोष आते हैं (क अचेतन प्रधान में उत्सुकता कैसी? (ख) निर्मल और निष्कल पुरुष में उत्सुकता कैसी?

(४) यदि पहले तीन विकल्पों को छोड़ कर एक चौथा विकल्प यह माना जाय कि प्रधान की प्रवृत्ति का मुख्य प्रयोजन यह है कि पुरुष के ज्ञान की सार्थकता हो और प्रधान की सृष्टि-उत्पत्ति की योग्यता की सार्थकता हो तो सब से बड़ा दोष यह है कि पुरुष की ज्ञान शक्ति तो सदा रहेगी ही और प्रधान की उत्पत्ति की योग्यता भी सदा रहेगी। फिर संसार को भी सदा रहना ही चाहिये। फिर मोक्ष का क्या अर्थ?

हमारी आलोचना—शंकर स्वामी का विकल्प-व्यूह उनकी अपनी विशेषता है। इसमें फँस कर अच्छे अच्छे शत्रु निकल नहीं पाते।

परन्तु यहाँ हमारा कहना यह है कि ये सब विकल्प शं० स्वा० के सिद्धान्तों पर भी वैसे ही लागू होते हैं। यदि विकल्प ठीक हैं तो चलिये:—आपके मत में ब्रह्म ही एक सत्ता है। इसके अतिरिक्त जीव नहीं। माया आपकी अनिर्वचनीय ही सही। परन्तु माया की प्रवृत्ति के कारण ही तो यह व्यावहारिक संसार है। यदि कहो कि यह मिथ्या है तो मिथ्यात्व की प्रतीति के लिये भी तो कोई कारण होगा ही। फिर जहाँ जहाँ आपने 'प्रधान' शब्द दिया है वहाँ वहाँ हम 'माया' रक्खे देते हैं। आप अनिर्मोक्ष प्रसंग से बच नहीं सकेंगे। जो व्यूह आपने प्रतिपक्षी के लिये बनाया है उसमें आप ही घिर जायंगे।

परन्तु यदि कोई पूछे कि यदि हमारी बात ठीक है तो दोनों मतों अर्थात् सांख्य तथा शांकर मत का निराकरण हो गया तो यह बात नहीं। शांकर मत पर तो यह विकल्प-व्यूह लागू ही होता है। हाँ कपिल के सांख्य पर नहीं। किस प्रकार ? सुनिये।

सांख्य में "नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव" ऐसे समास का प्रयोग हुआ है। इससे लोग यह समझ लेते हैं कि पुरुष में किसी प्रकार की अशुद्धता अथवा अबुद्धता नहीं। जब वह मुक्त है ही तो बन्ध का प्रश्न नहीं उठता। और न पुरुषार्थ का। जो पूर्ण है उसका अर्थ या प्रयोजन कैसा ?

परन्तु यह बात नहीं है। यदि सांख्यकार पुरुष को ऐसा मानते तो पहले ही सूत्र में तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति का उल्लेख न करते। सदा मुक्त को दुःख कैसा ? और न अचेतन प्रकृति को ही दुःख हो सकता है। यदि दुःख नहीं तो कोई प्रवृत्ति भी नहीं। क्योंकि दुःखों की निवृत्ति के लिये ही तो प्रवृत्ति होती है।

परन्तु यह तो हम सभी जानते हैं और मानते है कि हम सब को दुःख होता है। इसकी व्याख्या कैसे हो ? आँख दुखने आती है तो आँख में घाव होते हुये भी आँख को पीड़ा नहीं होती किन्तु आँख वाले चेतन को होती है।

'नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव' (सां० १।१६) का अर्थ जैसा कि सांख्य के प्रसंग से ज्ञात होता है यह है :—

(१) जीव नित्य है। अर्थात् इसका तीन काल में अभाव नहीं होता। न प्रागभाव, न प्रध्वंसाभाव।

(२) अपने असली रूप में प्राकृतिक मलों से रहित है। अर्थात् जैसे घी में चर्बी मिला कर उसे दूषित कर देते हैं इसी प्रकार जीव में प्राकृतिक पदार्थों की मिलावट होने की गुंजायश नहीं है। याद रखना चाहिये कि जिन वस्तुओं में मिलावट की गुंजायश हो वे कुछ समानता रखती हैं। यदि घी के बर्तन में सोने का सिक्का डाल दिया जाय तो घी में मिलावट नहीं हो सकती। केवल संयोग हो सकता है। इसी प्रकार राख में लोटने से शरीर तो मैला हो सकता है क्योंकि वह पार्थिव है। जीव मैला नहीं हो सकता। जीव अविवेक से अपने को मैला कर सकता है।

(३) जीव चेतन है। इसका अर्थ पूर्णज्ञता नहीं। इसमें जानने की शक्ति है। यदि चेतनता से पूर्णज्ञता का तात्पर्य होता तो अविवेक के लिये स्थान न था। सांख्यकार ने स्पष्ट कहा है :—

तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्। (सां० १।५५)

प्रकृति और पुरुष के केवल संपर्क से बन्ध नहीं होता। किन्तु अविवेक से होता है। यदि केवल संयोग से होता तो मुक्त पुरुष और बद्ध पुरुष में समानता होती। क्योंकि कोई मुक्त पुरुष कभी प्रकृति की सीमा के बाहर नहीं जा सकता। संसार में भी यही देखा गया है। जैसे यदि कोई पुलिस वाला किसी बन्दी को पकड़ ले तो उसे दुःख नहीं होता। परन्तु यदि उसको यह ज्ञात हो जाय कि यह बन्दी मेरा ही भाई है तो उसे अवश्य दुःख होता है। 'बुद्ध-स्वभाव' कहने का यह तात्पर्य भी नहीं कि जीव के ज्ञान में कमी या आकिञ्च्य नहीं होता। यदि पुरुष नित्य-नियत ज्ञान वाला होता तो अविवेक का प्रश्न न उठता और

'ज्ञानान्मुक्ति' तथा 'बन्धोविपर्ययात्' (सांख्य ३।२,२४) का सिद्धान्त अयुक्त ठहरता।

(४) स्वभाव से मुक्त है। मुच् धातु में 'क्त' प्रत्यय जोड़ कर 'मुक्त' कृदन्त बनता है। अर्थात् जीव में कोई ऐसी स्वाभाविक बाधा नहीं कि उसको मुक्ति हो ही न सके। जैसे 'दृष्ट' का अर्थ यह नहीं कि सदा दृष्ट ही रहे। इसका केवल अर्थ यह है कि 'अदृष्टव्य' नहीं है। इसी प्रकार ,मुक्त' का अर्थ यह है कि वह अमोचनीय' नहीं है। अविवेक दूर होने पर उसकी मुक्ति हो सकती है।

याद रखना चाहिये कि सांख्यकार मोक्ष, परलोक, कर्म-फल, ईश्वर, वेद सभी को मानते हैं। जहाँ कहीं उन्होंने अविद्या आदि के विषय में कुछ लिखा है जैसे

नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात्। (१-२०)

वहाँ अविद्या आदि का वह पारिभाषिक अर्थ लेना चाहिये जो सांख्यकार के समय में अन्य मत वालों में प्रचलित था। यहाँ अविद्या और अविवेक समानार्थक नहीं है।

जब हम इस दृष्टि से देखते हैं तो शांकर-विकल्प-व्यूह प्रसंग-विरुद्ध सिद्ध होते हैं। श्री शा० स्वा० की तलवार पड़ती तो बड़े ज़ोर की है परन्तु वह काटती है केवल काल्पनिक शत्रु को। असली शत्रु तो साफ़ निकल जाता है और वह स्वयं समझते हैं कि असली शत्रु मर गया।

इसी प्रकार शा० स्वा० के निम्न आक्षेप भी अयुक्त हैं :—

(१) पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात्।

(२) निष्क्रियत्वाच्च। (शां० भा० २।२।७ पृष्ठ २२५)

अर्थात् सांख्यमत में न तो पुरुष प्रवर्त्तक है न क्रिया करने वाला। श्री शंकराचार्य जी अपने मत की प्रसंशा में जो यह लिखते हैं कि

परमात्मनस्तु स्वरूपव्यपाश्रयमौदासीन्यं मायाव्यपाश्रयं च प्रवर्तकत्वम् इति अस्ति अतिशयः। (शां० भा० २।२।७ पृष्ठ २२५)

"परमात्मा स्वरूप से उदासीन है परन्तु माया के कारण उसमें प्रवर्तकत्व है।" यह अपने दही को खट्टा न बताने के समान है। क्योंकि वे समस्त दोष जो उन्होने सांख्य के विरुद्ध लगाये हैं अधिकतर तो इसी मायावाद के विरुद्ध लगते हैं। जैसे

(१) शं० स्वा०—प्रधानस्य स्वतंत्रस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमात्, पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात्। कथं चोदासीनः पुरुषः प्रधानं प्रवर्तयेत्। (शां० भा० २।१।७ पृष्ठ २२५)

वयम्—मायायाः प्रवृत्त्यभ्युपगमात्, पुरुषस्य च प्रवर्तकत्वानभ्युपगमात्। कथं चोदासीनः पुरुषः मायां प्रवर्तयेत्॥

(२) शं० स्वा०—संनिधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्वप्रसङ्गः। (प्रधान-पुरुषयोः) (पृष्ठ २२५)

वयम्—संनिधिनित्यत्वेन प्रवृत्तिनित्यत्वप्रसङ्गः (माया पुरुषयोः)।

(३) शं० स्वा०—प्रधानस्याचैतन्यात् पुरुषस्य चौदासीन्यात् तृतीयस्य च तयोः संबन्धयितुरभावात् संबन्धानुपपत्तिः।

(पृष्ठ २२५)

वयम्—मायाया अचैतन्यात् पुरुषस्य चौदासीन्यात् तृतीयस्य च तयोः (माया पुरुषयोः) संबन्धयितुरभावात् संबन्धानुपपत्तिः।

(४) शं० स्वा०—योग्यता निमित्ते च संबन्धे योग्यतानुच्छेदाद् अनिर्मोक्ष प्रसङ्गः। (पृष्ठ २२५)

वयम्—योग्यता निमित्ते च संबन्धे योग्यतानुच्छेदाद् अनिर्मोक्ष प्रसङ्गः।

(५) शं० स्वा०—पूर्ववच्चेहाप्यर्थाभावो विकल्पयितव्यः।

(पृष्ठ २२५)

वयम्—प्रधानवादवच्च मायावादेऽपि अर्थाभावो विकल्पयितव्यः।

हमनें यहाँ शांकर भाष्य (२।२।७ पृष्ठ २२५) से पाँच वाक्य दिये हैं जिनमें शंकर स्वामी ने सांख्यों पर आक्षेप किया से। और नीचे हमनें उन्हीं वाक्यों को केवल एक भेद करके दुहरा दिया है। अर्थात् शंकर स्वामी नें 'प्रधान' कहा है वहाँ हमनें उसी के स्थान पर 'माया' कर दिया है। जो आक्षेप प्रधानवाद पर किया गया है वह वैसा ही माया वाद पर लागू होता है। हम यहाँ ऊपर वाक्यों का अनुवाद देते हैं।

(१) शंकर स्वामी कहते हैं :–सांख्य ने स्वतंत्र प्रधान में प्रवृत्ति मानी परन्तु पुरुष को प्रवर्तक नहीं माना। तो आक्षेप यह है कि उदासीन पुरुष प्रधान में प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न करेगा ?

हम शंकर स्वामी से पूछते हैं कि आप भी ब्रह्म को निष्क्रिय मानते हैं। फिर माया में यह निष्क्रिय, निर्विकार ब्रह्म कैसे प्रवृत्ति उत्पन्न करेगा ?

(२) शंकर स्वामी कहते हैं :—प्रधान और पुरुष का सान्निध्य तो नित्य है। इससे प्रवृत्ति भी नित्य होगी।

हम पूछते हैं :- आप की माया भी तो अनादि है। और वह अनादि काल से ब्रह्म के साथ है। फिर यह आक्षेप तो आप पर भी लागू होता है।

(३) शंकर स्वामी कहते :—जब प्रधान अचेतन है और पुरुष उदासीन है और तीसरा कोई है नहीं तो सम्बन्ध कैसे होगा ?

हम कहते हैं कि जब माया अचेतन है और ब्रह्म निर्विकार तथा निष्क्रिय है। तीसरा कोई है। नहीं तो सबन्ध कैसे होगा ?

(४) शंकर स्वामी कहते हैं कि यदि दोनों में योग्यता मानो तो योग्यता का उच्छेदन न होने से मोक्ष न हो सकेगा। हम कहते हैं कि यदि आप माया और ब्रह्म दोनों में यह योग्यता मानें कि माया भ्रम उत्पन्न करती रहे और ब्रह्म में भ्रम लगा रहे तो आप के मत में मोक्ष कैसे होगी ?

(५) शंकर स्वामी कहते हैं कि प्रधानवाद में प्रयोजन के अभाव के कारण जो आक्षेप उठते हैं वे सब विचारणीय हैं। हम भी कहते हैं कि मायावाद में भी तो उसी प्रकार प्रयोजन का अभाव है। फिर वे आक्षेप तो आप पर भी लागू रहेंगे।

शं० स्वा०—बाह्यस्य च कस्यचित् क्षोभयितुरभावाद् गुणवैषम्यनिमित्तो महदाद्युत्पादो न स्यात्। (शां० भा० २।२।८ पृष्ठ २२६)

तीन गुणों की साम्य अवस्था वाली प्रकृति में वैषम्य कैसे होगा और महत्तत्व आदि की उत्पत्ति कैसे होगी ?

हम—ईश्वर के द्वारा। क्योंकि सांख्य तो ईश्वर को प्रधान में व्यापक मानता है।

शं० स्वा०—ज्ञशक्तिवियोगाद् रचनानुपपत्तिः।

(शां० भा० २।२।६ पृष्ठ २२६)

प्रधान में ज्ञान नहीं फिर रचना कैसे होगी ?

हम—ईश्वर के द्वारा। मिट्टी में ज्ञान शक्ति नहीं फिर भी चीजें बनती हैं।

शं० स्वा०—चेतनमेकमनेक प्रपञ्चस्य जगत उपादानमिति ब्रह्मवाद प्रसङ्गात्। (शां० भा० २।२।६ पृष्ठ २२६)

यदि एक चेतन को अनेक प्रपंच वाले जगत् का उपादान मानो तो शांकर-ब्रह्मवादी हो गये।

हम—नहीं, हम ब्रह्म को निमित्त मानेंगे और प्रधान को उपादान। यही कपिल का मत है।

शं० स्वा०—परस्परविरुद्धश्चायं सांख्यानामभ्युपगमः। (१) क्वचित् सप्तेन्द्रियाण्यनुक्रामन्ति क्वचिदेकादश। (२) तथा क्वचिन्महतस्तन्मात्रसर्गमुपदिशन्ति, क्वचिदहंकारात्। (३) तथा क्वचित् त्रीण्यन्तः करणानि वर्णयन्ति क्वचिदेकम्।

सांख्यवादी परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों को मानते हैं जैसे (१) कहीं सात इन्द्रियाँ, कहीं ग्यारह (२) कहीं महत्तत्व से सृष्टि, कहीं अहंकार से। (३) कहीं तीन अन्तःकरण और कहीं एक।

हमारी आलोचना—ऐसी भद्दी युक्ति देना शंकर स्वामी को शोभा नहीं देता। इसको परस्पर-विरोध नहीं कहते। कहीं दो आँख और दो कान गिना कर चार गोलक कह दिये। कहीं आँख और कान कह कर केवल दो। विरोध कहाँ हुआ?

पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां और एक मन मिला कर ११ इन्द्रियां हुईं। यदि सब ज्ञानेन्द्रियों को एक त्वग् इन्द्रिय के अन्तर्गत कर दिया क्योंकि त्वचा तो सभी पांचों इन्द्रियों में समान है तो इन्द्रियां सात रह गईं। गिनती का ढंग है। न कि परस्पर विरोध। ऐसे ही बुद्धि, अहंकार और मन को अलग-अलग गिनाया तो तीन अन्तःकरण हुये। और उन सब को समस्तरूपेण 'बुद्धि' कह दिया तो एक। इस प्रकार यदि कोई कहे कि रुई का वस्त्र है और दूसरा कहे कि सूत का। तो परस्पर विरोध नहीं। महत्तत्व पूर्वविकार है और अहंकार उत्तर विकार। देखिये :—

प्रकृते महान् महतोऽहंकारः। (सां० १।६१)

चाहे महत् से गिनिये, चाहे अहंकार से, चाहे और आगे से। परस्पर विरोध नहीं। बादरायण के सूत्र में इस आक्षेप का नाम तक नहीं।

पूर्वपक्ष—(१) एकं हि ब्रह्म सर्वात्मकं सर्वस्य प्रपञ्चस्य कारण-मभ्युपगच्छतामेकस्यैवात्मनो विशेषौ तप्यतापकौ न जात्यन्तरभूता-वित्यभ्युपगन्तव्यं स्यात्।

(२) यदि चैतौ तप्यतापकावेकस्यात्मनो विशेषौ स्यातां, स ताभ्यां तप्यतापकाभ्यां न निमुच्यत इति तापोपशान्तये सम्य-ग्दर्शनमुपदिशच्छास्त्रमनर्थकं स्यात्। न ह्युष्ण्यप्रकाशधर्मकस्य तापस्य तदवस्थस्यैव ताभ्यां निर्मोक्ष उपपद्यते।

(३) योऽपि जलतरङ्गवीचीफेनाद्युपन्यासः। तत्रापि जलात्मन एकस्य वीच्यादयो विशेषा आविर्भावतिरोभाव रूपेण नित्या एवेति समानो जलात्मनो वीच्यादिभिरनिर्मोक्षः।

(४) प्रसिद्धश्चायं तप्यतापकयोर्जात्यन्तरभावो लोके।

(५) संबन्धिशब्दौ ह्येतावर्थी चार्थश्चेति। द्वयोश्च संबन्धिनोः संबन्धः स्यान्नैकस्यैव। तस्माद् भिन्नावेतावर्थार्थिनौ। तथानर्थानर्थिनावपि।

(६) तयोस्तप्यतापकयोरेकात्मतायां मोक्षानुपपत्तिः।

(शां० भा० २।२।१० पृष्ठ २२७)

(१) यदि एक ब्रह्म ही जगत् का कारण है अन्य नहीं तो मानना पड़ेगा कि वही एक तप्य भी है और तापक भी। (दुःख सुख पाने वाला भी और देने वाला भी)

(२) यदि यह तप्य ताप के भाव एक ही ब्रह्म के विशेषण माने जायँ तो वे कभी ब्रह्म से अलग न हो सकेंगे। फिर शास्त्र की शान्ति-प्राप्ति की शिक्षा व्यर्थ होगी। दीपक से कभी प्रकाश और गर्मी दूर नहीं कर सकते।

(३) यदि समुद्र में तरङ्गों का दृष्टान्त दो तो याद रखना चाहिये कि समुद्र में तरंगे तो उठती ही रहा करती हैं। एक गई दूसरी आई। कभी छुटकारा नहीं होता।

(४) लोक में अनुभव करते हैं कि तप्य अलग है और तापक अलग।

(५) जिस चीज़ को चाहते हैं या जिस चीज़ से द्वेष करते हैं दोनों का नाम यहाँ तापक' रक्खा है क्योंकि इच्छा और द्वेष दोनों ही सताने वाले हैं। 'तापक' हुआ अर्थ। 'तप्य' हुआ अर्थी। अर्थ और अर्थी में परस्पर सम्बन्ध है। *सम्बन्ध दो में ही होता है एक में नहीं।* इस लिये अर्थ और अर्थी दो हुये। इसी प्रकार अनर्थ और अनर्थी भी दो ही हुये।

(६) यदि तप्य और तापक को एक माना जाय तो मोक्ष न हो सकेगा।

शां० उत्तरपक्ष—भवेदेष दोषो यद्येकात्मतायां तप्यतापकावन्योन्यस्य विषयविषयिभावं प्रतिपद्येयाताम्। न तु एतद् अस्ति एकत्वाद् एव। (पृष्ठ २२७)

यह दोष तब आता जब एक ही आत्मा में तप्यतापक भाव एक दूसरे के साथ विषय-विषयी सम्बन्ध रखते। परन्तु वे एक हैं। अतः उनका यह सम्बन्ध नहीं है।

हमारी आलोचना—रोगी ने रोग से पीड़ित होकर वैद्य बुलाया। वैद्य कहता है 'रोग ही नहीं'। ऐसा ही शंकर स्वामी का उत्तर है। आक्षेप दूर नहीं करते। अपना सिद्धान्त मात्र कह देते हैं। प्रश्न तो यह है कि जब ब्रह्म *अकेला* ही है तो यह अनुभूत दुःख कैसा? आप दुःख से इनकार कैसे कर सकते हैं?

पूर्वपक्ष—क्व पुनरयं तप्यतापकभावः स्यादिति।

अच्छा तो यह तप्य तापक भाव कहाँ है?

शां० उत्तर पक्ष—किं न पश्यसि कर्मभूतो जीवदेहस्तप्यस्तापकः सविता इति। (पृष्ठ २२७)

क्या नहीं देखते कि कर्म भूत जीव का देह तो तप्य (जलने वाला) है और सूर्य तापक (जलाने वाला)।

हमारी आलोचना—यहाँ तो द्वित्व मान लिया।

पूर्वपक्ष—तप्तिर्नाम दुःखं सा चेतयितुर्नाचेतनस्य देहस्य। इत्यादि। (पृष्ठ २२७-२२८)

'तप्ति' नाम है दुःख का। दुःख चेतन को होता है अचेतन देह को नहीं। यदि अचेतन देह को होता तो देह के नाश पर दुःख का भी नाश कभी न कभी हो ही जाता फिर यत्न करने की क्या आवश्यकता थी?

शां० उत्तरपक्ष—(१) देहाभावेऽपि केवलस्य चेतनस्य तप्तिर्न दृष्टा।

(२) न च त्वयापि तप्तिर्नाम विक्रिया चेतयितुः केवलस्येष्यते।

(३) नापि देहचेतनयोः संहतत्वम्। अशुद्ध्यादि दोष प्रसङ्गात्।

(४) न च तप्तेरेव तप्तिमभ्युपगच्छसि।

(५) कथं तवापि तप्यतापकभावः सत्त्वं तप्यं तापकं रज इति चेत्। न। ताभ्यां चेतनस्य संहतत्वानुपपत्तेः।

(६) सत्त्वानुरोधित्वाच्चेतनोऽपि तप्यत इवेति चेत् परमार्थतस्तर्हि नैव तप्यत इति आपतति 'इव' शब्दस्य प्रयोगात्।

(७) अतश्चाविद्याकृतोऽयं तप्य तापको भावः॥

(८) अथ चेतनस्य तप्तत्वमभ्युपगच्छसि तवैव सुतरामनिर्मोक्षः प्रसज्येत। नित्यत्वाभ्युपगमाच्च तापकस्य।

(९) तप्यतापकशक्त्योर्नित्यत्वेऽपि

तप्तेः संयोगनिमित्तादर्शननिवृत्तावात्यन्तिकः संयोग परमः, ततश्चात्यन्तिको मोक्ष उपपन्न इति चेत्। न। अदर्शनस्य तमसो नित्यत्वाभ्युपगमात्।

(१०) गुणानां चोद्भवाभिभवयोरनियतत्वादनियतः संयोग-

इति वियोगस्याप्यनियतत्वात् सांख्यस्यैवानिर्मोक्षोऽपरिहार्यः स्यात्। (शां० भा० २।२।१० पृष्ठ २२८)

(१) देह के अभाव में केवल चेतन को भी तो दुःख नहीं होता।

(२) चेतन में दुःख रूपी विकार होना तो तुम भी नहीं मानते।

(३) देह और चेतन का संयोग भी नहीं होता, क्योंकि अशुद्धि आदि दोष लगेगा।

(४) यह भी नहीं माना जा सकता कि 'दुःख' को 'दुःख' होता है।

(५) यदि कहो कि सत्व गुण तप्य है और रजोगुण तापक, तो भी ठीक नहीं क्योंकि इन गुणों की संहति चेतन के साथ कैसे होगी?

(६) यदि कहो कि सत्व के अनुरोध से चेतन भी 'तप्य' के समान होता है तो भी यह दोष होगा कि 'समान' शब्द का प्रयोग ही बताता है कि वास्तविक 'तप्यत्व' नहीं है।

(७ इस लिये तप्य तापक भाव अविद्याकृत है।

(८) यदि तप्य तापक भाव वास्तविक मानो तो कभी मोक्ष नहीं होगा। क्योंकि तापक नित्य होगा।

(९) यदि कहो कि तप्य तापक शक्ति नित्य हैं परन्तु उनका आविर्भाव अविवेक रूपी निमित्त से होता है। जब निमित्त हट गया तो मोक्ष होगी। तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि अविवेक का कारण तमोगुण तो नित्य ही रहेगा।

(१०) गुणों के उद्भव, अभिभव का कोई नियत कारण तो है नहीं। इसलिये अविवेक रूपी निमित्त का संयोग भी अनिश्चित होगा। और वियोग भी। फिर सांख्य के मत में मोक्ष कैसे होगा? तात्पर्य यह है कि जब अविवेक की उत्पत्ति निश्चित नहीं तो उसका निराकरण कैसे निश्चित होगा? कौन जाने कब किस गुण के आविर्भाव के कारण अविवेक हो जाय।

हमारी आलोचना—ये सब आक्षेप उसी समय होते हैं जब पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध को ठीक-ठीक न समझा जाय। यदि जीव अल्पज्ञ है और प्रकृति ईश्वर के आधीन होने से जीव के भोगों के लिये साधन सम्पादित करती रहती है और ईश्वर प्रदत्त ज्ञान अर्थात् वेद से जीव को यह शिक्षा मिलती है कि अविवेक को कैसे दूर किया जाय तो जीव के कर्मफल की व्यवस्था के निश्चित होने में कोई सन्देह नहीं रहता। यह आपत्ति तो उदासीन ब्रह्म के गले में अविद्या रूपी घंटी लटका देने से और अधिक बढ़ जाती है। एक आपत्ति का अत्युक्ति पूर्ण विश्लेषण कर देने और दूसरी आपत्ति को साधारण शब्दों में प्रकट कर देने मात्र से तो काम नहीं चलता। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई कहे, 'ओहो इस पुरुष के सिर में पीड़ा है कैसे बचेगा। सिर की पीड़ा। सिर तो

मुख्य अंग है। थोड़ी ही पीड़ा सही पीड़ा तो है ही। वह भी सिर में। सिर ठीक नहीं तो दूसरे अंग कैसे ठीक रहेंगे। रोग भयानक है।" और एक दूसरे पुरुष के लिये कहा जाय "हैज़ा है! होगा। क्या है? ऐसे रोग तो लगे ही रहते हैं।"

शां० स्वा०—नहि प्रत्यक्ष रूपादि हीनं च प्रधानमीश्वरस्याधिष्ठेयं संभवति मृदादिवैलक्षण्यात्। (शां० भा० २।२।३६ पृष्ठ २५७)

मिट्टी आदि तो प्रत्यक्ष हैं। उन पर कुम्हार काम कर सकता है। प्रधान तो अप्रत्यक्ष है उसमें मिट्टी के समान रूपादि नहीं फिर ईश्वर प्रधान पर कैसे कार्य्य करेगा?

हमारी आलोचना—यह युक्ति भी विलक्षण ही है। ईश्वर के लिये तो प्रधान भी प्रत्यक्ष के समान है। फिर क्या आपत्ति? वस्तुतः कुम्हार मिट्टी के विषय में इतना नहीं जानता जितना ईश्वर प्रधान को जानता है। वह तो उसमें व्यापक भी है। अतः यद्यपि कुम्हार की उपमा है तथापि ईश्वर के लिये तो प्रधान पर कार्य्य करना कहीं अधिक सुगम और स्वाभाविक है। जड़ होने और चीज़ों के रूप में परिवर्तित होने की योग्यता में प्रधान और मिट्टी दोनों समान है। ज्ञान और चीज़ों के बनाने की योग्यता होने में ईश्वर और कुम्हार समान। भेद इतना है कि प्रधान से सूर्य्य, चन्द्र आदि सब जगत् बनता है और मिट्टी से केवल घड़े, कूंडे आदि।

शां० स्वा०—यथा करण ग्रामं चक्षुरादिवमप्रत्यक्षं रूपादिहीनं च पुरुषोऽधितिष्ठत्येवं प्रधानमपीश्वरोऽधिष्ठास्यतीति। तथापि नोपपद्यते। भोगादि दर्शनाद्धि करणग्रामस्याधिष्ठितत्वं गम्यते। न चात्र भोगादयो दृश्यन्ते। करणग्राम्यसाम्ये वाभ्युपगम्यमाने संसारिणामिवेश्वरस्यापि भोगादय प्रसज्येरन्।

(शां० भा० २।२।४० पृष्ठ २५८)

यदि कोई कहे कि जैसे रूपादि हीन, अप्रत्यक्ष आंख आदि इन्द्रियों

पर पुरुष का आधिपत्य है उसी प्रकार ईश्वर भी प्रधान पर आधिपत्य रख सकेगा। तो यह ठीक नहीं। क्योंकि इन्द्रियों पर वशीकरण तो दुःख सुख आदि भोग के लिये है। ईश्वर के विषय में तो भोग आदि का प्रश्न नहीं है। यदि इन्द्रियों की उपमा ठीक मानी जाय तो जैसे संसारी मनुष्य दुःख सुख भोगते हैं उसी प्रकार ईश्वर भी भोगेगा।

हमारी आलोचना—यहाँ प्रधान को बीच में क्यों ला डाला। प्रधान के अस्तित्व नास्तित्व का तो कोई प्रसंग ही नहीं था। यहाँ तो सूत्र में केवल इतना दिखाया है कि ईश्वर भोग आदि से रहित है। जैसे जीव के शरीर में भोगेन्द्रियाँ सुख दुःख भोग के लिये होती हैं उस प्रकार ईश्वर इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखता।

शां० स्वा०—(१) अनन्तं च प्रधानमनन्ताश्च पुरुषा मिथो भिन्ना अभ्युपगम्यन्ते। तत्र सर्वज्ञेनेश्वरेण प्रधानस्य पुरुषाणा-मात्मनश्चेयत्ता परिच्छिद्येत वा न वा परिच्छिद्येत। (पृष्ठ २५८)

(२) उभयथापि दोषोऽनुपक्त एव। कथम्। (पृष्ठ २५८)

(३) पूर्वस्मिंस्तावद् विकल्प इयत्तां परिच्छिन्नत्वात् प्रधान पुरुषेश्वराणामन्तवत्त्वमवश्यं भाव्येवं लोके दृष्टत्वात्। (पृष्ठ २५८)

(४) यद्धि लोक इयत्तापरिच्छिन्नं वस्तु पटादि तदन्तवद् दृष्टं तथा प्रधानपुरुषेश्वरत्रयमपीयत्तापरिच्छिन्नत्वादन्तवत् स्यात्। (पृष्ठ २५८)

(५) संख्यापरिमाणं तावत् प्रधान पुरुषेश्वरत्रयरूपेण परि-च्छिन्नम। स्वरूपपरिमाणमपि तद्गतमीश्वरेण परिच्छिद्येतेति। (पृष्ठ २५८)

(६) पुरुषगना च महासंख्या। परिच्छिन्नानां मध्ये ये संसारिणः संसाराद् मुच्यन्ते तेषां संसारोऽन्तवान् संसारित्वं च तेषा मन्तवत्। (पृष्ठ २५९)

(७) एवमितरेष्वपि क्रमेण मुच्यमानेषु संसारस्य संसारिणां चान्तवत्त्वं स्यात्। (पृष्ठ २५९)

(८) प्रधानं च सविकारं पुरुषार्थमीश्वरस्याधिष्ठेयं संसारित्वे-नाभिमतं तच्छून्यतायामीश्वरः किमधितिष्ठेत्? किं विषये वा सर्वज्ञतेश्वरते स्याताम्। (पृष्ठ २५९)

(९) प्रधान पुरुषेश्वराणां चैवमन्तवत्त्वे सत्यादिमत्त्व प्रसङ्गः। आद्यन्तवत्त्वे च शून्यवाद प्रसङ्गः।

(१०) न प्रधानस्य पुरुषाणामात्मनश्चेयत्तेश्वरेण परिच्छिद्यत इति, तत ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वाभ्युपगमहानिपरो दोषः प्रसज्येत।

(शां० भा० २।२।५१ पृष्ठ २५८-२५९)

अर्थः—कुछ लोग ईश्वर को भी अनन्त मानते हैं प्रकृति को भी अनन्त और पुरुषों (जीवों) को भी अनन्त।

यहाँ दो प्रश्न उठते हैं। जब ईश्वर सर्वज्ञ है तो 'सर्व' शब्द के प्रयोग से प्रधान और पुरुष अनन्त नहीं रहे। 'इतने ही, अधिक नहीं।' ऐसी सीमा बंध गई। 'इयत्ता' (हद) वाली सभी चीजें सान्त होती हैं। जब कहा कि प्रधान, पुरुष और ईश्वर तीन हैं। तो तीन का अंक ही अन्त का बोधक है। जब ईश्वर प्रधान और पुरुष का परिमाण जानता है तो प्रधान और पुरुष का परिमाण भी इयत्ता (हद) में बंध कर सान्त हो गया।

पुरुष तो संख्या में बहुत हैं। इनमें से कुछ की मुक्ति हो जाय तो इनके संसारीपन का अन्त हो जाय। इसी प्रकार औरों का भी। फिर ईश्वर की सर्वज्ञता और ईश्वरता की भी समाप्ति समझिये। क्योंकि और कुछ तो रहता ही नहीं। फिर तो शून्य ही शून्य हो जाय।

यदि कहो कि प्रधान, पुरुष या ईश्वर में इयत्ता नहीं आती तो कैसे कहोगे कि ईश्वर सर्वज्ञ है?

हमारी आलोचना—सूत्र तो केवल इतना था 'अन्तवत्त्वमसर्वज्ञतावा।' पहले सूत्र से 'न' की अनुवृत्ति लाने से यह अर्थ होता कि

"जैसे ईश्वर में भोग का प्रश्न नहीं उठता उसी प्रकार सान्तता और असर्वज्ञता का भी प्रश्न नहीं उठता।" अर्थात् ईश्वर सुख दुःख आदि भोगों से सदा मुक्त और अनन्त एवं सर्वज्ञ है। परन्तु शं० स्वा० को प्रधान से ऐसी चिढ़ है कि प्रसङ्ग से बाहर भी सांख्य आदि को दो बोल सुना देते हैं।

अब तनिक युक्तियों पर विचार कीजिये। प्रथम तो संख्या की इयत्ता से परिमाण की इयत्ता नहीं होती। आकाश एक है परन्तु अनन्त है। न अनन्त संख्यक होने से कोई पदार्थ अनन्त परिमाण वाला होता है। संख्या की अनन्तता परिमाण की अनन्तता का बाधक है साधक नहीं। जो चीज परिमाण में अनन्त है वह संख्या में एक ही हो सकती है अधिक नहीं, और जो संख्या में एक से अधिक हुई वह परिमाण में सान्त ही होगी।

ईश्वर के विषय में 'सर्वज्ञता' का अर्थ ही 'अनन्तज्ञता' है। ईश्वर का ज्ञान तो यथार्थ होगा न कि अयथार्थ। अर्थात् सान्त वस्तुओं को वह सान्त जानेगा और अनन्त को अनन्त। ज्ञेय की सान्तता ज्ञाता को सान्त नहीं बनाती। जैसे 'मल' को पहचानने वाला मल-युक्त नहीं हो सकता। न झूठ को पहचान सकने वाला झूठा हो सकता है।

जब पुरुषों (जीवों) को अनन्त माना तो उनकी संख्या में समाप्ति कैसी ? अनन्त में से यदि एक, दो, चार, दस, बीस, घटा दो तो अनन्त ही शेष रहेगा। (Infinity minus anything is infinity) अतः शून्यवाद की आशंका निराधार है।

जैसे आप 'अन्तवत्वे सत्यादिमत्वप्रसंगः' बताते हैं उसी प्रकार 'आदिमत्वे सत्यन्तवत्वप्रसंगः' भी आयेगा। जिसका अन्त होता है उसका आदि अवश्य होगा। और जिसका आदि है उसका अन्त अवश्य होगा। इस प्रकार यदि मुक्ति का आदि है तो अन्त भी होगा। और मुक्त जीवों की महाकल्प के पश्चात् पुनरावृत्ति भी होगी। इसलिये शून्य वाद का कभी प्रसंग न आवेगा।

शं० स्वा० से कोई यह पूछता कि महाराज दूसरों की चलनी में तो आपने इतने छिद्र गिना दिये। क्या आपके मायावाद अथवा अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारणवाद में भी कोई छिद्र है या नहीं। क्या आप ब्रह्म को अनन्त और सर्वज्ञ मानते हैं या नहीं। यदि आप कहें कि हम व्यवहार दशा में मानते हैं परमार्थ दशा में नहीं। तो क्या दशाओं का द्वित्व ब्रह्म को संख्या के बन्धन में नहीं डालता? यदि कहें कि यह सब अविद्या है तो अविद्या ब्रह्म को छोड़ कर और किसका आश्रय लेगी? और सत्य, ज्ञानम्, अनन्त ब्रह्म का क्या बनेगा?

पाँचवाँ अध्याय

वैशेषिक और शंकर स्वामी

वैशेपिक दर्शन वैदिक षट् दर्शनों में से एक है। परन्तु शंकर स्वामी ने उसको अर्द्ध वैनाशिक, तथा अशिष्ट माना है। क्योंकि वैशेपिक के स्पष्ट सिद्धान्त के समक्ष मायावाद या विवर्तवाद की स्थापना अत्यन्त कठिन है। इस अध्याय में शंकर स्वामी के शारीरक भाष्य के उस भाग की मीमांसा की जाती है जो वैशेषिक से संबन्ध रखता है।

(१)

परमाणुओं का पारिमाण्डल्य

पूर्व पक्ष—तत्रायं वैशेषिकाणामभ्युपगमः—कारणद्रव्य-समवायिनो गुणाः कार्यद्रव्ये समानजातीयं गुणान्तरमारभन्ते, शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्लस्य पटस्य प्रसवदर्शनात् तद्विपर्यया दर्शनाच्च तस्माच्चेतनस्य ब्रह्मणो जगत्कारणत्वेऽभ्युपगम्यमाने कार्येऽपि जगति चैतन्यं समवेयात्। तद्दर्शनात् तु न चेतनं ब्रह्म जगत् कारणं भवितुमर्हति। (शां० भां० २।२।११ पृष्ठ २२८-२२६)

वैशपिकों का यह सिद्धान्त है—कि जैसे गुण कारण द्रव्य में होते हैं वैसे ही कार्य्य द्रव्य में आते हैं। जैसे सफेद धागों का कपड़ा भी सफेद ही होता है। इसलिए यदि जगत् का (उपादान) कारण चेतन ब्रह्म को माना जाय तो कार्य्य जगत् में भी चेतनता होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये चेतन ब्रह्म जगत् का (उपादान) कारण नहीं है

शं० स्वा० की उत्तर पक्ष—यथा परमाणोः परिमण्डलात् सतोऽणु ह्रस्वं च द्व्यणुकं जायते महद्दीर्घं च त्र्यणुकादि

परि मण्डलम्। यथा वा द्व्यणुकादणोर्ह्स्वाच्च सतो महद्दीर्घं च त्र्यणुकं जायते नाणुनोह्रस्वम्। एवं चेतनाद्ब्रह्मणोऽचेतनं जगज् जनिष्यते। (शां० भा० २।२।११ पृष्ठ २२८-२२९)

जैसे परमाणु परिमण्डल होता है और इसका पारिमाण्डल्य द्व्यणुक में नहीं जाता। उसमें पारिमाण्डल्य के स्थान में अणुत्व और ह्रस्वत्व होता है और जैसे द्व्यणुकों का अणुत्व और ह्रस्वत्व चतुरणुकों में महत्व और दीर्घत्व उत्पन्न कर देता है इसी प्रकार चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् उत्पन्न हो जाय तो तुम्हारी क्या हानि ?

इस उत्तर के समझने के लिये कुछ व्याख्या की आवश्यकता है जिसको स्थानाभाव से हम शांकर-वाक्यों के अनुवाद रूप में देते हैं। वैशेषिक-कार की प्रक्रिया यह है। परमाणु सबसे छोटी और आरंभिक वस्तु है। उसमें केवल पारिमाण्डल्य (गुलाई) होती है। दो परमाणु मिल कर द्व्यणुक बनता है। द्व्यणुक में पारिमाण्डल्य नहीं होता। अणुत्व और ह्रस्वत्व होता है। द्व्यणुकों से चतुरणुक बने तो उनमें अणुत्व तथा ह्रस्वत्व न रहा। महत्व और दीर्घत्व आ गया। इससे ज्ञात हुआ कि वैशेषिक के मत में भी कारण के गुण कार्य्य में नहीं गये। फिर वैशेषिक का शांकर मत के विरुद्ध यह आक्षेप असंगत है कि चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् कैसे उत्पन्न हो गया ?

पूर्व पक्ष—विरोधिना परिमाणान्तरेणाक्रान्तं कार्य्यद्रव्यं द्व्यणुकादि। इत्यतो नारम्भकाणि कारणगतानि पारिमाण्डल्यादीनि इत्यभ्युपगच्छामि। न तु चेतनाविरोधिना गुणान्तरेण जगत आक्रान्तत्वमस्ति; येन कारणगता चेतना कार्ये चेतनान्तरं नारभेत। न ह्यचेतना नाम चेतनाविरोधी कश्चिद् गुणोऽस्ति। चेतनाप्रतिषेधमात्रत्वात्। तस्मात् पारिमण्डल्यादि वैषम्यात् प्राप्नोति चेतनाया आरम्भकत्वमिति। (शां० भा० २।२।११ पृष्ठ २२९-३०)

द्व्यणुक आदि कार्य्य द्रव्य दूसरे विरोधी परिमाण से आक्रांत

(घिरे हुये) होते हैं, इसलिये कारण का आरंभक पारिमाण्डल्य कार्य्य में नहीं आता। ऐसा हमारा मत है। परन्तु जगत् किसी चेतना-विरोधी अन्य गुण से आक्रांत नहीं है जो कारणगत चेतना को कार्य्य में दूसरी चेतना उत्पन्न करने से रोक सके। अचेतनना चेतन का विरोधी गुण तो है नहीं। चेतना का अभाव ही अचेतना है। इसलिये पारिमाण्डल्य का उदाहरण विषम है। चेतना से चेतना उत्पन्न होनी ही चाहिये।

शां० उत्तर पक्ष—(१) मैव मंस्थाः। यथा कारणे विद्यमाना-नामपि पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वमेवं चैतन्यस्यापि, इति अस्यांशस्य समानत्वात्। (पृष्ठ २३०)

जैसे कारण का पारिमाण्डल्य कार्य्य में नहीं जाता उसी प्रकार कारण का चैतन्य भी कार्य्य में नहीं जाता। बात तो एक सी ही है। वैषम्य नहीं।

(२) **न च परिमाणान्तराक्रान्तत्वं पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भ-कत्वे कारणम्, प्राक् परिमाणान्तरारम्भात् पारिमाण्डल्यादीना-मारम्भकत्वोपपत्तेः। आरब्धमपि कार्य्य द्रव्यं प्राग् गुणारंभात् क्षण मात्रमगुणं तिष्ठति इत्यभ्युपगमात्॥** (पृष्ठ २३०)

दूसरे परिमाण की आक्रान्ति पारिमाण्डल्य आदि गुणों को कार्य्य में जाने से नहीं रोक सकती। क्योंकि कार्य्य द्रव्य आरंभ होकर भी क्षण भर बिना गुण के रहता है। कार्य्य गुण तो कार्य्य में भी क्षण भर के पीछे ही उत्पन्न होता है। ऐसा वैशेषिक का सिद्धान्त है।

(३) **न च परिमाण अन्तर आरंभे व्यग्राणि पारिमाण्डल्या-दीनि, इति अतः स्वसमानजातीयं परिमाणान्तरं नारभन्ते परिमा-णान्तरस्य अन्य हेतुत्व अभ्युपगमात्। 'कारण बहुत्वात कारण महत्वात् प्रचयविशेषाच्च महत्' (वै० सू० ७।१।९) 'तद्विपरीतमणु' (७।१।१०), 'एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते' (७।१।१७), इति हि काणभुजानि सूत्राणि।** (पृष्ठ २३०)

यह भी नहीं कह सकते कि पारिमाण्डल्य आदि गुण दूसरे परिमाण के उत्पन्न करने में व्यग्र (लगे) रहते हैं इसलिये स्वसमान जातीय परिमाण को नहीं बना सकते। क्योंकि दूसरे परिमाण के उत्पन्न होने का तो कणाद ने अपने सूत्रों में दूसरा हेतु बताया है। देखो "कारण के बहुत्व, कारण के महत्व और प्रचय (इकट्ठा होने की रीति) के कारण" महत्व उत्पन्न होता है (७।१।९), 'अणु उसके विपरीत है' (७।१।१०) 'इसी प्रकार दीर्घत्व और ह्रस्वत्व भी समझने चाहिये' (७।१।१७)।

(४) न च संनिधान विशेषात् कुतश्चित् कारण बहुत्वादीन्येव आरभन्ते न पारिमाण्डल्यादीनीत्युच्येत, द्रव्यान्तरे गुणान्तरे वारभ्यमाणे सर्वेषामेव कारणगुणानां स्वाश्रयसमवाय-अविशेषात्। तस्मात् स्वभावादेव पारिमाण्डल्यादीनामनारम्भकत्वं तथा चेतनाया अपीति द्रष्टव्यम्। (पृष्ठ २३०)

यह भी नहीं कह सकते कि कारण का बहुत्व किसी संनिधान (निकट रखना) के कारण कार्य्य में महत्व उत्पन्न कर देता है और पारिमाण्डल्य आदि अपने अनुरूप गुण नहीं उत्पन्न कर सकते। क्योंकि जब कभी नया गुण या नया द्रव्य उत्पन्न होता है तब कारण के सभी गुणों का अपने आश्रय के साथ एक सा ही समवाय सम्बन्ध रहता है। अर्थात् कारण में जिस प्रकार बहुत्व का गुण है उसी प्रकार पारिमाण्डल्य का भी। फिर क्या कारण है कि बहुत्व तो महत्व को उत्पन्न कर सके और पारिमाण्डल्य पारिमाण्डल्य को नहीं।

इस लिये स्वभाव से ही पारिमाण्डल्य आदि अपने अनुरूप गुणों को उत्पन्न नहीं कर सकते। इसी प्रकार चेतन ब्रह्म से भी अचेतन जगत् उत्पन्न हो जाता है।

(५) संयोगाच्च द्रव्यादीनां विलक्षणानामुत्पत्तिदर्शनात् समानजातीयोत्पत्ति व्यभिचारः। (पृष्ठ २३०)

लोक में देखा भी जाता है कि द्रव्यों के संयोग से विलक्षण चीजें

उत्पन्न हो जाती हैं। इससे यह सिद्धान्त सर्वतन्त्र नहीं कि समान जातीयों की ही उत्पत्ति होती है।

(६) द्रव्यप्रकृते गुणोदाहरणमयुक्तमिति चेत्। न। दृष्टान्तेन विलक्षणारम्भमात्रस्य विवक्षितत्वात्।

(शां० भा० २।२।११ पृष्ठ २३०)

यदि यह कहो कि द्रव्य के प्रसंग में गुणों का उदाहरण क्यों दिया ? तो ठीक नहीं। क्योंकि यहाँ तो हम केवल यह दिखाना चाहते हैं कि विलक्षण की उत्पत्ति हो जाती है।

हमारी आलोचना—शं० स्वा० ने केवल एक गुण अर्थात् पारिमाण्डल्य को लेकर सब आक्षेप किये हैं। उनका उद्देश है खण्डन करना "कारणगुण पूर्वकः कार्य्य गुणो दृष्टः" का। परन्तु ऐसा करने से "नासतो, दृष्टात्" (वेदान्त ४।१।२६) का भी खण्डन हो जायगा। क्योंकि जो गुण कारण में नहीं वह यदि कार्य्य में आ जायं तो कार्य की उत्पत्ति के लिये कोई नियत कारण का उपयोग न करे। शाक में चटपटाहट उत्पन्न करने के लिये मिर्च डालते हैं क्योंकि मिर्च चटपटी है हलवे को मीठा करने के लिये गुड़ डालते हैं क्योंकि गुड़ में मीठापन है। यदि सफेद सूत से भी काला कपड़ा बुना जा सके तो फिर कोई व्यवस्था ही न रहे। और शं० स्वा० के कथनानुसार "शशविषाणादिभ्योऽप्यङ्कुरादयो जायेरन्" (शां०भा० २।२।२६ पृष्ठ २४५) अर्थात् खरगोश के सींगों से भी वृक्ष के अंकुर उग आवें। यदि कहो कि उस सूत्र में तो अभाव से भाव की असिद्धि लिखी है तो वह तो यहाँ भी सिद्ध होती है क्योंकि कार्य्य में आप उस गुण की उत्पत्ति मानते हैं जो कारण में *नहीं है*। अर्थात् उसका अभाव है। शंकर स्वामी ने स्वयं अन्यत्र इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया है जैसे "कारणानुरूपं हि कार्य्यं भवति"। (शां० भा० ३।१।५ पृष्ठ ३२८)। रही परिमाण और संख्या की बात, वह तो परिमाण और संख्या के अर्थों को समझने से ही स्पष्ट

हो जाती है और उसके साथ आपके आक्षेपों का परिहार भी हो जाता है। एक सेब और एक सेब मिलकर दो सेब होते हैं। द्वित्व दोनों में से किसी एक में भी नहीं। परन्तु मिलकर दो हो जाते हैं। यदि पचास सेब मिलकर भी अपनी इकाई को न छोड़ें अर्थात् एक ही रहें तो कोई इतने सेब एकत्रित क्यों करे ? यदि एक इञ्च और एक इञ्च कपड़ा संयुक्त होकर भी एक इञ्च ही रहे तो कोई उनको जोड़े क्यों ? इसीलिये तो वैशेषिक ने स्पष्ट कह दिया कि "कारणबहुत्वात् कारण-महत्वात् प्रचयविशेषाच्च महत्" (वै० सू० ७।१।१)। यह महत्व और दीर्घत्व प्रचय विशेष से (अर्थात् किन्हीं चीज़ों को एक विशेष रीति से जोड़ देने के कारण) होता है। इसको आप प्रत्यक्ष देखते हैं और इसका खण्डन नहीं कर सकते। याद रखना चाहिये कि जब एक ईंट पर एक ईंट रखकर एक १० फुट ऊँची दीवार बन जाती है तो यह १० फुट की ऊँचाई दीवार के अलग-अलग कारण ईंटों में नहीं थी। ईंटों का प्रचय (चयन) आकाश के कारण हुआ और उसी की सहायता से ऊँचाई उत्पन्न हो गई। यदि आकाश न होता तो ईंटों का *प्रचय* भी न हो सकता। अब यदि ईंटें ठोस हैं तो दीवार ठोस होगी। यदि ईंटें पोली हैं तो दीवार पोली होगी। क्योंकि कारण का ठोसपन या पोलापन कार्य्य में भी आवेगा। सत्कार्यवादी होते हुये आप कैसे इनकार कर सकते हैं ? एक और बात ध्यान देने योग्य है। पारिमाण्डल्य ह्रस्वत्व, दीर्घत्व सब परिमाण की सापेक्षिक श्रेणियां हैं। पारिमाण्डल्य में दीर्घत्व की बीज शक्ति (potentiality) है। पारिमाण्डल्य और ह्रस्वत्व को हम देख नहीं सकते दीर्घत्व को देख सकते हैं। श्री राधाकृष्णन् के शब्दों में :—

Infinite greatness and infinite smallness are *not realised* magnltudes; they are the upper & tne lower limits, and what we kuow is intermediate between the two.

(*Indian Philosophy Vaiseshika, Vol II p. 195*)

यदि आप कहें कि हम सत्कार्य्य वादी हैं सत्कारणवादी नहीं। अर्थात् कार्य्य का अस्तित्व कारण में मानते हैं कारण का कार्य में नहीं तो भी ठीक नहीं क्योंकि 'अनन्यत्व' के जो आपने अर्थ किये हैं वे ग़लत ठहरेंगे। यदि आप कहें कि हम सत्कारणवादी भी हैं तो ब्रह्म के उपादान मानने से ब्रह्म की चेतनता जगत् में भी आनी चाहिये और जगत् में कोई जड़ पदार्थ भी होना नहीं चाहिये। और यदि भिन्न-भिन्न कारणों के परिमाण और संख्या को भी कार्य्य में देखना चाहते हैं तो ब्रह्म से उत्पन्न हुये सभी पदार्थ एक और विभु होने चाहिये क्योंकि ब्रह्म विभु और एक है। यदि आप कहें कि हम तो कारण के गुणों का कार्य्य में होना आवश्यक नहीं समझते, विलक्षणता के पक्षपाती हैं तो सत्य ब्रह्म से मिथ्या जगत् की उत्पत्ति मानने के लिये अविद्या या माया की क्या आवश्यकता है? एक कारण से उससे विपरीत गुण वाले विलक्षण कार्य्य की उत्पत्ति हो जायगी। और मकड़ी के जाले से गंगा का पुल बनाकर भी लोग उससे पार हो सकने की आशा रख सकेंगे।

यदि आप कहें कि हमारा प्रयोजन किसी नियम का खण्डन करना नहीं है अपितु वैशेषिक कार की प्रक्रिया को असत्य सिद्ध करना है तो भी ठीक नहीं। क्योंकि प्रकरण ब्रह्म की सिद्धि का है। यह सूत्र तो केवल यह दिखाने के लिये हैं कि बिना चेतन ब्रह्म को निमित्त कारण माने हुये सृष्टि की व्याख्या नहीं हो सकती।

अब रही यह बात कि 'आरब्धमपि कार्य्यं द्रव्यं प्राग् गुणारम्भात् क्षणमात्रगुणंतिष्ठति' अर्थात् कार्य्य द्रव्य एक क्षण के लिये गुणशून्य रहता है। यह तो प्रक्रिया समझाने मात्र के लिये हैं अन्यथा कोई द्रव्य गुणशून्य होकर द्रव्य कहला ही नहीं सकता। वैशेषिक दर्शन में तो इसका कहीं उल्लेख नहीं। पिछले लोगों ने समझाने के लिये मान लिया है। 'क्षण' स्वयं कल्पित इकाई है और सापेक्षिक है। परन्तु परमाणु सापेक्षिक नहीं। क्योंकि परमाणु के फिर टुकड़े नहीं हो सकते। परमाणु के पारिमाण्डल्य का अर्थ यही है कि उसमें लम्बाई चौड़ाई या मोटाई

नहीं। परन्तु लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई उत्पन्न करने की बीज शक्ति है। और उसका आविर्भाव प्रचय द्वारा होता है। बुझे हुये एक सहस्र दीपक प्रकाश नहीं कर सकते परन्तु टिमटिमाते हुये सौ दीपक प्रकाश को बढ़ा सकते हैं। बहुत्व का यही प्रभाव है। संख्या गुण एक व्यक्ति में नहीं रहता अपितु समूह का गुण है। या यों कहिये कि व्यक्ति में व्यक्तित्व है और समूह में समूहत्व। यदि व्यक्ति में समूहत्व हो तो संहति अनावश्यक हो। और यदि समूह में व्यक्तित्व हो तो संहति निरर्थक हो। सूत की सफेदी की तुलना महत्व और दीर्घत्व से करनी अयुक्त है। शं० स्वामी समझते हैं कि चतुरणुक के महत्व और दीर्घत्व में परमाणु का पारिमाण्डल्य नहीं रहा। परन्तु जैसे एक, एक, एक मिलकर तीन होते हैं। और त्रित्व में एकत्व भी विद्यमान है इसी प्रकार दीर्घत्व में पारिमाण्ल्य भी विद्यमान है। परन्तु जड़ जगत् की जड़ता में ब्रह्म का चेतनत्व विद्यमान नहीं है। अतः चेतन ब्रह्म को जड़ जगत् का उपादान मानना भूल है।

(२)

सावयवत्व और आदिम कर्म

पूर्वपक्ष—(१) सर्वं चेदं जगद् गिरि समुद्रादिकं सावयवं, सावयवत्वाच्च आदि अन्तवत्। न च अकारणेन कार्येण भवितव्यम् इति, अतः परमाणवो जगतः कारणम्।

(शां० भा० २।२।१२, पृष्ठ २३१)

यह सब जगत् पहाड़ समुद्र आदि अवयवों वाला है। अवयवों वाली चीज आदि वाली और अन्तवाली होती है। क्योंकि कभी तो अवयव मिले होंगे। और यदि मिलें तो उनका वियोग भी होगा ही। बिना कारण के कोई कार्य्य होता नहीं इसलिये जगत् का कारण परमाणु हैं।

(२) तानि इमानि चत्वारि भूतानि भूम्युदक तेजः पवनाख्यानि सावयवानि उपलभ्य चतुर्विधाः परमाणवः परिकल्प्यन्ते।

(पृष्ठ २३१)

पृथ्वी, जल, तेज, वायु चार अवयव वाले ५ भूत हैं। इसलिये चार प्रकार के परमाणु भी है।

(३) तेषां च अपकर्षपर्यन्तगतत्वेन परतो विभाग-असंभवाद् विनश्यतां पृथिव्यादीनां परमाणुपर्यन्तो विभागो भवति स प्रलयकालः। (पृष्ठ २३१)

ये चार भूत जब बिखरने लगते हैं और ऐसी सीमा आ जाती है कि फिर आगे उनका विभाजन नहीं हो सकता तो अन्त की चीज़ को परमाणु कहते हैं। यही प्रलयकाल है।

(४) ततः सर्गकाले च वायवीयेषु अणुषु अदृष्टापेक्षं कर्म उत्पद्यते, तत् कर्म स्वाश्रयमणुमण्वन्तरेण संयुनक्ति ततो द्व्यणुकादि क्रमेण वायुरुत्पद्यते।

तब सृष्टि के समय वायु के अणुओं में अदृष्ट की सहायता से कर्म की उत्पत्ति होती है। वह कर्म अपने आश्रयी अणु को दूसरे अणु से जोड़ देता है। इस प्रकार द्व्यणुक आदि क्रम से वायु उत्पन्न हो जाती है ?

(५) एवमग्नः, एवम् आपः, एवं पृथिवी, एवमेव शरीरं सेन्द्रियमिति।

ऐसे ही अग्नि उत्पन्न होती है, ऐसे ही जल, ऐसे ही पृथ्वी, ऐसे ही इन्द्रियों सहित शरीर।

(६) एवं सर्वमिदं जगद् अणुभ्यः संभवति।

ऐसे ही सब जगत् अणुओं से उत्पन्न होता है।

(७) अणु गतेभ्यश्च रूपादिभ्यो द्व्यणुकादिगतानि रूपादीनि संभवन्ति तन्तुपटन्यायेन इति काणादा मन्यन्ते।

(शां० भा० २।२।१२ पृष्ठ २३१)

अणुओं के रूप आदि से द्व्यणुकों में रूपादि उत्पन्न होते हैं जैसे श्वेत धागों से श्वेत वस्त्र।

कणाद मुनि के वैशेषिक का ऐसा सिद्धान्त है।

शां० उत्तरपक्ष—(१) **विभागावस्थानां तावदणूनां संयोगः कर्मापेक्षोऽभ्युपगन्तव्यः, कर्मवतां तन्त्वादीनां संयोगदर्शनात्। कर्मणश्च कार्यत्वान्निमित्तं किमपि अभ्युपगन्तव्यम्।** (पृष्ठ २३१)

प्रलय अवस्था वाले अणुओं का संयोग कर्म की अपेक्षा से हुआ। जैसे कर्म वाले धागे आदि का संयोग देखने में आता है। अब हम पूछते हैं कि कर्म तो कार्य्य है। इसलिये इस कर्म का भी कोई निमित्त तलाश करना चाहिये।

(२) **अनभ्युपगमे निमित्ताभावान् न अणुषु आद्यं कर्म स्यात्।**

यदि निमित्त न मानो तो अणुओं में पहला कर्म कहाँ से आयेगा?

(३) **अभ्युपगमेऽपि यदि प्रयत्नोऽभिघातादिर्वा यथादृष्टं किमपि कर्मणो निमित्तमभ्युपगम्येत तस्यासंभवान्नैवाणुष्वाद्यं कर्म स्यात्।**

यदि निमित्त मानो तो पहले लोक में प्रत्यक्ष किसी (दृष्ट) चीज को निमित्त मान लो जैसे प्रयत्न या अभिघात।

अर्थात् जब सूतों से कपड़ा बुना जाता है तो प्रयत्न और अभिघात पाये जाते हैं। परन्तु अणुओं के साथ ऐसा नहीं मान सकते। वहाँ तो सब की आदि में आदिम प्रयत्न या आदिम संघात सभव ही नहीं हो सकते।

(अ) **नहि तस्यामवस्थायामात्मगुणः प्रयत्नः संभवति शरीराभावात्। शरीरप्रतिष्ठे हि मनसि आत्मनः संयोगे सति आत्मगुणः प्रयत्नो जायते।**

उस प्रलय अवस्था में आत्मा का गुण प्रयत्न तो सभव ही नहीं क्योंकि शरीर नहीं। शरीर में प्रतिष्ठित मन से ही आत्मा का संयोग होने पर प्रयत्न हो सकता है।

(आ) एतेन अभिघाताद्यपि दृष्टं निमित्तं प्रत्याख्यातव्यम् ।

इसी ऊपर की युक्ति से लोक में प्रत्यक्ष अभिघात आदि निमित्तों का भी खण्डन हो गया ।

(इ) सर्गोत्तरकालं हि तत् सर्वं नाद्यस्य कर्मणो निमित्तं संभवति ।

यह सब तो सृष्टि की उत्पत्ति के पश्चात् ही हो सकता है। और आदिम कर्म का निमित्त नहीं हो सकता ।

(४) अथादृष्टमाद्यस्य कर्मणो निमित्तमित्युच्येत ।

अब यदि आदिम कर्म का निमित्त अदृष्ट को मानो तो दो प्रश्न उठेंगे ।

(अ) तत् पुनः आत्मसमवायि वा स्यात् । (आ) अणु समवायि वा ।

उसका समवाय सम्बन्ध आत्मा के साथ होगा या अणु के साथ ।

(इ) उभयथापि न अदृष्ट निमित्तमणुषु कर्मावकल्पेत अदृष्टस्य अचेतनत्वात् ।

दोनों दशाओं में अदृष्ट अणुओं में कर्म नहीं उत्पन्न कर सकता । क्योंकि अदृष्ट अचेतन है ।

(ई) नहि अचेतनं चेतनेनानधिष्ठितं स्वतन्त्रं प्रवर्तयति वा ।

बिना चेतन के अचेतन कभी प्रवृत्ति को न उत्पन्न कर सकता और न करा सकता है ।

(उ) आत्मनश्चानुत्पन्न चैतन्यस्य तस्यामवस्थायामचेतनत्वात् ।

आत्मा भी असमर्थ है क्योंकि उस समय उसमें चेतना प्रादुर्भूत नहीं हुई है ।

(ऊ) आत्मसमवायित्वाभ्युपगमाच्च नादृष्टमणुषु कर्मणो निमित्त स्यादसंबन्धात् ।

यदि कहो कि अदृष्ट का आत्मा से समवाय सम्बन्ध है तो भी

अणुओं में कर्म की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि अणुओं से सम्बन्ध नहीं।

(ऋ) **अदृष्टवता पुरुषेण अस्ति अणूनां संबन्ध इति चेत्, संबन्ध सातत्यात् प्रवृत्तिसातत्यप्रसंगो नियामकान्तराभावात्।**

यदि कहो कि अदृष्टवान आत्मा का अणुओं से सम्बन्ध है तो सम्बन्ध नित्य होगा अतः प्रवृत्ति भी नित्य ही होगी। और कोई नियामक तो है ही नहीं।

(ॠ) **तदेवं नियतस्य कस्यचित् कम निमित्तस्य अभावात् न अणुषु आद्यकर्म स्यात्।**

इसलिये कर्म का कोई भी नियत निमित्त नहीं और अणुओं में आदिम कर्म नहीं हो सकता।

(५) **कर्माभावात् तन्निबन्धनः संयगो नस्यात्।**

कर्म न होगा तो उसका निबन्ध संयोग भी न होगा।

(६) **संयोगाभावाच्च तन्निबन्धनं द्वयणुकादि कार्यजातं न स्यात्।** (शा० भा० २।२।१२, पृष्ठ २३१-२३२)

संयोग न हो तो द्व्यणुक आदि से रचना कैसे हो?

हमारी आलोचना—यह उसी प्रकार का विकल्प व्यूह है जैसा सांख्य के सम्बन्ध में आ चुका है। और उसका मूल्य भी उतना ही है।

प्रथम तो कणाद ने पहाड़ आदि जगत् के पदार्थों का विश्लेषण करते-करते सब से आदिम सीमान्त परमाणुओं की जो अस्तित्व सिद्धि की उसमें आपने कोई दोष नहीं निकाला। यह तो दैनिक अनुभव की बात है। दीवार को तोड़ो तो आदिम इकाइयों अर्थात् ईंटों तक पहुँचोगे। ईंटों को तोड़ो तो मिट्टी के कणों तक। इत्यादि। इसमें भूल ही क्या है? प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्। यदि कणादोक्त विश्लेषण में कोई भूल बताई होती तो उसकी परीक्षा की जाती।

आप चले प्रलय से, आप का प्रश्न यह है कि अणुओं में कर्म

कैसे उत्पन्न हुआ ? यदि आप यह विचार करलें कि परमाणुओं के ऊपर उनमें ओत-प्रोत एक सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमती सत्ता भी है जो जीवों के कर्मफल को दृष्टि में रखकर उनके कर्मक्षेत्र और भोग क्षेत्र के रूप में उन परमाणुओं से सृष्टि बनाया करती है तो आपके सभी आक्षेप दूर हो जाते हैं। परमाणु तो केवल उपादान कारण होंगे, कर्म होंगे जीवों के ! उनके अनुकूल ईश्वर उनको फल देने के लिये भिन्न भिन्न जीवों की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर सृष्टि बनावेगा। इसके साथ ही आप यह भी दृष्टि में रक्खें कि सृष्टि प्रवाह से अनादि है अतः 'आद्य कर्म' का प्रश्न भी न उठेगा। यहाँ तो हम आपके ही कथन को आपके खण्डन में उपयुक्त समझते हैं :—

"नैष दोषः। अनादित्वात् संसारस्य। भवेदेष दोषो यद्यादिमान् संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजाङ्कुरवद्धेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते।"

(शा० भा० २।१।३५ पृष्ठ २१८)

संसार अनादि है इसलिये कोई दोष नहीं। यदि संसार आदि मान् होता तो दोष आ सकता था। अनादि संसार में कर्म और सृष्टि के वैषम्य में विरोध नहीं पड़ता। बीज से अङ्कुर होता है। अङ्कुर से बीज।

(३)

अणुओं का संयोग

शं० स्वा०—संयोगश्चाणोरण्वन्तरेण सर्वात्मना वा* स्यादेकदेशेन वा।

---

*यह खण्डन श्री शंकराचार्यजी का अपना नहीं है बौद्धदार्शनिक आर्य्यदेव (देव) ने भी बहुत पहले इसी प्रकार की आलोचना की थी। देखो :—

(क) सर्वात्मना चेदुपचयानुपपत्तेरणुमात्रत्व प्रसङ्गो दृष्ट-विपर्ययप्रसङ्गश्च । प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोगस्य दृष्टत्वात् ।

(ख) एक देशेन चेत् सावयवत्व प्रसङ्गः ।

'The other says 'There exist atoms, which are, though not-all-pervading and eternal as well, yet non-pervading and eternal, because they have the effects (aggregates) as the marks of their existence (Sutra; 4,1,1-4).' We (Deva) object that 'two atoms do not conjoin with each other on all the sides, because the effects (aggregates) are not spherical (parimandala) (Sutra 7,1,20). We object that atoms must be non-eternal, because they are divided through out by ether (Sutra, 7,7,9-10,7,1,20; 2. S. 4,2,18). Further ('atoms must be non-eternal') because they are distinguished by colour, etc. (Sutra; 7,1,18-9)''

(Vide Vaisesika Philosophy Chinese Text by H. UI, Professor in the Sotashu College, Tokyo. Eldited by F. W, Thomas p. p. 51, 52).

"प्रतिपक्षी कहता है कि परमाणु हैं जो यद्यपि सर्वव्यापक और नित्य दोनों नहीं तथापि एकदेशीय और नित्य हैं क्योंकि उनके कार्य्य रूप समुदाय उनके अस्तित्व को बताते हैं (वै० ४।१।१-४)। हमारा (अर्थात् आर्य्य देव का) आक्षेप यह है कि दो परमाणु एक दूसरे से सब ओर से नहीं जुड़ सकते। क्योंकि समुदायरूपी कार्य्य में पारिमाण्डल्य नहीं होता (वै० ७।१।२०) हमारा कथन है कि परमाणु अनित्य होने चाहिये क्योंकि वह आकाश द्वारा सर्वत्र विभक्त होते हैं (वै० ७।१।६-१० ७।१।२०, न्याय सूत्र ४।२।१८) दूसरा हेतु उनके अनित्य होने का यह है कि रंग आदि से उनकी पहचान होती है (वै० सूत्र ७।१।१८, १८)

(वैशेषिक फिलासफ़ी, चीनी संस्करण, प्रोफेसर एच० यू० आई० शोताशू कालेज टोक्यो कृत, एफ़ डब्ल्यू टामस द्वारा अंगरेजी अनुवाद पृष्ठ ५१।५२)

(ग) परमाणूनां कल्पिताः प्रदेशाः स्युरिति चेत्, कल्पितानाम-वस्तुत्वादवस्त्वेव संयोग इति वस्तुनः कार्यस्यासमवायिकारणं न स्यात्।

(घ) असति चासमवायिकारणे द्वयणुकादि कार्य्यं द्रव्यं नोत्पद्येत। (शां० भा० २।१।१२ पृष्ठ २३२)

क्या एक अणु कुल का कुल दूसरे अणु से मिल जाता है या अणु का एक देश मिलता है ?

(क) यदि कुल का कुल मिल जाय तो परिमाण में वृद्धि न होगी। सब चीजें मिलने पर भी अणु के बराबर ही रहेंगी दूसरी बात यह है कि प्रदेश वाली चीजें ही मिलती देखी जाती हैं।

(ख) यदि कहो कि परमाणु कुल का कुल नहीं मिलता, एक देश में मिलता है तो परमाणु के अवयव मानने पड़ेंगे। और उनका आगे विभाजन हो सकेगा।

(ग) यदि कहो कि परमाणु में प्रदेश कल्पित कर लिये गये हैं। तो कल्पित वस्तु मिथ्या होती है। कल्पित वस्तुओं का संयोग भी कल्पित होगा और वह वास्तविक वस्तुओं का असमवायि कारण न हो सकेगा।

(घ) असमवायि कारण न होने से द्वयणुक कैसे बनेगें ?

हमारी आलोचना—निरवयव वस्तु में समस्त और व्यस्त या कुल और एक देश का प्रश्न ही नहीं उठता। आपके विकल्प तो सावयव पदार्थों में हो सकते हैं। परमाणु निरवयव है। इसलिये आप उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं कर सकते।

आप कहते हैं कि संयोग तो प्रदेश वाली चीज़ों में ही देखा गया है। ठीक हम भी मानते हैं। बने हुये जगत् में सभी चीज़ें प्रदेश वाली हैं। परन्तु यदि आप मान लेवें कि प्रदेश वाली चीज़ें विभाज्य हैं तो उनके विभाग भी मानने पड़ेंगे। और उन विभागों को भी विभाज्य मानने से उनका भी विभाग हो सकेगा। इस प्रकार कहीं तो

सीमा पहुँचेगी ही अन्यथा अनवस्था दोष आयेगा। इस प्रकार भी परमाणु की सिद्धि हो गई।

एक परमाणु के दूसरे परमाणु में धसकर एक हो जाने का प्रश्न तभी उठता जब परमाणु सावयव होता और उसमें पोल होती।

आप यह तो मानते हैं कि प्रदेश वाली चीजें सिरों पर संयुक्त होती हैं। परन्तु आप यह नहीं बताते कि वे सिरे आपस में कैसे संयुक्त होते हैं। कुल के कुल या एक देश में। क्योंकि सिरों के भी सिरे हो सकते हैं। सिरा सापेक्षिक शब्द है। इस प्रकार भी या तो अनवस्था दोष आयेगा या मानना पड़ेगा कि सिरे मिलना सम्भव है। उसी प्रकार की सम्भावना आप परमाणु के विषय में भी कर सकते हैं। विश्लेषण द्वारा सिद्ध हुये परमाणु के अस्तित्व का निषेध करने की क्या आवश्यकता है?

(४)

प्रलय और अदृष्ट

शां० स्वा०—अदृष्टमपि भोगप्रसिद्ध्यर्थं न प्रलय प्रसिद्ध्यर्थम्।

(शां० भा० २।२।१२ पृष्ठ २३२)

अदृष्ट* तो भोग के लिये है प्रलय के लिये नहीं। फिर प्रलय कैसे होगी?

---

* वैशेषिक दर्शन के निम्न सूत्रों में कर्म के सम्बन्ध में अदृष्ट का उल्लेख है:—५।१।१५, ५।२।२, ५।२।७, ५।२।१३, ५।२।१७-१८, ६।२।२, ६।२।१३

जीव जो कर्म करते हैं उनके फल की प्राप्ति के हेतु उनमें एक प्रकार के संस्कार या बीजशक्ति उत्पन्न हो जाती है जो अदृष्ट रहता है और जिसकी प्रेरणा से उसको उन कर्मों का अच्छा या बुरा फल मिलता है। जीव के शरीर और शरीरों द्वारा प्राप्त भोग अदृष्ट की प्रेरणा से होते हैं। जैसे भूमि में बोया हुआ बीज प्राकृतिक नियमों द्वारा वृक्ष रूप होता हुआ कालान्तर में फल लाता है इसी प्रकार कर्मों के ...

हमारी आलोचना—जिस प्रकार आजकल चीजों का बिगड़ना या शरीर का मृत्यु को प्राप्त होना जीवों के भोग के अन्तर्गत है इसी प्रकार समस्त जगत् का प्रलय भी भोग से सम्बद्ध है। आज कल नित्य प्रति क्षण आंशिक प्रलय हुआ करती है। वह महाप्रलय होगी।

(५)

समवाय सम्बन्ध

शां० स्वा०—"द्वाभ्यां चाणुभ्यां द्व्यणुकमुत्पद्यमानमत्यन्त-भिन्नमणुभ्यामणवोः समवैतीत्यभ्युपगम्यते भवता। न चैवमभ्युपगच्छताशक्यतेऽणुकारणता समर्थयितुम्। कुतः? साम्यादनवस्थितेः। (शां० भा० २।२। १३ पृष्ठ २३३)

तुम्हारे मत में (वैशेषिक के मत में) दो अणुओं से मिल कर द्व्यणुक और पहले अणुओं में समवाय सम्बन्ध होता है। हमारा आक्षेप यह है कि द्व्यणुक अणु से भिन्न है। इन भिन्न पदार्थों में समवाय सम्बन्ध मानते हो तो इसी प्रकार समवाय और समवायी भी भिन्न हैं उनमें भी दूसरा समवाय सम्बन्ध मानना पड़ेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा।

वैशेषिक का पक्षः—नन्विह प्रत्ययग्राह्यः समवायो नित्य-संबद्ध एव समवायिभिर्गृह्यते नासंबन्धान्तरापेक्षो वा। ततश्च न तस्यान्यः संबन्धः कल्पयितव्यो येनानवस्था प्रसज्येत इति।

(पृ० २२३)

उत्पन्न हुआ अदृष्ट रूपी बीज ईश्वर की धर्म व्यवस्था द्वारा कालान्तर में सुख या दुःख रूपी फलों को प्राप्त कराता है। बीज का वृक्ष रूप होना प्राकृतिक नियमों के अनुसार है जो दृष्ट हैं। कर्मों से उत्पन्न अदृष्ट आचार सम्बन्ध नियमों (moral laws) के अनुसार है जो दिखाई नहीं पड़ता।

समवाय और समवायी का सम्बन्ध हमको नित्य प्रतीत होता है। यह न तो असंबद्ध है न दूसरे सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है। इसलिये और दूसरे सम्बन्ध की कल्पना अनावश्यक है। इसलिये अनवस्था दोष नहीं आता।

शं० स्वा०—नेत्युच्यते। संयोगोऽप्येवं सति संयोगिभिर्नित्य-संबद्ध एवेति समवायवन्नान्यं ।

यह युक्ति ठीक नहीं। इस प्रकार तो संयोग और संयोगी का भी नित्यसम्बन्ध मानना पड़ेगा। और तुम्हारी यह कल्पना व्यर्थ होगी कि संयोग और संयोगी में समवाय सम्बन्ध है। यदि कहो कि अर्थान्तरत्व (भिन्नता) के कारण संयोग को एक और सम्बन्ध की आवश्यकता है तो समवाय को भी एक और सम्बन्ध की आवश्यकता होनी चाहिये क्योंकि समवाय भी समवायी से उसी प्रकार भिन्न है जैसे संयोग संयोगी से। यदि कहो कि संयोग गुण है, गुण और गुणी में समवाय सम्बन्ध होता है इसलिये संयोगी में भी समवाय सम्बन्ध है तो यह भी ठीक नहीं।

अपेक्षाकारणस्य । ॥

(शां० भा० २।२।१३ पृष्ठ २३३)

क्योंकि कारण तो दोनों के साथ एक ही है। यह दूसरी बात है कि परिभाषा में संयोग को गुण कह लिया और समवाय को नहीं।

हमारी ने छः पदार्थ (Categories) माने हैं द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। शं० स्वा० का ऊपर का आक्षेप समवाय विषयक है। याद रखना चाहिये कि पिछले तीन पदार्थों को कणाद ने बुद्ध्यपेक्षित माना है। जैसे—

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्। (वैशे० दर्शन १।२।३)

इसका यह अर्थ नहीं कि ये तीन पदार्थ काल्पनिक हैं। हैं तो ये वास्तविक। परन्तु इनका परिज्ञान बुद्धि से होता है। मेरा आशय

उदाहरण से स्पष्ट होगा। संसार में अनेक वस्तुयें हैं। ये सब वस्तुएँ असंबद्ध नहीं है। इस सम्बन्ध को आप बुद्धि से समझ सकते हैं, समवाय एक सम्बन्ध है।

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः।

(वैशे० दर्शन ७।२।२६)

अयुतसिद्धानाम धार्याधारभूतानां यः संबन्ध इहेतिप्रत्ययहेतुः स समवायः। इति प्रशस्तपादः।

समवाय सम्बन्ध अयुतसिद्ध वस्तुओं में होता है। अयुतसिद्ध वह हैं जिनका कभी पृथकत्व नहीं हो सकता, जैसे गुण और गुणी। वैशेषिक लोग कारण-कार्य्य, गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति में समवाय सम्बन्ध मानते हैं*। इसका केवल इतना अर्थ है कि इनमें जो कुछ सम्बन्ध है उस सम्बन्ध का नाम समवाय रक्खा गया। युत-सिद्ध वस्तुओं में भी सम्बन्ध होता है। जिसका नाम संयोग है। जैसे पात्र में दही है। पात्र और दही अयुत-सिद्ध नहीं। युत-सिद्ध है। गुण के बिना गुणी रह नहीं सकता। परन्तु दही के बिना पात्र रह सकता है।

इतना समझने के पश्चात् शं० स्वा० के आक्षेपों पर विचार करना चाहिये। शं० स्वा० के आक्षेप इतने प्रबल समझे जाते हैं कि श्रीराधाकृष्णन जी को यह कहना पड़ा कि—

The theory of Samavaya is a weak link in the Vaisesika System. We cannot look upon Samavaya as a connection between two distinct things and yet regard it as of a different kind from Samyoga, or conjunction. If Samavaya

---

***कार्य्यकारणयोरित्युपलक्षणं गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोर्जातिव्यक्तयोर्नित्यद्रव्यविशेष पदार्थयोश्चाधाराधेयभावनियामकोऽपि समवाय एवेति मन्तव्यम्।**

(जयनारायण तर्क पंचानन भट्टाचार्यकृत कणाद सूत्र विवृति ७।२।२६)

is distinct from Samyoga, then the whole is something over and above the part.

(*Indian Philosophy Vol. II. page 231*)

अर्थ—वैशेषिक दर्शन की शृङ्खला में समवाय का सिद्धान्त एक निर्बल कड़ी है। यह कैसे माना जा सकता है कि समवाय दो भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बीच का सम्बन्ध भी हो और संयोग सम्बध से भिन्न हो ? यदि समवाय को संयोग से भिन्न मानोगे तो अवयवी को अवयवों से अतीत (अधिक) मानना पड़ेगा।

यह सम्मति शंकर स्वामी के प्रभाव का फल स्वरूप है। जब कणाद ने भिन्न भिन्न पदार्थों की दो कोटियाँ कर दीं एक अयुत-सिद्ध और दूसरी युत-सिद्ध, तो इन दो प्रकार की वस्तुओं के परस्पर सम्बन्धों के लिए भी दो नाम रक्खे, एक समवाय, दूसरा संयोग। यह दो नाम तो सर्वथा उपयुक्त हैं। इनमें कोई दोष नहीं। तो क्या इनके लक्षणों में कोई दोष है ? यदि लक्षण के शब्दों को श्लेष के झमेले से अलग रक्खा जाय तो लक्षण में भी कोई दोष प्रतीत नहीं होता। हाँ यदि शब्दों का कहीं कोई अर्थ लिया जाय तो हो सकता है और शं॰ स्वा॰ ने ऐसा ही किया है। देखिये—

(१) शं॰ स्वा॰ का आक्षेप यह है कि आकाश और परमाणु तो कभी अलग नहीं होते। फिर इनमें समवाय सम्बन्ध क्यों नहीं ?

परन्तु थोड़े से विचार से पता चल जायगा कि जिस भाव से पदार्थों की दो कोटियाँ की गईं एक अयुत-सिद्ध और दूसरी युत-सिद्ध, उसके अनुसार आकाश और परमाणु अयुत-सिद्ध की कोटि में नहीं आते। शब्द आकाश का गुण है अतः यह दोनों अयुत-सिद्ध हैं, और इनमें परस्पर समवाय सम्बन्ध है।

दूसरी बात यह है कि यदि आप इस बात पर आग्रह करें कि आकाश और परमाणु भी अयुत-सिद्ध हैं क्योंकि जहाँ आकाश है वहाँ

परमाणु है, जहाँ परमाणु है वहाँ आकाश है, तो हम कह देंगे कि इस आग्रह मात्र से समवाय-सिद्धान्त नहीं कटता। केवल हमको आपकी इतनी बात स्वीकार कर लेनी पड़ेगी कि आकाश और परमाणु में भी समवाय सम्बन्ध है। परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि यह कहना ठीक न होगा कि जहाँ जहाँ आकाश है वहाँ वहाँ *वही परमाणु* है और आकाश के होने के कारण है। जो विशेषता कारण-कार्य्य, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् , अवयव-अवयवी, जाति-व्यक्ति में पाई जाती है वह आकाश-परमाणु में नहीं है। आकाशत्व का परमाणुत्व के साथ वही सम्बन्ध नहीं है जो जातित्व का व्यक्तित्व के साथ या कारणत्व का कार्य्यत्व के साथ।

(२) दूसरा आक्षेप यह है कि यदि गुण और गुणी भिन्न हैं और उनके बीच में समवाय सम्बन्ध है तो समवाय और समवायी भी भिन्न हैं अतः उनके बीच में भी कोई दूसरा समवाय सम्बन्ध चाहिये। इस प्रकार बढ़ाते-बढ़ाते अनवस्था दोष आ जाएगा।

इस आक्षेप के उत्तर में वैशेषिक का यह कहना है कि समवाय-समवायी के सम्बन्ध की प्रतीति तो नित्य है। उसे किसी अन्यसम्बन्ध की अपेक्षा नहीं। रथ के दो बैलों के कंधों को एक जुए से संबद्ध कर देते हैं। परन्तु जुए को प्रत्येक बैल के कंधे से बाँधने के लिए किसी दूसरे जुए की आवश्यकता नहीं होती। इस लिए अन्य समवाय मान कर अनवस्था उत्पन्न करने का प्रश्न नहीं उठता।

इस पर शं॰ स्वा॰ कहते हैं कि यह बात तो संयोग पर भी लागू होगी फिर संयोग और संयोगी के बीच में 'समवाय' सम्बन्ध की क्या आवश्यकता ?

यह एक बारीक प्रश्न है और इस पर सावधानी से विचार होना चाहिये। संयोग को वैशेषिक ने गुण माना है। गुण और गुणी में समवाय सम्बन्ध होने से संयोग और संयोगी में भी समवाय मानना पड़ा। परन्तु याद रखना चाहिये कि जिन भिन्न-भिन्न पदार्थों के संयोग

से एक संयुक्त पदार्थ बना उसके उन भिन्न भिन्न पदार्थों से अलग अलग हर एक के साथ संयोग का समवाय सम्बन्ध नहीं। केवल संयुक्त पदार्थ के साथ है। उदाहरण के लिये जल को लीजिये। आक्सीजन और हायड्रोजन के संयोग से जल बना। जल का गुण है शीतलत्व। यह शीतलत्व न तो आक्सीजन का गुण हैं न हायड्रोजन का। अपितु एक तीसरे संयुक्त पदार्थ का जिसको जल कहते हैं। संयोग न तो अलग आक्सीजन में है न अलग हायड्रोजन में है अपितु दोनों के मेल से बने तत्व में।

जल है संयुक्त पदार्थ।

जलत्व है संयोग।

अतः जल और जलत्व तथा संयुक्त और संयोग अयुत-सिद्ध हो गये और उनमें समवाय मानना आवश्यक हो गया।

वैशेषिक ने बुद्धि-भ्रम को बचाने के लिए ये दो सम्बन्ध अलग अलग रक्खे। आप इनमें गड़बड़ करके बुद्धि-भ्रम के लिये अवसर दे रहे हैं। श्रीराधाकृष्णन् जी को यह आपत्ति खटकी तो अवश्य परन्तु उन्होंने इसको इतना गंभीर नहीं समझा और सहन कर गये। वे लिखते हैं।

Thhre is no doubt that the relation of a binary atomic compound to its constituent elements, or of a species to the individuals constituting it, is not the same as the relation of a table cloth and the table. But the difficulty in both the cases seems to be the same, that a relation, however intimate, can not be identical with the terms related.

(Indian Philosophy Vol. II. Page 218-19)

अर्थः—इसमें संदेह नहीं कि द्वयणुक का अपने के साथ या जाति का अपने व्यक्तियों के साथ वही सम्बन्ध नहीं है जो

मेज़ का मेज़पोश के साथ है। परन्तु कठिनाई दोनों दशाओं में एक ही है। अर्थात् एक सम्बन्ध चाहे कितना ही घनिष्ठ क्यों न हो, संबद्ध पदार्थों से उसका अनन्यत्व नहीं हो सकता।

यहाँ स्पष्ट हो गया कि मेज और मेजपोश युत-सिद्ध हैं और जाति-व्यक्ति अयुत-सिद्ध। इनके सम्बन्ध भिन्न-भिन्न हैं। अतः इनके नाम भी भिन्न होने चाहिये। आगे की कठिनाई कुछ कल्पित सी है। क्योंकि समवाय और समवायी में कोई अनन्यत्व नहीं मानता।

(३) तीसरा आक्षेप शं० स्वा० का यह है कि कारण और कार्य अयुत-सिद्ध नहीं। क्योंकि वैशेषिक असत्कार्य्य-वादी है। वह कारण में कार्य्य को उत्पत्ति से पूर्व नहीं मानता। अर्थात् कार्य्य का प्रागभाव मानता है। (देखो शां० भा० २।२।१७ पृ० २३६)

यह आक्षेप बहुत गहरा नहीं है, हम अन्यत्र सत्कार्य और असत्कार्य की मीमांसा कर चुके हैं। यह झगड़ा एकांगी विचार के कारण है। घड़े में मिट्टी तो सदा ही रहती है अतः अयुत-सिद्ध है, केवल ऊपरी दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि मिट्टी में घड़ा सदा नहीं रहता। परन्तु असत्कार्य्यवाद का यह सिद्धान्त तो नहीं कि कारण और कार्य्य में नियत-सम्बन्ध नहीं। प्रत्येक कारण से प्रत्येक कार्य्य तो उत्पन्न नहीं हो सकता। जल से बरफ बनती है रेत से नहीं। इस लिये यों समझना चाहिये कि मिट्टी में घड़ा बीज-रूप से रहता है। प्रागभाव और अन्योन्याभाव या अत्यन्ताभाव में भेद है।

यह कहना कि कार्य्य कारण के साथ समवाय सम्बन्ध में प्रविष्ट होने से पूर्व अपनी उत्पत्ति के पश्चात् कुछ काल तक बिना सम्बन्ध के रहता है केवल शाब्दिक भूल-भुलय्या हैं। युक्ति में कोई सार नहीं। ऐसी युक्तियाँ उभयपक्ष से बहुत सी दी जा सकती है।

(६)

अणुओं में प्रवृत्ति का प्रश्न

शं० स्वा०—अपि चाणवः प्रवृत्तिस्वभावा वा निवृत्तिस्वभावा

वोभयस्वभावा वाऽनुभयस्वभावा वऽभ्युपगम्यन्ते गत्यन्तराभावात्। चतुर्धापि नोपपद्यते। इत्यादि।

(शां० भा० २।२।१४ पृष्ठ २२३)

अर्थ—यदि परमाणुओं को सृष्टि का कारण मानो तो चार अवस्थायें मानी जा सकती हैं। या तो परमाणुओं में बनाने की प्रवृत्ति हो। यदि ऐसा है तो सृष्टि बनती ही जायगी, कभी प्रलय आदि नाश न होगा। यदि निवृत्ति मानो तो कभी बनेगी ही नहीं। दोनों स्वभाव परस्पर विरोधी हैं। अतः विचार के योग्य नहीं। यदि दोनों प्रकार की न मानो तो अदृष्ट आदि निमित्त से इनका नित्य सम्बन्ध होने की दशा में सृष्टि सदैव बनती रहेगी, बिगड़ेगी नहीं। और यदि किसी अदृष्ट आदि निमित्त का संग न माना जाय तो सृष्टि बनने की प्रवृत्ति ही न हो सकेगी। इस लिये परमाणुकारणवाद ठीक नहीं।

हमारी आलोचना—शंकर स्वामी इस आक्षेप को करने से पूर्व मान बैठते हैं कि कणाद अनीश्वरवादी हैं, और परमाणुओं को अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण मानते हैं। श्री राधाकृष्णन् का यह कथन विचारने योग्य है :—

Kanada's sutra does not openly refer to God. He traces the primal activities of the atoms and souls to the principle of *adṛṣṭa*. While he seemed to have been satisfied with the explanatin of the universe by the principle of *adṛṣṭa*, his followers felt that the principle of *adṛṣṭa* was too nebulons and un-spiritual and made it dependent on God's will. God is the efficient cause of the world, while the atoms are the material cause. It is, however, hard to concede that Kanada him self felt the need of a divine being. The favourite passage, which occurs twice, and has been made to support theism by later commen-

tators has no reference to God. Apperently Kanada felt that the Vedas were the works of the seers, and not God.
(*Indian Philosophy Vol. II p. 226*)

अर्थ :—कणाद के सूत्र खुल्लमखुल्ला ईश्वर का उल्लेख नहीं करते। वह तो परमाणुओं और आत्माओं की प्रारम्भिक प्रवृत्ति को अदृष्ट तक ले जाते हैं। वह अदृष्ट के सिद्धान्त से ही जगत् की उत्पत्ति मानने से सन्तुष्ट थे परन्तु उनके अनुयायियों ने सोचा कि अदृष्ट तो इतना अनिश्चित और अनात्मक है कि इससे काम नहीं चलता। अतः उन्होंने अदृष्ट को ईश्वर की इच्छा के परतन्त्र कर दिया। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है और परमाणु उपादान कारण। परन्तु यह मानना कठिन है कि कणाद ईश्वर की आवश्यकता को अनुभव करते थे। जो सूत्र दो बार आया है।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्। १।१।३ ; १०।२।६

और जिसको आस्तिकवाद की पुष्टि में पेश किया जाता है उसका ईश्वर से सम्बन्ध नहीं। प्रतीत होता है कि कणाद वेद को ईश्वर कृत नहीं अपितु ऋषि-कृत मानते थे।

हमको श्री राधाकृष्णन जी के साथ साहमत्य प्रकट करने में आपत्ति है। 'तद् वचनाद्' में 'तद्' शब्द केवल ईश्वर के लिये ही आ सकता है। अन्य कोई प्रकरण ही नहीं है। यह एक प्रसिद्ध बात है कि वैदिक साहित्य में 'तत्' शब्द ईश्वर का ही वाचक है यदि कोई और प्रकरण न हो। यदि यह भी मान लिया जाय कि कणाद वेद का ऋषि-कृत मानते थे तो भी कणाद का अनीश्वरवादी होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि वेद में आरम्भ से ही ईश्वरवाद का प्रतिपादन है। इस बात को तो श्री शंकराचार्यजी भी स्वीकार करते हैं। यदि ईश्वर को मान लिया जाय तो शंकर स्वा० का विकल्प-व्यूह एक झटके से ही टूट जाता है। अदृष्ट का संबन्ध तो जीवों के कर्मों से है। ईश्वर अकारण ही तो सृष्टि के

भिन्न-भिन्न भागों को उत्पन्न नहीं करता। अदृष्ट के अनुसार करता है। इस प्रकार उत्पत्ति और नाश दोनों ही संभव हो जाते हैं। न प्रलय के अभाव का प्रसङ्ग रहता है न सृष्टि में अभाव का। रेल के अध्यक्ष हैं और रेल है। परन्तु रेल का पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण को दौड़ना, न दौड़ना, कभी दौड़ना, कभी रुकना, यात्रियों की आवश्यकताओं के आधीन है। इस दृष्टान्त को विस्तार के साथ घटा लीजिये। समस्त आक्षेप निरस्त हो जायंगे। यही बात शां० स्वा० भी मानते हैं परन्तु अन्यत्र। देखो :—

वैषम्य नैर्घृण्ये नेश्वरस्य प्रसज्येते। कस्मात्? सापेक्षत्वात्। यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं निर्घृण्यं च। न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति। सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षित इति चेत्। धर्माधर्मावपेक्षित इति वदामः। (शां० भा० २।१।३४ पृष्ठ २१६)

ईश्वर में विषमता और निर्दयता का दोष नहीं आ सकता। क्यों? अपेक्षा से। यदि ईश्वर बिना किसी की अपेक्षा के सृष्टि बनाता तो उस पर दोष आता कि उसने कहीं कुछ कहीं कुछ क्यों बनाया? वह निर्दयी है। परन्तु वह तो धर्म और अधर्म की अपेक्षा से सृष्टि बनाता है।

यह अदृष्ट भी इन्हीं धर्म, अधर्म के अनुसार बनता है।

(७)

परमाणुओं की नित्यता।

शां० स्वा०—यदि लोके रूपादिमद्वस्तु तत्स्वकारणापेक्षया स्थूलमनित्यं च दृष्टम्। तद् यथा पटस्तन्तूनपेक्ष्य स्थूलोऽनित्यश्च भवति तन्तवश्चांशूनपेक्ष्य स्थूला अनित्याश्च भवन्ति। तथाचामी रूपादिमन्तस्तैरभ्युपगम्यन्ते, तस्मात् तेऽपि कारणवन्तस्तदपेक्षया स्थूला अनित्याश्च प्राप्नुवन्ति। यच्च नित्यत्वे कारणं तैरुक्तम्—

"सदकारणवन्नित्यम्" (वै० सू० ४।१।१) **इति । तदप्येवं सत्यणुषु न संभवति । उक्तेन प्रकारेणाणूनामपि कारणवत्त्वोपपत्तेः ।** (शां० भा० २।२।१५ पृष्ठ २३४)

अर्थ :—लोक में देखा जाता है कि रूप आदि वाली स्थूल वस्तुयें अपने कारण की अपेक्षा स्थूल और अनित्य होती हैं। जैसे कपड़ा सूत की अपेक्षा स्थूल और अनित्य है और सूत छोटे-छोटे रुई के कणों की अपेक्षा स्थूल और अनित्य हैं। इसी प्रकार रूप आदि वाले परमाणु भी अपने कारण की अपेक्षा स्थूल और अनित्य होंगे। और उन पर 'सत्, कारण रहित, नित्य' यह लक्षण न घट सकेंगे क्योंकि उनका एक और कारण होगा जो उनकी अपेक्षा सूक्ष्म और नित्य होगा और यह उसकी अपेक्षा स्थूल और अनित्य होंगे। इसलिये परमाणुओं को नित्य मानना ठीक नहीं।

हमारी आलोचना—क्या कार्य्य से कारण की ओर वापिस चलने में कहीं विराम न होगा ? चलते ही जायंगे ? जब यह मान लिया कि कार्य्यरूप कपड़ा कारणरूप तन्तुओं की अपेक्षा स्थूल और अनित्य है तो अर्थापत्ति से यह भी सिद्ध हो गया कि तन्तु सूक्ष्म और अधिक नित्य हैं। सापेक्षिक स्थूलता और अनित्यता सापेक्षक सूक्ष्मता और नित्यता को सिद्ध करती है। इस प्रकार रूई के कारण अधिक सूक्ष्म और नित्य हुये। इसी प्रकार चलते-चलते आप सूक्ष्मतम और नित्यतम वस्तु तक अवश्य पहुँचेंगे उसी का नाम परमाणु है। यह तो इतनी स्पष्ट बात है कि इसका खण्डन ही नहीं हो सकता। आप की युक्ति 'लोके' इस शब्द से आरम्भ होती है। लोक में तो यही देखते हैं। इसीलिये तो कहना पड़ा कि 'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्' अर्थात् जड़ की जड़ नहीं होती। अतः जड़ को अमूल कहते हैं। या यों कह सकते हैं कि :—

'कारणे कारणाभावादकारणं कारणम्'

अर्थात् कार्य्य का कारण होता है कारण का कारण नहीं होता।

जब तक किसी वस्तु का कार्य्य होना सिद्ध न हो जाय उसके कारण की खोज करना भूल है। तन्तु पट का कारण है। परन्तु तन्तु के स्वरूप को देखने से पता चलता है कि यह कार्य भी है। अतः कार्य्य होने के कारण उसका कारण खोजा जाता है न कि कारण होने के कारण। यह युक्ति तो इसी प्रकार की है जैसे नास्तिक लोग कहा करते हैं कि यदि जगत् को ईश्वर ने बनाया तो ईश्वर को किसने बनाया? उनको यह नहीं पता कि यदि जगत् का कार्य्यत्व सिद्ध न होता तो हम कभी जगत् के कर्त्ता की खोज न करते। इस लिये वैशेषिक के सूत्र में कोई अशुद्धि नहीं।

शां० स्वा०—यदपि नित्यत्वे द्वितीयं कारणमुक्तम् --"अनित्य-मिति च विशेषतः प्रतिषेधाभावः" (वै० ४।१।४) इति। तदपि नावश्यं परमाणूनां नित्यत्वं साधयति। असति हि यस्मिन्कस्मिँश्चि न्नित्ये वस्तुनि नित्यशब्देन नञः समासो नोपपद्यते। न पुनः परमाणुनित्यत्वमेवापेक्ष्यते। तत्रास्त्येव नित्यं परमकारणं ब्रह्म। न च शब्दार्थव्यवहारमात्रेण कस्यचिदर्थस्य प्रसिद्धिर्भवति, प्रमाणान्तर सिद्धयोः शब्दार्थयोर्व्यवहारावतारात्।

(शां० भा० २।२।१५ पृष्ठ २३४)

अर्थः—यह जो परमाणु के नित्यत्व में दूसरा कारण दिया कि 'अनित्य' शब्द कहने से ही नित्य की सिद्धि होती है। अर्थात् यदि कोई चीज नित्य न होती तो उसके साथ 'न' कार लकार अनित्य न बनाते। इससे भी यह सिद्ध नहीं होता कि परमाणु अवश्य ही नित्य सिद्ध हो जायँ। यदि कोई नित्य वस्तु हो ही न तो नित्य शब्द के साथ नञ् समास न लगेगा। इससे यह भी सिद्ध नहीं होता कि परमाणु नित्य हैं क्योंकि परम कारण ब्रह्म तो नित्य है ही। केवल किसी शब्द और अर्थ के व्यवहार मात्र से किसी अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। जब तक किसी अन्य प्रमाण से उसकी सिद्धि न हो जाय।

हमारी आलोचना:—वैशेषिक के जो सूत्र मिलते हैं उनमें 'प्रतिषेधभावः' है 'प्रतिषेधाभावः' नहीं। सम्भव है श्री शं० स्वा० को ऐसा ही पाठ मिला हो। इसकी व्याख्या आनन्द गिरि ने इस प्रकार की है:—

कार्यमनित्यमिति कार्यविशेषतो नित्यत्वनिषेधो न स्याद्यदि कारणेऽप्यनित्यत्वम्। अतोऽणूनां कारणानां नित्यतेति सूत्रार्थः।

अर्थात् यदि कारण भी अनित्य होता तो जैसा कारण अनित्य वैसा ही कार्य्य अनित्य, फिर कार्य्य में 'अनित्य' विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता थी? कार्य्य की अनित्यता पर बल देने का अभिप्राय ही यह है कि कारण की नित्यता से कार्य्य में विशेषता उत्पन्न की जाय। इसलिये सिद्ध हुआ कि कारण अर्थात् परमाणु नित्य हैं। कारण और कार्य्य में यह भेदक-भित्ति है।

इस पाठ भेद से कुछ भेद नहीं पड़ता क्योंकि शकर मिश्र ने उपस्कार में इस सूत्र का भाष्य करते हुये लिखा है :—

तच्च न संभवतीति शेषः।

बात एक ही है। या तो 'प्रतिषेधाभावः' ऐसा कहो या 'प्रतिषेधभावो न संभवति' ऐसा कहो।

परन्तु शं० स्वा० का इस सूत्र का खण्डन ठीक नहीं। क्योंकि यह सूत्र 'परमाणु की नित्यता' ही सिद्ध करने के लिये नहीं लिखा गया अपितु,

सर्वमेवानित्यं नहि किंचिदपि नित्यमिति मतं निरस्यति।

(विवृति०)

अर्थात् 'सभी चीजें अनित्य हैं कोई भी नित्य नहीं' इस बात का खण्डन इस सूत्र से किया गया है। सूत्रान्तर्गत युक्ति स्पष्ट है और ठीक है। यदि सभी पदार्थ अनित्य होते कोई नित्य न होता तो 'अनित्य' शब्द भी न होता। क्योंकि जितने शब्द हैं वे अपने वाच्य की अन्य

पदार्थों से विशेषता बताते हैं। यदि संसार की समस्त वस्तुयें काली होतीं तो काला, पीला, लाल, सफेद ये शब्द भी न होते। इससे करण का नित्यत्व सिद्ध है।

रही यह बात कि 'ब्रह्म नित्य है, परमाणु नहीं।' यह भी ठीक नहीं। क्योंकि ब्रह्म तो उपादान नहीं हो सकता। इसका हम कई स्थानों पर वर्णन कर चुके हैं। कोई युक्ति या दृष्टान्त अभिन्न-निमित्त-उपादान कारण को सिद्ध नहीं करता। अतः नित्य उपादान कारण परमाणुओं को ही मानना पड़ेगा।

श्री शं० स्वा० का यह कहना भी ठीक नहीं कि केवल शब्द के व्यवहार से कुछ नहीं होता जब तक अन्य प्रमाणों से कोई चीज सिद्ध न हो। क्योंकि प्रकृत युक्ति में कोई त्रुटि प्रतीत नहीं होती। जिस प्रतिपत्ति को सिद्ध किया गया है अर्थात् "कुछ न कुछ नित्य अवश्य है" उसकी युक्ति पर्य्याप्त है।

शं० स्वा०—(१) यदपिनित्यत्वे तृतीयं कारणमुक्तम्—'अविद्या च' (वै० ४।१।५) इति, तद्यद्येवं विव्रोयेत सतां परिदृश्यमानकार्याणां कारणानां प्रत्यक्षेणाग्रहणमविद्येति, ततो द्वयणुकनित्यताऽप्यापद्येत।

अर्थ—परमाणु के नित्य होने में तीसरा कारण दिया वह भी अयुक्त है। वह कारण वैशेषिक के 'अविद्या च' (वै० ४।१।५) सूत्र में है। अर्थात् कारण का दिखाई न देना नित्यत्व का साधक है। यदि न दीख पड़ने से ही कोई चीज नित्य हो जाय तो द्वयणुक भी नहीं दीखते अतः वह भी नित्य होने चाहिये।

(२) अथाद्रव्यत्वे सतीति विशेष्येत तथाप्यकारणवत्त्वमेव नित्यता निमित्तमापद्येत। तस्य च प्रागेवोक्तत्वात् 'अविद्या च' इति पुनरुक्तं स्यात्।

यदि 'अविद्या च' इस सूत्र को इस प्रकार पढ़ा जाय "अविद्या च अद्रव्यत्वेसति" अर्थात् कारण का कारण नहीं होता अतः दिखाई

नहीं पड़ता, तो यह बात तो 'सदकारणवन्नित्यम्' (वै० ४।१।१) इ सूत्र में बता दी गई। फिर एक दूसरा सूत्र बना कर उसी की पुनरुवि की क्या आवश्यकता थी?

(३) अथापि कारणविभागात् कारणविनाशाच्चान्यस् तृतीयस्य विनाश हेतोरसंभवोऽविद्या सा परमाणूनां नित्यत ख्यापयतीति व्याख्यायेत। नावश्यं विनश्यद्वस्तु द्वाभ्यामेव हेतुभ्य विनष्टुमर्हतीति नियमोस्ति।

यदि कहो कि नाश के दो ही कारण हैं एक तो कारण का विभा हो जाना (जैसे मकान की ईंटें यदि अलग अलग हो जायं तो मका का नाश हो जाय), दूसरा कारण का नष्ट हो जाना। परमाणु विभाज नहीं, और न उनका नाश होता है। तीसरा कोई हेतु संभव नहीं इसलिए परमाणु नित्य है। तो यह ठीक नहीं क्योंकि वस्तु के नाश के यही दो हेतु नहीं है।

(४) संयोग सचिवेह्यनेकस्मिंश्च द्रव्ये द्रव्यान्तरस्यारम्भ केऽभ्युप गम्यमान एतदेवं स्यात्।

यह तो तभी हो सकता है जब मान लिया जाय कि दो चीजों वे मिलने से ही तीसरी चीज बनती है।

(५) यदा त्वपास्तविशेषं सामान्यात्मकं कारणं विशेषवद वस्थान्तरमापद्यमानमारम्भकमभ्युपगम्यते।

परन्तु यदि यह माना जाय कि एक वस्तु पहले सामान्य मात्र थी, उसमें विशेषता कुछ न थी। फिर वह विशेष अवस्था में आ गई और कार्य्य बन गई। तो

(६) तदा घृत काठिन्य विलयनवन् मूर्त्यवस्था विलयनेनापि विनाश उपपद्यते। (शां० भा० २।१।१८ पृष्ठ २०५)

तो जिस प्रकार जमा हुआ घी पिघल कर विलय हो जाता है इस प्रकार भी नाश हो सकेगा।

हमारी समालोचना—पहले शं० स्वा० की युक्तियों को सरल भाषा में रख दिया जाय। शंकर स्वामी सिद्ध करना चाहते हैं कि परमाणु के नित्यत्व की जो युक्तियाँ वैशेषिक में दी हुई हैं वे सब गलत हैं। एक युक्ति यह है कि परमाणु के टुकड़े हो ही नहीं सकते। अतः कैसे नाश होगा। जब नाश न होगा तो परमाणु नित्य ठहरे। योंही तो अभाव हो न जायगा।

शं० स्वा० कहते हैं कि यदि चीजें कई चीजों के मिलने से ही बना करतीं तो यह बात ठीक थी। परन्तु चीजों के बनने की एक रीति यह भी है कि पहले एक वस्तु सामान्य रूप में हो उसमें विशेषता न आई हो। फिर उसकी अवस्था बदल जाय, उसमें विशेषता आ जाय। जैसे पहले जल था। सामान्य जल। उसमें बर्फ की विशेषता न थी। अब अवस्थान्तर हो गई। बर्फ बन गई। बर्फ के पिघलने से बर्फ का नाश हो गया। उसके टुकड़े टुकड़े अलग होने की आवश्यकता नहीं। यदि इसी प्रकार बर्फ जल हो सकती है तो जल एक तीसरी चीज हो सकता है। इस प्रकार आगे बढ़ते बढ़ते ब्रह्म तक पहुँच जायँगे। परमाणुओं की क्या आवश्यकता ?

इस प्रकार शं० स्वा० ने गुण परिणामवाद का आश्रय लेकर आरम्भकवाद का खण्डन किया है।

परन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं। यदि एक ही वस्तु हो। अनेक न हों। तो गुण परिणाम भी नहीं होता। यदि अकेला घी हो और ताप न हो तो घी न जमे, न पिघले ; न जल जम कर बर्फ हो, न बर्फ पिघल कर जल बने। दूसरे यदि जल या घी के विन्दु अलग अलग न हों तो भी जमने या पिघलने का प्रश्न नहीं उठता। जितने दृष्टान्त गुण परिणाम के मिलते हैं उनमें से कोई भी अखण्ड एकरस वस्तु के नहीं हैं। आश्चर्य है कि शं० स्वा० घी को अखण्ड एक पदार्थ मानते हैं। यदि ऐसा हो तो एक पात्र के घी को कई पात्रों में बाँटा न जा सके। मिट्टी सामान्य है। उसमें घटत्व की विशेषता नहीं है। परन्तु यह कहना

ठीक नहीं कि बिना आरम्भक क्रिया के केवल गुण परिणाम से घट बन गया। सामान्य में विशेषता आवेगी ही तब, जब उसके टुकड़ों का क्रम बदल दिया जाय। अतः गुण परिणाम और आरम्भक में ऊपरी भेद है। वास्तविक भेद नहीं। फिर शंकर स्वामी तो विवर्तवादी हैं। अतः उनका तो गुण परिणाम से भी काम नहीं चलता।

यदि कहो कि शंकर स्वामी पहले विवर्त मान कर फिर गुण-परिणाम मानते हैं, जैसे पहले स्वप्न देखा फिर उसमें कारण-कार्य्य की परम्परा चल पड़ी। तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि गुण परिणाम के पीछे तो विवर्त संभव है विवर्त के पीछे गुण परिणाम संभव नहीं। यह तो संभव है कि जल की बर्फ बन जाय और कोई धोखे से उसे रूई का गाला समझने लगे। परन्तु यह संभव नहीं कि बर्फ को रूई का गाला समझ कर कोई उसे कात कर कपड़ा बुन सके। यही कारण है कि स्वप्न की देखी हुई वस्तुओं में देश, काल, तथा कारण-कार्य्य की मर्यादा नहीं रहती।

(८)

परमाणु और भूत

शां० स्वा०—एवमेतानि चत्वारि भूतान्युपचितापचित गुणानि स्थूल सूक्ष्म सूक्ष्मतरसूक्ष्मतमतारतम्योपेतानि च लोके लक्ष्यन्ते, तद्वत् परमाणवोऽप्युपचितापचितगुणाः कल्प्येरन्नवा।

(अ) कल्प्यमाने तावदुपचितापचित : गुणत्वे साम्यप्रसिद्धये यदि तावत् सर्व एकैकगुणा एव कल्प्येरंस्ततस्तेजसि स्पर्शस्योपलब्धिर्न स्यात्।

(इ) अथ सर्वे चतुर्गुणाएव कल्प्येरन्, ततोऽप्स्वपि गन्धस्योपलब्धिस्यात्। (शां० भा० २।२।१६ पृष्ठ २३५)

अर्थ—जैसे चार भूतों में किसी में कम गुण हैं किसी में अधिक इस प्रकार कोई स्थूल है कोई सूक्ष्म, इसी प्रकार क्या उनके परमाणुओं में भी स्थूल सूक्ष्म का तारतम्य है

(अ) यदि तारतम्य मानो तो उनके परिमाण में भी तारतम्य होगा क्योंकि जिसमें अधिक गुण होंगे उसका परिमाण बड़ा होगा।

(आ) यदि मानो कि सब में समान गुण हैं तो या एक ही गुण सब में मानो। उस दशा में अग्नि में स्पर्श न होगा, जल में रूप और स्पर्श न होगा, पृथ्वी में रस, रूप तथा स्पर्श न होगा। क्योंकि कारण के गुण कार्य्य मे आते हैं।

(इ) या हर परमाणु में चारों गुण मानो, तो जल में गन्ध, अग्नि में गन्ध और रस, वायु में गन्ध, रस और रूप भी होना चाहिये। ऐसा नहीं है।

अतः परमाणुकारणवाद ठीक नहीं।

हमारी आलोचना—शकर स्वामी ने तीन विकल्प दिये। चौथा छोड़ दिया। वही निर्दोष था। न तो हर परमाणु में एक गुण मानो न हर परमाणु में चारों गुण। अपितु भिन्न भिन्न भूतों के भिन्न भिन्न परमाणु मानो और उनमें उस भूत का मुख्य गुण मानो। जैसे पृथ्वी के परमाणु का गुण गन्ध है, जल के परमाणु का रस, अग्नि के परमाणु का रूप, वायु के परमाणु का स्पर्श। इन सब के संयोग से भूत बनते हैं। बने हुये भूतों में जो वायु के परमाणुओं से भूत बना वह सूक्ष्मतम वायु-भूत होने से केवल स्पर्शवान् हुआ। जिसमें वायु और अग्नि के परमाणु मिले वह अग्नि-भूत होने से रूप और स्पर्शवान् हुआ, जिसमें वायु अग्नि तथा जल के परमाणु मिले वह जल-भूत होने से स्पर्श, रूप तथा रसवान् हुआ। और जिसमें वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी के परमाणु मिले वह पृथ्वी-भूत होने से स्पर्श, रूप, रस तथा गन्धवान् हुआ। इन पांच भूतों के अपने अपने मुख्य गुण का ज्ञान त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण तथा श्रोत्र इन्द्रियों से अलग अलग होता है।

यदि आप इस सिद्धान्त को दूषित समझते हैं तो आपके पास माया-विवर्त को छोड़कर और कोई सिद्धान्त नहीं रह जाता। और आपके इस सिद्धान्त में इतने दोष हैं कि अन्त में आपको अनिर्वच-

नीयता का आश्रय लेना पड़ता है। अनिर्वचनीय कह कर पल्ला छुड़
तो दार्शनिक मनोवृत्ति के सर्वथा विपरीत है।

(६)

वैशेषिक के छः पदार्थ

(१) वैशेषिकास्तन्त्रार्थभूतान् षट्पदार्थान् द्रव्य गुण क
सामान्य विशेष समवायाख्यान्, अत्यन्त भिन्नान्, भिन्नलक्षणा
अभ्युपगच्छन्ति। यथा मनुष्योऽश्वः शश इति।

(२) तथात्वं चाभ्युगम्य तद् विरुद्धं द्रव्याधीनत्वं शेषाणामभ
पगच्छन्ति। तन्नोपपद्यते। (शां० भा० २।२।१७ पृष्ठ २३५-२३

अर्थ—(१) वैशेषिक लोग छः पदार्थ मानते हैं द्रव्य, गु
कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय। इन के भिन्न-भिन्न लक्षण करते
इन को इतना ही भिन्न मानते हैं जैसे मनुष्य, घोड़ा, खरगोश।

(२) ऐसा मानकर भी द्रव्य के आधीन शेष पांचों को मानते
यह ठीक नहीं।

(३) अथ भवति द्रव्याधीनत्वं गुणादीनां ततो द्रव्यभ
भावाद् द्रव्याभावेऽभावाद् द्रव्यमेव संस्थानादि भेदादनेक श
प्रत्यय भाग् भवति। यथा देवदत्त एक एव सन्नवस्थान्तरयोगादने
शब्द प्रत्ययभाग् भवति तद्वत्। (पृष्ठ २३

जब गुण कर्म आदि पांचों द्रव्य के आधीन हैं तो द्रव्य के होते
होंगे; द्रव्य के न होते हुये न होंगे, तो इसका अर्थ तो यही हुआ
द्रव्य ही संस्थान-भेद से अनेक शब्द का वाच्य होगा जैसे देवदत्त भि
भिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न शब्दों से पुकारा जाता है।

वैशेषिक का पूर्वपक्षः—ननु अग्नेरन्यस्यापि सतो धूमस्याग्न
धीनत्वं दृश्यते। (पृष्ठ २३६

धुआं अग्नि से भिन्न है फिर भी अग्नि के आधीन है।

शां० उत्तरपक्ष—नैव द्रव्यगुणयोरग्नि-धूमयोरिव भेद-प्रतीतिरस्ति। (पृष्ठ २३६)

अग्नि और धूम की प्रतीति तो अलग-अलग होती है द्रव्य और गुण की इसी प्रकार नहीं होती।

हमारी आलोचना—द्रव्य,गुण, कर्म आदि भिन्न पदार्थ तो हैं परन्तु मनुष्य, घोड़ा, खरगोश के समान भिन्नता नहीं। घोड़ा मनुष्य से उसी प्रकार भिन्न नहीं जैसे घोड़े का रंग घोड़े से भिन्न है। यह तो प्रत्यय-विधान पर विचार करने से ही स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य और घोड़े का विषम दृष्टान्त भ्रमोत्पादक है। यह कहना ठीक नहीं कि संस्थान भेद से द्रव्य ही गुण आदि कहलाता है ! क्योंकि यदि गुण, कर्म आदि भिन्न न मानो तो संस्थान भेद भी कैसे होता ? देवदत्त की भिन्न-भिन्न अवस्थायें भी तो कर्म आदि के भिन्नत्व के कारण हैं। जल और जल के प्रवाह को एकात्मता प्राप्त नहीं है। यदि गुण और गुणी को एक माना जाय तो दूध और मिठास तथा दूध और सफ़ेदी एक होंगे और इस प्रकार मिठास और सफ़ेदी को एक मानना पड़ेगा जो नितान्त निरर्थक है।

दूध = मिठास
दूध = सफ़ेदी
∴ मिठास = सफ़ेदी।

(१०)

अयुतसिद्ध का लक्षण

वैशेषिक का पूर्व पक्ष—गुणादीनां द्रव्याधीनत्वं द्रव्य गुणयोरयुतसिद्धत्वात्।

द्रव्य और गुण अयुत सिद्ध हैं अतः गुण द्रव्य के आधीन है।

शां उत्तर पक्ष—(१) तत् पुनरयुतसिद्धत्वमपृथग्देशत्वं वा स्यादपृथक्कालत्वं वाऽपृथक्स्वभावत्वं वा। सर्वथापि नोपपद्यते।

अयुतसिद्ध से क्या तात्पर्य है ? देश की अपेक्षा अपृथक्त्व, या काल की अपेक्षा, या स्वभाव की अपेक्षा ? तीनों दशायें नहीं बनतीं ।

(२) अपृथग्देशत्वे तावत् स्वाभ्युपगमो विरुध्येत ।............ तन्तवो हि कारणद्रव्याणि कार्यद्रव्यं पटमारभन्ते तन्तुगताश्च गुणाः शुक्लादयः कार्य्यद्रव्ये परे शुक्लादिगुणान्तरमारभन्त इति हि तेऽभ्युपगच्छन्ति ।सोऽभ्युपगमो द्रव्य गुणयोरपृथग्देशत्वेऽभ्युपगम्यमाने बाध्येत । (शां० भा० २।२।१७ पृष्ठ २३६)

अपृथग्देशत्व वैशेषिक के अपने ही सिद्धान्त को काटता है ।...... इनका सिद्धान्त यह है कि कारण द्रव्य तन्तु कार्य्य द्रव्य वस्त्र को उत्पन्न करते हैं और तन्तुओं के सफेदी आदि गुण कपड़े के सफेदी आदि को उत्पन्न करते हैं । ऐसा मानने से द्रव्य और गुण का अपृथग्देशत्व खण्डित हो जाता है ।

हमारी आलोचना—यह आक्षेप ठीक नहीं । केवल शाब्दिक भूल-भुलावा है । द्रव्य और गुण का अपृथदेशत्व तो वैसा ही बना है । जहाँ तन्तु हैं वहीं तन्तु की सफेदी है । वहीं तन्तु से बना वस्त्र है और वहीं वस्त्र की सफेदी भी है । यह किसने कहा कि कपड़ा किसी और जगह है और उसकी सफेदी और जगह ?

(३) अथापृथक्कालत्वमयुतसिद्धत्वमुच्येत सव्य दक्षिण योरपि गोविषाणयोरयुतसिद्धत्वं प्रसज्येत ।

(शां० भा० २।२।१७ पृष्ठ २३६)

यदि अपृथक्कालत्व को अयुत सिद्धत्व माना जाय तो गाय के दाहिने और बांयें सींग भी अयुत सिद्ध होंगे ।

हमारी आलोचना—समकालीनत्व का नाम अयुतसिद्धत्व नहीं है । यों तो लन्दन की टेम्स और प्रयाग की गंगा अयुत सिद्ध होंगे क्योंकि इनमें समय की दूरी नहीं है । गाय का दाहिना सींग टूट सकता है बायाँ

सींग बना रह सकता है। यह अयुत सिद्ध कैसे? क्या यह दृष्टान्त गुण और द्रव्य पर लागू हो सकता है?

(४) तथाऽपृथक् स्वभावत्वे त्वयुतसिद्धत्वे न द्रव्यगुणयोरात्म भेदः संभवति। (शां० भा० २।२।१७ पृष्ठ २३७)

यदि स्वभाव की अपेक्षा से अयुत सिद्ध मानो तो द्रव्य और गुण में भेद नहीं रहेगा।

हमारी आलोचना—यहाँ भी स्वभावैकत्व और स्वभावापेक्षिता-युतसिद्धत्व में बहु भेद है। एक स्वभाव की तो एक ही वस्तु हो सकती है। परन्तु भिन्न भिन्न पदार्थ ऐसे स्वभाव के हो सकते हैं कि वे सर्व-प्रकारेण एक दूसरे से पृथक् न हो सकें जैसे द्रव्य और गुण। या मेज़ और उसकी लम्बाई। जहाँ मेज़ है वहाँ उसकी लम्बाई है जहाँ लम्बाई है वहाँ मेज़ है। जब तक मेज़ है तब तक उसकी लम्बाई है। जब तक मेज़ की लम्बाई है तब तक मेज़ है। यद्यपि मेज़ और लम्बाई एक (अनन्य) नहीं। मेज़ का स्वरूप और है, लम्बाई का और। मेज़ के प्रत्यय और लम्बाई के प्रत्यय (ज्ञान) में भी भेद है। कोई मेज़ को लम्बाई नहीं कहता, न लम्बाई को मेज़। फिर भी दोनों के स्वरूप इस प्रकार के हैं कि उनमें पृथकत्व की कल्पना हो ही नहीं सकती। यहाँ शंकर स्वामी ने तीन विकल्प उठा कर जो अयुत सिद्धत्व का खण्डन किया वह दृष्टान्तों की विषमता के कारण स्वयं खण्डित हो गया।

(११)

समवाय और संयोग

शां० स्वा०—नापि संयोगस्य समवायस्य वा संबन्धस्य संबन्धिव्यतिरेकेणास्तित्वे किंचित् प्रमाणमस्ति। संबन्धिशब्द प्रत्ययव्यतिरेकेण संयोगसमवाय शब्द प्रत्ययदर्शनात् तयो रस्तित्वमिति चेत्। न। एकत्वेऽपि स्वरूप बाह्यरूपापेक्षयानेक

शब्द प्रत्ययदर्शनात् । यथैकोऽपि सन् देवदत्तो लोके स्वरूपं संबन्धिरूपं चापेक्ष्यानेक शब्द प्रत्ययभाग् भवति, मनुष्यो, ब्राह्मणः श्रोत्रियो वदान्यो बालो युवा स्थविरः पिता पुत्रः पौत्रो भ्राता जामातेति । यथा चैकापि सती रेखा स्थानान्यत्वेन निविशमानै-कदशशतसहस्रादि शब्द प्रत्ययभेदमनुभवति ।

(शां० भा० २.२।१७ पृष्ठ २३७)

अर्थ—संबन्ध से इतर न तो संयोग संबन्ध के अस्तित्व का कोई प्रमाण है न समवाय संबन्ध के अस्तित्व का । यदि कहो कि शब्द अलग अलग हैं इसलिये इनके भाव भी अलग अलग होंगे । तो यह भी ठीक नहीं । क्योंकि एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न अपेक्षा से भिन्न भिन्न नाम होते हैं । जैसे देवदत्त एक है परन्तु स्वरूप और सबन्धिरूप की अपेक्षा से अनेक शब्दों का वाच्य होता है । जैसे मनुष्य, ब्राह्मण, श्रोत्रिय, बालक, युवा, स्थविर, पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता, जामाता आदि । इसी प्रकार एक ही रेखा (अंक) भिन्न भिन्न स्थानों पर रक्खी जाय तो इकाई, दहाई, सैकड़ा वा हजार का वाचक हो जाती है ।

हमारी आलोचना—शंकर स्वामी दृष्टान्त देते हैं वैशेषिक सिद्धान्त की पुष्टि का और प्रदर्शन कर देते हैं उसके खण्डन का । यह है शंकर स्वामी की तर्क शैली की विलक्षणता । काटते हैं अपना हाथ और शत्रु समझता है कि मेरा हाथ काट डाला । इसको कहते हैं शस्त्र चलाने का कौशल । यहाँ दो दृष्टान्त दिये एक देवदत्त का, दूसरा रेखा का । किसलिये ? संबन्धि से इतर संबन्ध के अस्तित्व के खण्डन में । परन्तु सिद्ध क्या हुआ ? संबन्ध का अस्तित्व ! स्वयं कहते जाते हैं कि देवदत्त के भिन्न भिन्न नाम उसके 'संबन्धि रूप' की अपेक्षा से हैं । अर्थात् यदि संबन्ध न होता तो संबन्धी कैसे होता ? फिर उसकी अपेक्षा कैसे होती ? फिर देवदत्त के अनेक नाम कैसे होते ? इससे तो संबन्ध का अस्तित्व सिद्ध होता है न कि असिद्ध । यही रेखा के दृष्टान्त

से सिद्ध होता है। क्या दस, सौ, हज़ार एक ही वस्तु के भिन्न भिन्न नाम हैं? यदि कहो कि अपेक्षा से हैं तो यदि द्रव्य से इतर गुण आदि पदार्थ न माने जायँ तो किसकी अपेक्षा होगी? यदि कहो कि द्रव्य को द्रव्य की ही अपेक्षा होगी तो भी प्रश्न होगा कि क्या एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य से कुछ संबन्ध है या नहीं। यदि कहो 'है' तो इस संबन्ध का नाम देना पड़ेगा, चाहे संयोग हो चाहे समवाय। यदि कहो कि कोई संबन्ध नहीं तो 'अपेक्षा' का क्या अर्थ होगा? सारांश यह है कि शंकर स्वामी ने वैशेषिक के छः पदार्थों के खण्डन में जो युक्तियाँ दी हैं सब निस्सार हैं।

(१२)

परमाणु और प्रदेश

शं० स्वा०—अण्वात्ममनसामप्रदेशत्वान्न संयोगः संभवति प्रदेशवतो द्रव्यस्य प्रदेशवता द्रव्यान्तरेण संयोग दर्शनात्।

(शां० भा० २।२।१७ पृष्ठ २३७)

अणु, आत्मा और मन का संयोग नहीं हो सकता। क्योंकि संयोग केवल प्रदेश (टुकड़े) वाले द्रव्यों में ही होता है। अणु, आत्मा और मन में प्रदेशों का अभाव है।

हमारी आलोचना—यह तो शंकर स्वामी ने मान ही लिया कि संयोग प्रदेश वाले द्रव्यों में होता है। अब प्रश्न यह है कि क्या यह संयोग द्रव्यों में होता है या द्रव्यों के प्रदेशों में? यदि कहो कि द्रव्यों के प्रदेश संयुक्त होते हैं तो क्या इन प्रदेशों के भी प्रदेश होते हैं या नहीं। 'नहीं' तो कह नहीं सकते क्योंकि प्रदेश सापेक्षक चीज है। शरीर की अपेक्षा से हाथ प्रदेश हैं, हाथ की अपेक्षा से उंगलियाँ, उंगलियों की अपेक्षा से उंगलियों के सिरे, उंगलियों के सिरों की अपेक्षा से उंगलियों के नख, नखों की अपेक्षा से नखों के सिरे। फिर संयोग तो अन्ततोगत्वा उन्हीं प्रदेशों का होगा जो सीमान्त पर है। वे प्रदेश तो

फिर प्रदेशवान् न होंगे। जिस प्रकार प्रदेशों के ये सीमान्त संयुक्त हो सकते हैं उसी प्रकार परमाणु, मन और आत्मा में भी संयोग संभव है। बात बारीक थी, युक्ति मोटी दी। काट न सके। कुल्हाड़ी मार कर विद्युत् की धारा को कैसे काट सकते हैं ?

शंकर स्वामी का यह प्रस्ताव करना कि प्रदेश कल्पित कर लिये जायं और फिर उस प्रस्ताव का खण्डन करना प्रसंग से बाहर है।

(१३)

संश्लेष का प्रश्न

शां० स्वा०—द्वाभ्यां परमाणुभ्यां निरवयवाभ्यां सावयवस्य द्व्यणुकस्याकाशेनेव संश्लेषानुपपत्तिः। न ह्याकाशस्य पृथिव्यादीना च जतुकाष्ठवत् संश्लेषोऽस्ति। (शां० भा० २।२।१७ पृष्ठ २३८)

अर्थ :—दो निरवयव परमाणुओं का सावयव द्व्यणुक के साथ उसी प्रकार संश्लेष नहीं हो सकता जैसे आकाश के साथ नहीं हो सकता। क्योंकि आकाश और पृथ्वी आदि का वही संबन्ध नहीं है जो काष्ठ और वार्निश का है।

हमारी आलोचना—यह आक्षेप पहले दिये हुये 'प्रदेशवत्व' आक्षेप का छोटा रूप है और संख्या वृद्धि के लिए किया गया है। जिस प्रकार दो परमाणु संयुक्त होकर द्व्यणुक बना सकते हैं उसी प्रकार तीसरा परमाणु भी द्व्यणुक से संयुक्त हो सकेगा इसमें आपत्ति ही क्या है ? 'प्रदेशवत्व' सम्बन्धी आक्षेप का हम ऊपर उत्तर दे चुके हैं। वस्तुतः इस आक्षेप में गाड़ी के पीछे घोड़ा जोता गया है। 'प्रदेशत्व' संयोग में निमित्त नहीं होता अपितु संयोग द्वारा उत्पन्न होता है, वह संयोग का कार्य्य है कारण नहीं। जब तक संयोग न होगा प्रदेश भी न होंगे। जब तक कई वस्तुयें न मिलें अवयव और अवयवी नहीं हो सकते। यह तो कहा जा सकता है कि जब परमाणु से आगे कोई संभाजन हो ही नहीं सकता और परमाणु किन्हीं दो चीजों से मिल कर

नहीं बना तो वह प्रदेशवान नहीं है। पहले संयोग हो तब प्रदेशवत्व हो। परन्तु यहाँ उलटी माँग है। कहते हैं कि प्रदेशवत्व नहीं तो संयोग कैसे होगा? हम तो "कैसे?" का यह उत्तर देते हैं कि लोक में देख लो। पुस्तक मेज पर कैसे रक्खी जाती है। लकड़ी के टुकड़ों से संयुक्त होकर मेज कैसे बनती हैं। इत्यादि।

अब प्रश्न है 'संश्लेष' का। 'संश्लेष' के यह लक्षण किये गये हैं—

संश्लेषः संग्रह एकाकर्षणेनापराकर्षणम्।

अर्थात् यदि कोई चीजें ऐसे मिल जायं कि एक दूसरे को आकर्षित करने लगे तो उसको संश्लेष कहते हैं। जैसे लकड़ी पर वार्निश लगाई जाय तो लकड़ी वार्निश को पकड़ लेती है और वार्निश लकड़ी को। वार्निश और लकड़ी के संश्लेष का दृष्टान्त देकर तो शं० स्वा० ने संश्लेष को और सुदृढ़ कर दिया। यदि कोई पूछे कि परमाणु का द्व्यणुक से कैसे संश्लेष होता है? तो हम उत्तर देंगे "जतुकाष्ठवत्"। जैसे वार्निश के परमाणुओं का लकड़ी के परमाणु के साथ होता है।

(१४)

समवाय और अन्योन्याश्रय दोष

वैशेषिक का पूर्वपक्षः—कार्य्यकारणद्रव्ययोराश्रिताश्रयभावोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यवश्यं कल्प्यः समवायः इति। (पृष्ठ २३८)

अर्थ—कार्य्य कारण में आश्रित आश्रय भाव अन्यथा न हो सकेगा अतः समवाय सम्बन्ध की कल्पना आवश्यक हो गई।

शं० स्वा० का उत्तर पक्षः—न, इतरेतराश्रयत्वात्। कार्यकारणयोर्हि भेदसिद्धावाश्रिताश्रयभावसिद्धिराश्रिताश्रयभावसिद्धौ तयोर्भेदसिद्धिः कुण्डबदरवद् इति इतरेतराश्रयतास्यात्।

(पृष्ठ २३८

अर्थ—ऐसा नहीं। इसमें तो अन्योन्याश्रय दोष है। कार्य्य का का भेद सिद्ध हो गया तब आश्रित-आश्रय भाव की सिद्धि हुई। अ

जब आश्रित-आश्रय भाव सिद्ध हो गया तब कार्य्य-कारण के भेद की सिद्धि हुई।

हमारी आलोचना—इसमें अन्योन्याश्रयदोष नहीं। कार्य्य-कारण का सम्बन्ध और आश्रित-आश्रय का सम्बन्ध दो अलग अलग सम्बन्ध नहीं। एक ही सम्बन्ध के दो नाम हैं। इस सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं। सम्बन्ध तो स्वयं सिद्ध है। दो वस्तुयें होंगी तो उनमें कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होगा। जिनको आप सिद्ध-साधक कहते हैं और अन्योन्याश्रय दोष बताते हैं वे वस्तुतः वाच्य वाचक हैं। हम समवाय को साधक मान कर सम्बन्ध की सिद्धि नहीं करते अपि तु स्वतः सिद्ध सम्बन्ध का 'समवाय' नाम रखते हैं।

आपका यह कहना कि वेदान्ती लोग कारण और कार्य्य में भेद नहीं मानते ठीक नहीं। यदि ऐसा है तो "जन्माद्यस्य यतः" का क्या अर्थ कीजियेगा? और ब्रह्म को जगत् का अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण कैसे मानेंगे? आप मानते कुछ हैं और कहते कुछ हैं।

(१५)

परमाणु और दिशायें

शां० स्वा०—**परमाणूनां परिच्छिन्नत्वाद् यावत्यो दिशः षडष्टौ दश वा तावद्भिरवयवः सावयवास्ते स्युः सावयवत्वाद-नित्याश्चेति नित्यत्वनिरवयवत्वाभ्युपगमो बाध्येत।**

(शां० भा० २।२।१७ पृष्ठ २३८)

परिच्छिन्न एकदेशी है अतः उसमें छः, आठ या दश दिशायें होंगी। दिशाओं के कारण अवयव मानने पड़ेंगे। सावयव वस्तु अनित्य होती है। इससे वैशेषिक का यह सिद्धान्त खण्डित हो जायगा कि परमाणु निरवयव और नित्य हैं।

हमारी आलोचना—परमाणुवाद के विरुद्ध यह सबसे प्रबल युक्ति समझी जाती है परन्तु है यह युक्त्याभास मात्र। जब तक किसी

वस्तु में अवयव न मान लो दिशाओं की कल्पना ही नहीं हो सकती। जब तक किसी वस्तु के दो सिरों में व्यवधान न माना जाय यह नहीं कहा जा सकता कि यह पूर्व है और यह पश्चिम। निरवयव वस्तु में कोई बीच का व्यवधान नहीं। वहाँ तो सब दिशायें मिलती हैं। याद रखना चाहिये कि पूर्व और पश्चिम दिशाओं का ज्ञान अपेक्षा से होता है जिसको एक अपेक्षा से पूर्व कहते हैं उसको दूसरी अपेक्षा से पश्चिम भी कह सकते हैं। कानपुर दिल्ली से पूर्व है और प्रयाग से पश्चिम। निरवयव में अपेक्षा न होने के कारण दिशाओं का भेद भी नहीं हो सकता।

यदि आप कहें कि हम दिशाओं की कल्पना कर लेते हैं तो हम आपके ही शब्दों में कहेंगे :—

अविद्यमानार्थकल्पनायां सर्वार्थसिद्धिप्रसङ्गात्।

(शां० भा० २।२।१७ पृष्ठ २३७)

अर्थात् जो है नहीं उसकी जितनी चाहो कल्पना किये जाओ। कोई सीमा तो है नहीं। ऐसी उच्छृङ्खल कल्पना पर कुछ विचार नहीं हो सकता। मन के लड्डू हैं जितने चाहें बना लीजिये।

शां० स्वा०—यांस्त्वं दिग्भेदभेदिनोऽवयवान् कल्पयसि त एव परमाणव इति चेत्। न। स्थूल सूक्ष्मतारतम्य क्रमेणापरम कारणाद् विनाशोपपत्तेः। (शां० भा० २।२।१७ पृष्ठ २३८)

अर्थः—यदि कहा जाय कि जिनको तुम दिशा-भेद करने वाले अवयव समझते हो वे ही परमाणु हैं तो यह ठीक नहीं क्योंकि स्थूल-सूक्ष्म के क्रम के कारण इनका विनाश हो सकेगा।

हमारी आलोचना—हम स्थूल-सूक्ष्म क्रम के विषय में पहले कह चुके हैं। यह कोई नई युक्ति नहीं है। पिष्ट-पेषण है। यदि आप किसी विशेष वस्तु को सावयव मानेंगे तो उसके अवयव भी मानने पड़ेंगे। यदि उन अवयवों को भी सावयव मानो तो उनके भी अवयव होंगे।

इस पर सिलसिला जारी रहेगा और अनवस्था दोष आयेगा। यदि कहीं विराम लेंगे तो वही निरवयव सिद्ध होगा। उसी को परमाणु कहेंगे। वह अनित्य नहीं होना चाहिये।

इसी प्रसंग में शं० स्वा० ने २।२।१७ के भाष्य के अन्त में घृत-काठिन्य आदि पुरानी युक्तियों को दुहरा दिया है। हम इनकी मीमांसा ऊपर कर चुके हैं।

(१६)

ईश्वर, वेद और वैशेषिक

शं० स्वा०—तदेवमसारतरतर्क संदृब्धत्वाद्, ईश्वरकारण श्रुति विरुद्धत्वात्, श्रुतिप्रवणैश्च शिष्टैर्मन्वादिभिरपरिगृहीतत्वाद्, अत्यन्तमेवानपेक्षास्मिन् परमाणु कारणवादे कार्या श्रेयोर्थिभिरिति वाक्यशेषः। (शां० भा० २।२।१७ पृष्ठ २३८)

अर्थ—इस प्रकार तर्क से विरुद्ध, ईश्वर विषयक श्रुतियों से विरुद्ध, शिष्ट लोगों से अमान्य होने के कारण परमाणु कारणवाद का तिरस्कार करना चाहिये।

हमारी आलोचना—युक्तियों की सारता तो हमारे कथन से सिद्ध हो गई। जो युक्तियाँ खण्डन में प्रस्तुत की गईं सब आभासमात्र सिद्ध हुई।

वैशेषिक वेद और ईश्वर को मानता है। इसका उल्लेख न केवल विषय के आदि में ही है। अपितु अन्तिम सूत्र में पुनः दुहराया गया है।

इस सिद्धान्त के मानने वाले कणाद आदि और उनके भाष्यकार प्रशस्तपाद आदि शिष्ट ही थे। उनको अशिष्ट कहना अनुचित है।

(१७)

वादरायण और वैशेषिक

अब एक बात रह गई। मान लो कि शांकर भाष्य ने वैशेषिक का खण्डन अनुचित किया। परन्तु यह भाष्य तो वादरायण के सूत्रों का ही

है। जो दोष शं० स्वा० पर लगाते हो वही वादरायण पर भी लगेगा। हम कहते हैं कि यह बात नहीं। वादरायण के सूत्रों के दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के १२वें से १७वें तक सब सूत्र देख जाइये न कणाद का उल्लेख है न वैशेषिक का। ये छः सूत्र निम्न हैं :—

(१२) उभयथापि न कर्मातस्तदभावः।
(१३) समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः।
(१४) नित्यमेव च भावात्।
(१५) रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्।
(१६) उभयथाच दोषात्।
(१७) अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा।

(१८)

ईश्वर निमित्त कारण है

शं० स्वा०—(१) तथा वैशेषिकादयोऽपि केचित् कथंचित् स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति वर्णयन्ति। अत उत्तरमुच्यते 'पत्युरसामञ्जस्यात्' इति। पत्युरीश्वरस्य प्रधान पुरुषयोरधिष्ठातृत्वेन जगत् कारणत्वं नोपपद्यते। कस्मात्। असामञ्जस्यात्॥ (शां० भा० २।२।३७, पृष्ठ २५६)

अर्थ—वैशेषिक आदि कुछ, किसी प्रकार, अपनी प्रक्रिया के अनुसार मानते हैं कि ईश्वर निमित्त कारण है। इसका उत्तर देते हैं कि ईश्वर को प्रधान और पुरुष के अधिष्ठाता के रूप में जगत् का कारण मानना ठीक नहीं। क्यों? इसमें असामञ्जस्य है।

(२) किं पुनऽसामञ्जस्यम्।

वह असामञ्जस्य क्या है?

(३) हीन मध्यमोत्तमभावेन हि प्राणि भेदान् विदधत ईश्वरस्य रागद्वेषादि दोष प्रसक्तेरस्मदादिवदनीश्वरत्वं प्रसज्येत। (पृष्ठ २५६)

अर्थ—ईश्वर ने किसी को हीन, किसी को मध्यम और किसी प्राणि को उत्तम बनाया। इस प्रकार ईश्वर में हमारे समान राग द्वेष आ गया। फिर वह ईश्वर कैसा ?

(४) प्राणिकर्मापेक्षितत्वाददोष इति चेत्। न। कर्मेश्वरयोः प्रवर्त्यप्रवर्तयितृत्वे इतरेतराश्रय दोष प्रसङ्गात्। (पृष्ठ २५६)

अर्थ—यदि कहो कि यह भेद प्राणियों के कर्मों के कारण है तो कर्म और ईश्वर एक दूसरे में प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले होंगे। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष लगेगा।

(५) नानादित्वादिति चेत्। न। वर्तमान कालोऽवतरेतराश्रय दोषाविशेषादन्धपरम्परान्यायापत्तेः।

(पृष्ठ २५७)

अर्थ—यदि कहो कि कर्म अनादि हैं तो भी बात नहीं बनती। जैसे वर्तमान काल में उसी प्रकार भूतकालों में भी एक दूसरे के आश्रित होने से अन्ध परम्परा चल पड़ेगी।

(६) अपिच 'प्रवर्तनालक्षणादोषाः'। (न्याय सू० १।१।१८) इति न्यायवित्समयः। नहि कश्चिददोषप्रयुक्तः स्वार्थे परार्थे वा प्रवर्तमानो दृश्यते। स्वार्थ प्रयुक्त एव च सर्वोजनः परार्थेऽपि प्रवर्तत इत्येवमप्यसामञ्जस्यं, स्वार्थवत्त्वादीश्वरस्यानीश्वरत्व प्रसङ्गात्। (पृष्ठ २५७)

अर्थ—न्याय का सूत्र है कि प्रवृत्ति से दोष उत्पन्न होते हैं। कोई चाहे स्वार्थ में प्रवृत्त हो चाहे परार्थ में, उसे दोष लगता ही है। जो परार्थ का काम करते हैं। उनमें भी स्वार्थ होता ही है। इस लिये ईश्वर में दोष लगता है।

(७) पुरुषविशेषत्वाभ्युपगमाच्चेश्वरस्य पुरुषस्य चौदासीन्याभ्युपगमादसामञ्जस्यम्। (शां० भा० २।२।३७ पृष्ठ २५६-५७)

अर्थ—ईश्वर को पुरुष विशेष मानने से पुरुष के समान ईश्वर में भी उदासीनता का प्रसंग होगा।

हमारी आलोचना – पहले तो सूत्र के अर्थ पर आपत्ति है। सूत्र में 'न' नहीं है। फिर भी बहुत दूर से उसकी अनुवृत्ति ली गई है। इसमें हम को संदेह है। 'पत्युः न, असामञ्जस्यात्' ऐसा कैसे हो गया ?

दूसरे, शंकर स्वामी ने इस सूत्र को पाशुपत्य सम्प्रदाय के खण्डन में लगाकर फिर अनावश्यकतया ही वैशेषिक के खण्डन में लगा दिया। और पांच आक्षेप किये जिन पर हमने ३, ४, ५, ६, ७ संख्या डाली है। इन आपत्तियों के विरुद्ध शं० स्वामी स्वयं ही लिख चुके हैं। देखिये :—

(१) यदि हि निरपेक्षः केवल ईश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते स्यातामेतौ दोषौ वैषम्यं निर्घृण्यं च। न तु निरपेक्षस्य निर्मातृत्वमस्ति। सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते। किमपेक्षत इति चेत्। धर्माधर्मावपेक्षत इति वदामः। अतः सृज्यमानप्राणि धर्माधर्मापेक्षा विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराधः। ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः। (शां० भा० २।१।३४, पृष्ठ २१७)

अर्थ—यदि ईश्वर निरपेक्ष भाव से स्वयं अकेला ही सृष्टि बनाता उस पर पक्षपात या निर्दयता का दोष लगता। कि एक को हीन बनाया और दूसरे को अच्छा। परन्तु ईश्वर तो धर्म-अधर्म की अपेक्षा से सृष्टि रचता है। जो जैसा करता है उसको वैसा ही फल मिलता है। इसमें ईश्वर का क्या अपराध है ? वह तो बादल के समान एक सा बरसता है। गन्ना गन्ने को उत्पन्न करता है और मिर्च-मिर्च को।

(२) प्राक् सृष्टेरविभागावधारणान्नास्ति कर्म यदपेक्ष्य विषमा सृष्टिः स्यात्।.................................नैष दोषः। अनादित्वात् संसारस्य, भवेदेष दोषो यद्यादिमान संसारः स्यात्। अनादौ तु संसारे बीजाङ्कुरवद्धेतु मद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते। (शां० भा० २।१।३५ पृष्ठ २१८)

अर्थ—यदि कहो कि सृष्टि के पहले तो कर्म था ही नहीं जिसकी अपेक्षा से सृष्टि विषम होती।..................तो यह दोष नहीं। क्योंकि संसार प्रवाह रूप से अनादि है। यदि संसार आदि वाला होता तो आक्षेप ठीक था। अनादि संसार में तो बीज, अङ्कुर के समान कर्म और विषमता की शृङ्खला बनी रहती है और इन की प्रवृत्ति में विरोध नहीं आता।

दूसरे अध्याय के पहले पाद के ३४ और ३५वें सूत्र में इन आक्षेपों का ऐसा युक्ति-युक्त समाधान करके दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के ३७वें सूत्र में इन्हीं आक्षेपों को फिर प्राबल्य के साथ दुहराना घोर परस्पर-विरोध है। परन्तु शं० स्वा० की यह विशेषता है कि जिस युक्ति से वह एक विपक्षी के आक्रमण से अपने को बचाते हैं उसी युक्ति से अन्यत्र दूसरे विपक्षी का प्रध्वंस भी कर देते हैं। वहाँ यह नहीं सोचते कि जिस युक्ति को अपने पक्ष में लगाया उसी को विपक्ष में कैसे लगाया जाय। विपक्षी को मारना चाहिये किसी शस्त्र से क्यों न सही।

यहाँ एक बात रह जाती है। शं० स्वा० कहते हैं कि लोग परार्थ भी स्वार्थवश करते हैं। यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं। बहुत से लोग भी बहुत सा उपकार बिना किसी स्वार्थ के करते हैं, मातायें तो बच्चे के पालन में कुछ भी स्वार्थ नहीं रखतीं। कहा जा सकता है कि वह इसलिये बच्चों का पालन करती हैं कि वृद्धावस्था में उनसे सहायता मिलेगी। परन्तु माताओं का परार्थ इस विचार से नहीं होता। मुर्गी को तो यह भी आशा नहीं होती फिर भी वह अपने बच्चे का निःस्वार्थ भाव से पालन करती है। परन्तु यदि प्राणियों में स्वार्थ हो भी तो भी क्या ईश्वर में भी स्वार्थ मानना ही चाहिये?

यदि ईश्वर कर्म की अपेक्षा से फल देता है तो इसमें अन्योन्याश्रय भाव कैसा? सृष्टि की रचना तो ईश्वर के अधीन रही। केवल कर्म के अनुसार रही। इसको आप भी मानते हैं इसमें विकल्प सम्भव ही नहीं।

आपने यह बात तो अनोखी ही कही कि ईश्वर भी पुरुष है और जीव भी पुरुष है अतः जीव के अवगुण ईश्वर में भी आ जायंगे। यह तो ऐसी ही बात हुई कि सिंह भी प्राणी है और बकरी भी प्राणी। इसलिए सिंह की सी क्रूरता बकरी में भी होनी चाहिये। केवल पुरुष कहलाने से ही ब्रह्म और जीव एक नहीं हो जाते। भेद भी तो है।

शां० स्वा०—नहि प्रधान पुरुषव्यतिरिक्त ईश्वरोऽन्तरेण संबन्धं प्रधानपुरुषयोरीशिता। न तावत् संयोगलक्षणः संबन्धः संभवति, प्रधान पुरुषेश्वराणां सर्वगतत्वान्निरवयत्वाच्च। नापि समवायलक्षणः संबन्धः आश्रयाश्रयि भावानिरूपणात्। नाप्यन्यः कश्चित् कार्यगम्यः संबन्धः, शक्यते कल्पयितुं कार्य्यकारणभावस्यैवाद्याप्यसिद्धत्वात्॥ (शां० भा० २।२।३८ पृष्ठ २५७)

अर्थ—प्रधान और पुरुष से अतिरिक्त ईश्वर को माना जाय तो ईश्वर अधिपति नहीं हो सकता। इनमें संयोग सम्बन्ध तो हो नहीं सकता। क्योंकि ईश्वर भी सर्वव्यापक और निरवयव, प्रधान भी सर्वव्यापक और निरवयव, पुरुष भी सर्वव्यापक और निरवयव। समवाय सम्बन्ध भी नहीं। क्योंकि आश्रय-आश्रयि सम्बन्ध का निरूपण नहीं हुआ और कोई सम्बन्ध है नहीं। कार्य्य-कारण सम्बन्ध सिद्ध नहीं।

हमारी आलोचना—यद्यपि प्रधान और जीव सर्वव्यापक नहीं। तथापि ईश्वर सर्वव्यापक है अतः संयोग सम्बन्ध नहीं। परन्तु आश्रय, आश्रित या आधार-आधेय सम्बन्ध होने से इसको समवाय सम्बन्ध कह सकते हैं। यदि समवाय सम्बन्ध को केवल कार्य्य कारण अयुत-सिद्ध पदार्थों तक सीमित रक्खो तो व्याप्य व्यापक सम्बन्ध भी है। इससे ईश्वर के ईशत्व में तो कोई विघ्न नहीं पड़ता।

शां० स्वा०—ब्रह्मवादिनः कथमितिचेत्। न तस्य तादात्म्यलक्षण संबन्धोपपत्तेः। (शां० भा० २।२।३८ पृष्ठ २५७)

अच्छा तो ब्रह्मवादी क्या सम्बन्ध मानते हैं? तादात्म्य सम्बन्ध।

हमारी आलोचना—तादात्म्य सम्बन्ध कैसे बनेगा? यों तो कोई वस्तु जड़ ही न रहेगी और प्रत्येक जीव ईश्वर के समान सर्वज्ञ होगा। याद रखना चाहिये कि सब सम्बन्ध दो या अधिक वस्तुओं के बीच में होते हैं। एक वस्तु में कोई संबन्ध हो ही नहीं सकता। शंकर स्वामी स्वयं कहते हैं "द्व्यायत्तत्वात् संबन्धस्य" (शां० भा० २।२।१७, पृष्ठ २३७, पंक्ति ३) 'संबन्ध' शब्द स्वयं बताता है (बन्ध-बन्धने धातु)। दो खूँटे एक रस्सी से बंध सकते हैं एक खूंटा नहीं। अतः 'तादात्म्य' सम्बन्ध वस्तुतः कोई संबन्ध है ही नहीं। यह तो उपचार मात्र की भाषा है। संबन्ध कई प्रकार के होते हैं। व्याप्य व्यापक संबन्ध, आधाराधेय संबन्ध, गुण गुणी संबन्ध, कार्य्य-कारण-सम्बन्ध, अवयव-अवयवी संबन्ध। इनके या तो अलग अलग नाम रखिये। या यदि इनको दो कोटियों में ही विभक्त करना चाहते हैं तो व्याप्य-व्यापक के लिये 'समवाय' सम्बन्ध उपयुक्त है। परन्तु एक कोटि के अन्तर्गत यदि कई अन्य प्रकार के सम्बन्ध आते हैं तो उनमें परस्पर पूर्ण विविक्ति होनी चाहिये। अन्यथा विचार में अविवेक आ जायगा। अर्थात् यदि व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध को समवाय सम्बन्ध कहा जाय तो इससे कार्य्य-कारण का सम्बन्ध न समझ लिया जाय। यदि समवाय को केवल कार्य कारण या गुण गुणी तक सीमित रखना चाहते हैं तो व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध को अलग तीसरा सम्बन्ध कहिये क्योंकि यह आपके सीमित समवाय में नहीं आता न संयोग में। दार्शनिक विचारों में यदि यह विवेक न रक्खा जाय तो आगे चल कर गड़बड़ हो जाती है। और ठीक मीमांसा नहीं हो सकती।

छठा अध्याय

जीव और ब्रह्म का स्पष्ट भेद

श्री शंकराचार्य जी जीव और ब्रह्म में वास्तविक भेद नहीं मानते। केवल उपाधि भेद मानते हैं। और जीव के उपासना आदि जितने व्यवहार हैं उनको भी उपाधि कृत ही कहते हैं। उनके इस सिद्धान्त की पुष्टि में हम उनके भाष्य से कुछ उदाहरण आलोचना सहित देते हैं :—

(१)

द्वि रूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधि विशिष्टं, तद् विपरीतं च सर्वोपाधि विवर्जितम्।

(शां० भा० १।१।१२ पृष्ठ ३४)

ब्रह्म के दो रूप हैं एक तो नाम रूप विकार भेद की उपाधि वाला, दूसरा इसके पिवरीत सब प्रकार की उपाधियों से छूटा हुआ।

(२)

तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षणः सर्वो व्यवहारः। तत्र कानिचिद् ब्रह्मण उपासनान्यभ्युदयार्थानि, कानिचित् क्रम-मुक्त्यर्थानि, कानि चित् कर्म समृद्ध्यर्थानि। तेषां गुणविशेषोपाधिभेदेन भेदः। (शां० भा० १।१।१२ पृष्ठ ३५)

वहाँ अविद्या की अवस्था में ब्रह्म के उपास्य और उपासक आदि लक्षण वाले सब व्यवहार होते हैं। ब्रह्म की कुछ उपासनायें अभ्युदय के लिये हैं, कुछ मुक्ति के क्रम के लिये, कुछ कर्म की समृद्धि के लिये। इनमें उपाधि के भेद से भेद होता है।

(३)

पर एवात्मा देहेन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिभिः परिच्छिद्यमानो बालैः शारीर इत्युपचर्य्यते । यथा घटकरकाद्युपाधिवशादपरिच्छिन्नमपि नभः परिच्छिन्नवदवभासते, तद्वत् ॥

(शां० भा० १।२।६ पृष्ठ ६७)

परमात्मा ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि की उपाधियों से परिछिन्न होकर मूर्खों के लिये शारीर अर्थात् जीव कहलाता है। जैसे कमण्डलु आदि से परिच्छिन्न आकाश परिच्छिन्न दिखाई पड़ता है।

(४)

अविद्या प्रत्युपस्थापित कार्यकरणोपाधि निमित्तोऽयं शारीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिकः। एको हि प्रत्यगात्मा भवति, न द्वौ प्रत्यगात्मानौ संभवतः। एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृतो यथा घटाकाशो मठाकाश इति। ततश्च ज्ञातृज्ञेयादि भेद श्रुतयः प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि संसारानुभवो विधिप्रतिषेधशास्त्रं चेति सर्वमेतदुपपद्यते। तथा च श्रुतिः 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति' इत्यविद्याविषये सर्वं व्यवहारं दर्शयति। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवा भूत्तत्केन कं पश्येत्' इति विद्याविषये सर्वं व्यवहारं वारयति' (शां० भा० १।२।२० पृष्ठ ८१)

जीव और ब्रह्म का भेद अविद्या के कारण हैं। पारमार्थिक नहीं। आत्मा एक ही है दो नहीं हो सकते। जैसे आकाश एक है। परन्तु घटाकाश मठाकाश व्यवहार में अलग अलग हैं। इसी प्रकार उपाधि के भेद से जीव भी अलग अलग हैं। ज्ञाता और ज्ञेय का भेद, प्रत्यक्षादि प्रमाण आदि सब व्यवहार दशा में हैं। विद्या विषय में यह सब व्यवहार नहीं रहते।

(५)

एवं मिथ्या ज्ञानकृत एव जीवपरमेश्वरयोर्भेदः, न वस्तुकृतः। व्योमवदसङ्गत्वाविशेषात्। (शां० भा० १।३।१६ पृष्ठ ११४)

इस प्रकार जीव परमेश्वर का भेद मिथ्याज्ञान के कारण है वास्तविक नहीं। जैसे आकाश और उसके टुकड़ों का भेद।

(६)

यावदेव हि स्थाणाविव पुरुष बुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन् कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते तावज्जीवस्य जीवत्वम्॥ (शां० भा० १।३।१९ पृष्ठ ११२)

जैसे ठूठ को भूल से मनुष्य समझ लेते हैं इसी प्रकार जब तक द्वैत लक्षण वाली अविद्या मिट कर यह ज्ञान नहीं हो जाता कि मैं कूटस्थ ब्रह्म हूँ उसी समय तक जीव का जीवत्व रहता है।

(७)

अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्तेऽस्मदीयाश्च[1] केचित्। तेषां सर्वेषामात्मैकत्व सम्यग्दर्शन प्रति पक्षभूतानां प्रति बोधायेदं शारीरकमारब्धम्। एक एव परमेश्वरः[2] कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते[3]। नान्याविज्ञानधातुरस्तीति।

(शां० भा० १।३।१९ पृष्ठ ११५)

कुछ मतावलम्बी जीव के रूप को पारमार्थिक (वास्तविक) ही मानते हैं। हम में से भी कुछ लोग इसी मत के हैं। हमने शारीरक का आरम्भ उन्हीं के भ्रम को दूर करने के लिये किया है जिससे स्पष्ट

---

(१) यहाँ 'अस्मदीयाश्च' से प्रकट होता है कि श्री शंकराचार्य जी के समय में भी कुछ वेदान्ती जीव को पारमार्थिक ही मानते थे। उपाधिकृत नहीं।

(२) परमेश्वर और ब्रह्म पर्याय हैं। भिन्न नहीं।

(३) स्पष्ट है कि शांकर मत में ब्रह्म ही मायावी बनता है। क्यों ?? क्या कूठस्थ नित्य ब्रह्म भी स्वयं मायावी बन सकता है ?

हो जाय कि आत्मा एक ही है। एक ही कूटस्थ नित्य परमेश्वर जो ज्ञान से जाना जा सकता है, अविद्या या माया के द्वारा जादूगर की भाति अनेक प्रकार का दिखाई पड़ता है।

यह हुआ शांकर-मत का निरूपण। अब हम यह दिखलाते हैं कि बादरायण के सूत्रों में जीव और ब्रह्म का स्पष्ट पारमार्थिक भेद है और श्री शंकराचार्य जी अपने भाष्य में इस भेद को मिटाने में सफल नहीं हुये।

(१)

नेतरोऽनुपपत्तेः। (१।१।१६)

इतश्चानन्दमयः पर एवात्मा। नेतरः। इतर ईश्वरादन्यः संसारी जीव इत्यर्थः। न जीव आनन्दमय शब्देनाभिधीयते। कस्मात्। अनुपपत्तेः। (शां० भा० पृष्ठ ३८)

'आनन्दमय' परमात्मा ही है। जीव नहीं। 'इतर' का अर्थ है ईश्वर से भिन्न संसारी या जीव। जीव के लिये आनन्दमय शब्द नहीं लाते। क्यों ? उपपत्ति नहीं बैठती।

यहाँ स्पष्ट कहा है कि जीव ईश्वर से भिन्न है। यहाँ सूत्रकार ने उपाधि आदि का वर्णन नहीं किया।

(२)

भेदव्यपदेशाच्च। (१।१।१७)

इतश्च नानन्दमयः संसारी। यस्मादानन्दमयाधिकारे— 'रसो वै सः'। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति (तै० २।७) इति जीवानन्दमयौ भेदेन व्यपदिशति। (शां० भा० पृष्ठ ३६)

यहाँ भी आनन्दमय जीव नहीं। क्योंकि आनन्दमय अधिकार से। उपनिषद् (तै० २।७) में कहा है कि ब्रह्म रस है यह रस को पाकर ही आनन्दी होता है" यहाँ स्पष्टतया जीव और आनन्दमय में भेद बताया है।'

शंकर स्वामी इसी सूत्र में आगे चल कर मायावी का दृष्टान्त देते हैं। वह सूत्रकार के विरुद्ध और असंगत है।

(३)

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति। (१।१।१६)

इतश्च न प्रधाने जीवे वानन्दमयशब्दः। यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्मनि प्रतिबुद्धस्यास्य जीवस्य तद्योगं शास्ति। तदात्मना योगस्तद्योगः। तद्भावापत्तिः। मुक्तिरित्यर्थः। (शां० भा० पृष्ठ ३६)

"यहाँ भी आनन्दमय न प्रधान के लिये है न जीव के लिये। क्योंकि कहा है कि ज्ञानी होने पर जीव का ब्रह्म से योग होता है। आत्मा से योग का अर्थ है तद् योग अर्थात् उसी की भावना करना। अर्थात् मुक्तिः।"

यहाँ सूत्रकार के शब्द 'तद्योग' से भेद स्पष्ट है। परन्तु शंकर स्वामी ने 'तद्भावापत्तिः' ऐसा अर्थ किया है। यह अशुद्ध है। यदि यही तात्पर्य होता तो सूत्रकार इतने बलपूर्वक कई सूत्रों में यह न कहते कि आनन्दमय शब्द जीव के लिए नहीं आ सकता। 'तद् योग' का अर्थ तो केवल इतना है कि ज्ञान होने पर जीव अपने को ब्रह्म का सम्बन्धी समझता है। योग तभी होगा जब दो पदार्थ भिन्न भिन्न हों। परमार्थतः एक ही वस्तु का 'तद् योग' कैसा ?

(४)

न ह्यक्षरसंनिवेशमात्राया गायत्र्याः सर्वात्मकत्वं संभवति। तस्माद् यद् गायत्र्याख्य विकारेऽनुगतं जगत् कारणं ब्रह्म तदिह सर्वमित्युच्यते। यथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा० ३।१४।१) इति।
(शां० भा० १।१।२५ पृष्ठ ५४)

यहाँ कहा था कि "गायत्री वा इदं सर्वं"। यह सब गायत्री है। इस पर प्रश्न उठाया गया कि गायत्री तो कई अक्षरों का संघात है। इसमें "सर्वात्मकत्व" कैसा ? इस का उत्तर यह है कि विकार युक्त

गायत्री के लिये यह 'सर्व' नहीं प्रयुक्त हुआ किन्तु जगत् के कारण ब्रह्म के लिये। जैसे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' में। यहाँ शंकर स्वामी स्वीकार करते हैं कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' में 'सर्व' शब्द जगत् कारण ब्रह्म के लिये है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह वाक्य बहुधा अद्वैत परक लिया जाता है। परन्तु यह ठीक नहीं। शंकर स्वामी को भी यह स्वीकार करना ही पड़ा। इसका आगे का वाक्य 'तज्जलान्' भी यही सिद्ध करता है।

(५)

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः (१।२।३)

पूर्वेण सूत्रेण ब्रह्मणि विवक्षितानां गुणानामुपपत्तिरुक्ता। अनेन तु शारीरे तेषामनुपपत्तिरुच्यते। तु शब्दोऽवधारणार्थः। ब्रह्मैवोक्तेन न्यायेन मनो मयत्वादिगुणं न तु शारीरो जीवो मनोमयत्वादिगुणः ।..नन्वीश्वरोऽपि शरीरे भवति। सत्यम्। शरीरे भवति न तु शरीर एव भवति। 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायनन्तरिक्षात्', 'आकाशवत् सर्वगतश्चनित्यः' इति च व्यापित्व श्रवणात्। जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच् छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात्। (शां० भा० पृष्ठ ६५-६६)

"पहले सूत्र में ब्रह्म में विवक्षित गुणों की उपपत्ति बताई। इस सूत्र में बताते हैं कि वे गुण जीव में नहीं पाये जाते। उक्त न्याय से मनोमयत्वादि गुण ब्रह्म में ही हो सकते हैं। जीव में नहीं। यदि कोई कहे कि शरीर में तो ब्रह्म भी विद्यमान है, यह ठीक है, परन्तु ब्रह्म शरीर में है 'शरीर में ही है' ऐसा नहीं। "वह पृथ्वी से भी बड़ा है अन्तरिक्ष से भी बड़ा है" "आकाश वत् सर्वत्र व्यापक है नित्य है।" जीव केवल शरीर में ही है। शरीर उसके भोग का अधिष्ठान है। उसकी वृत्तियाँ अन्यत्र नहीं हैं।"

यहाँ तो स्पष्टतया जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध हो गया। शरीर में जीव भी है और ब्रह्म भी परन्तु शरीर जीव के भोग का अधिष्ठान है

ब्रह्म के भोग का नहीं। यदि ब्रह्म ही अविद्यावश जीव होता तो ऊपर का कथन न बन सकता। सूत्र में भी ऐसा नहीं है।

(६)

कर्मकर्तृ व्यपदेशाच्च। (१।२।४)

तथोपास्योपासकभावोऽपि भेदाधिष्ठान एव। तस्मादपि न शारीरो मनोमयत्वादि विशिष्टः। (शां० भा० पृष्ठ ६६)

तथा उपास्य उपासक भाव तो भेद के द्वारा ही हो सकता है। इसलिये भी मनोमयत्वादि गुण से यहाँ जीव का अभिप्राय नहीं।

भेद स्पष्ट है। उपाधि का उल्लेख नहीं। यदि ब्रह्म ही उपाधि के कारण जीव हो गया होता तो भी उपास्य उपासक का प्रश्न न उठता।

(७)

शब्दविशेषात् (१।२।५)

..................."एवमयमन्तरात्मन पुरुषो हिरण्मयः" (शत० ब्रा० १०।६।३।२) इति। शारीरस्यात्मनो यः शब्दोऽभिधायकः सप्तम्यन्तोऽन्तरात्मन्निति तस्माद्विशिष्टोऽन्यः प्रथमान्तः पुरुषशब्दो मनो मयत्वादि विशिष्टस्यात्मनोऽभिधायकः। तस्मात् तयोर्भेदोऽधिगम्यते। (शां० भा० पृष्ठ ६६)

"......शतपथ ब्राह्मण में आया है कि यह अन्तरात्मा में ज्योतिर्मय पुरुष है। यह सप्तमी विभक्ति में जो शब्द है यह जीव के लिये है। और प्रथमा विभक्ति में जो शब्द है वह ब्रह्म के लिये है। इसलिये इन दोनों का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है।"

शब्द स्पष्ट हैं। टिप्पणी की आवश्यकता नहीं।

(८)

स्मृतेश्च (१।२।६)

स्मृतिश्च शारीरपरमात्मनोर्भेदं दर्शयति—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति............(गीता १८।६१)"

(शां० भा० पृष्ठ ६७)

स्मृति भी जीव और ब्रह्म का भेद बताती हैं जैसा कि गीता के श्लोक में है। "ईश्वर सब भूतों के हृदय में है···।"

इस सूत्र के भाष्य में शां० स्वा० ने आगे चल कर कहा है कि यह भेद अविद्या के कारण है। मूर्खों की यह धारणा है। परन्तु सूत्र में तो ऐसा नहीं है। न गीता में। गीता में मूर्खता की बात क्यों लिखी जाती ?

(६)

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्। (१।२।८)

न तावत् सर्वप्राणिहृदयसंबन्धाच्छारीरवद् ब्रह्मणः संभोगप्रसङ्गः, वैशेष्यात्। विशेषोहि भवति शारीरपरमेश्वरयोः। एकः कर्त्ता भोक्ता धर्माधर्मसाधनः सुखदुःखादिमाँश्च। एकस्तद्विपरीतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणः। एतस्मादनयोर्विशेषादेकस्य भोगो नेतरस्य, यदि च संनिधानमात्रेण वस्तुशक्तिमनाश्रित्य कार्यसंबन्धोऽभ्युपगम्येत, आकाशादीनामपि दाहादिप्रसङ्गः।

(शां० भा० पृष्ठ ६८)

"यद्यपि ब्रह्म सब के हृदय में विद्यमान है तथापि उसे दुःख सुख संभोग नहीं लगता। क्यों ? जीव और ब्रह्म में विशेषता (भेद) है। जीव कर्त्ता, भोक्ता, धर्म अधर्म का साधन और सुखी या दुखी है। ब्रह्म पाप आदि से मुक्त है। इसलिये भोग जीव के लिये है ब्रह्म के लिये नहीं। यदि कहो कि व्यापक होने से ब्रह्म में भी भोग का प्रश्न होगा तो कहते हैं कि नहीं। आकाश व्यापक होता है। परन्तु वस्तु के जलने पर आकाश नहीं जलता।"

आगे चल कर शां० स्वा० ने इसी सूत्र के भाष्य में कहा है कि जीव का संभोग मिथ्याज्ञान के कारण है। यह उन्होंने अपने मत को स्थापित करने के लिये कहा है। सूत्र में ऐसा नहीं है। जहाँ तक शां० स्वा० ने सूत्र का अर्थ किया है जीव-ब्रह्म का भेद स्पष्ट है।

(१०)

विशेषणाच्च । (१।२।१२)

विशेषणं च विज्ञानात्मपरमात्मनोरेव भवति । 'आत्मानं
नं विद्धि शरीरं रथमेव तु' (का० १।३।३) इत्यादिना परेण
न रथिरथादिरूपककल्पनया विज्ञानात्मानं रथिनं संसारमोक्ष-
न्तारं कल्पयति । 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं
' (का० १।३।९) इति च परमात्मानं गन्तव्यम् । तथा 'तं
गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधि-
देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (का० १।२।१२) इति
मन्त्रेऽपि ग्रंथे मन्तृ-मन्तव्यत्वेनैतावेव विशेषितौ । प्रकरणं चेदं
त्मनः । 'ब्रह्मविदो वदन्ति' इति च वक्तृविशेषोपादानं
त्मपरिग्रहे घटते । तस्मादिह जीवपरमात्मानावुच्येयाताम् ।
एव न्यायः 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मुण्ड० ३।१।१)
मादिष्वपि । तत्रापि ह्यध्यात्माधिकारान्न प्राकृतौ सुपर्णौ-
ते । 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदनलिङ्गाद् विज्ञानात्मा
चेतनत्वाभ्यां परमात्मा ।
तरे च मन्त्रे तावेव द्रष्टृद्रष्टव्य भावेन विशिनष्टि—"समाने
रुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्य-
शमस्य महिमानमिति वीतशोकः (मुण्ड० ३।१।२) इति ।

इस संदर्भ पर सूक्ष्म दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि यद्यपि
यण का मौलिक सूत्र 'विशेषणाच्च' द्वैत को सिद्ध करने के लिये
था, तथापि शं० स्वा० ने सुन्दर-युक्ति एवं प्रमाणों की शृङ्खला
सोने पर सुहागे का काम कर दिया। अब द्वैत-सिद्धि में कोई
का नहीं रही। इसके पश्चात् यदि शं० स्वा० द्वैत के खण्डन में
कथन भी करते हैं तो उनका मूल्य कुछ नहीं रहता। या यों कहना
पे कि सांप तो निकल गया लकीर पीटते रहो। हम यहाँ ऊपर

के संदर्भ का भाषानुवाद मात्र देते हैं। पाठक गण स्वयं विचार लें कि द्वैत की पुष्टि कितने प्रबल प्रमाणों द्वारा की गई है। और यदि पीछे से इसके विरुद्ध कुछ कहा भी गया है तो वह कितना निर्बल तथा निर्मूल है।

"भेद तो विज्ञानात्मा (जीव) और परमात्मा में ही होता है। कठोपनिषद् में आत्मा को रथी और शरीर को रथ बताया है। इस रूपक से विदित होता है कि यहाँ तात्पर्य "विज्ञानात्मा" अर्थात् जीव से है जो संसार रूपी यात्रा मोक्षप्राप्ति के लिये कर रहा है। उसी उपनिषद् में कहा है कि "वह मार्ग के पार जाकर विष्णु के परमपद को पाता है" यहाँ परमात्मा से तात्पर्य है। कठोपनिषत् में इससे पहले कहा गया था कि धीर पुरुष अध्यात्म योग द्वारा हृदय के भीतर छिपे हुये देव को जान कर हर्ष और शोक के द्वन्द्वों से छूट जाता है। यहाँ जीव और ब्रह्म का स्पष्ट भेद है। यहाँ प्रकरण परमात्मा का है। क्योंकि कहा है कि "ब्रह्म के जानने वाले कहते हैं।" यहाँ स्पष्ट है कि कहने का विषय परमात्मा ही है। इसलिये यहाँ जीव और परमात्मा दोनों ही समझने चाहिये। मुण्डक उपनिषद् के "द्वासुपर्णा" आदि मन्त्र में भी यही बात है। वहाँ सचमुच के पक्षियों का वर्णन नहीं हैं। "एक उनमें से पिप्पली को खाता है।" इससे विज्ञानात्मा (अर्थात् जीव) अभिप्रेत है।" "दूसरा न खाता हुआ देखभाल करता है" यहाँ 'न खाना' और 'चेतनत्व' दोनों से परमात्मा का अभिप्राय है। मुण्डक का एक और मन्त्र है 'एक ही वृक्ष में एक पुरुष परवश होता हुआ शोक करता है। परन्तु जब उसी वृक्ष पर दूसरे स्वामी को देखता है तो शोक छूट जाता है' यहाँ दोनों का भेद स्पष्ट है।'

ऊपर शंकर स्वामी ने दो शब्द प्रयुक्त किये हैं एक विज्ञानात्मा दूसरा परमात्मा। विज्ञानात्मा जीव के लिये हैं। एक स्थान पर स्पष्ट भी लिख दिया है "जीवपरमात्मानौ।" यहाँ 'विज्ञानात्मा' में 'विज्ञान' पद ज्ञान का बोधक है अविद्या या भ्रम या अध्यास का नहीं। अविद्या

असित जीव अपने ईश को नहीं देख सकता। विज्ञानात्मा ही देख सकता है। उपनिषद् के जो मन्त्र यहाँ दिये गये हैं उनमें कहीं यह नहीं लिखा कि अविद्यावश अपने को ब्रह्म से इतर समझता है। इत्यादि।

(११)

भेदव्यपदेशात्। (१।३।५)

भेदव्यपदेशश्चेह भवति—'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' इति ज्ञेयज्ञातृभावेन। (शां० भा० पृष्ठ ६६)

भेद का उल्लेख है। "उसी एक आत्मा को जानो"। यहाँ ज्ञेय और ज्ञाता (जानने योग्य और जानने वाला) यह दो अलग-अलग बताये हैं।

यहाँ द्वैत स्पष्ट है।

(१२)

स्थित्यदनाभ्यां च (१।३।७)

ताभ्यां च स्थित्यदनाभ्यामीश्वरक्षेत्रज्ञौ तत्र गृह्येते।

(शां० भा० पृ० ६७)

अर्थात् 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया' (मु० ३।१।१) वाली ऋचा में एक को भोक्ता बताया है और दूसरे को द्रष्टा। इससे ईश्वर और जीव का भेद विस्पष्ट है।

नोट—श्री शं० स्वामी ने ऐसा कहा है:—'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति कर्मफलाशनं, 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'
वस्थानं च। (शां० भा० पृष्ठ ६७)

यहाँ 'औदासीन्येन' ठीक नहीं है। 'अभिचाकशीति' का उपसर्ग 'अभि' प्रकट करता है कि यद्यपि ईश्वर चखता नहीं परन्तु वह परोपकार भाव से निष्काम होता हुआ देख भाल रखता है (Supervises)। वह कर्मफल के बन्धन में नहीं है परन्तु 'वशी' है। 'द्रष्टा' का अर्थ केवल 'उदासीनता से देखना' निरर्थक है। फलदाता ईश्वर ही है। श्री शं०

स्वामी ब्रह्म को कर्त्ता नहीं मानते। इस लिये उन्होंने 'औदासीन्येन' अपनी ओर से लगा दिया।

(१३)

प्रलीयमानमपि चेदं जगच्छक्त्यवशेषमेव प्रलीयते। शक्तिमूलमेव च प्रभवति। इतरथाकस्मिकत्वप्रसंगात्।............समान नामरूपत्वाच्चावृत्तावपि महासर्ग महाप्रलय लक्षणायां जगतोऽभ्युपगम्यमानायां न कश्चिच्छब्द प्रामाण्यादि विरोधः समान नामरूपतां च श्रुतिस्मृती दर्शयतः। (शां० भा० १।३।३० पृ० १३०)

जब जगत् का प्रलय होता है तो उतना ही होता है कि शक्ति बच रहे और उसी शक्ति से फिर जगत् बनता है। अन्यथा सृष्टि आकस्मिक (बिना कारण के) हो जाय......................महासृष्टि और महाप्रलय में नाम और रूप समान ही होते हैं। ऐसा मानने में श्रुति और स्मृति का कुछ विरोध नहीं............

यदि केवल ब्रह्म ही सत्य है और जगत् अध्यास मात्र तथा मिथ्या है तो प्रलय, महा प्रलय तथा सृष्टि के बार-बार आने का क्या तात्पर्य है? मायावाद में प्रलय का क्या स्थान है और कैसे?

(१४)

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन। सुषुप्तावुत्क्रान्तौ च शारीराद् भेदेन परमेश्वरस्य व्यपदेशात्। सुषुप्तौ तावत् 'अयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृ० ४।३।२१) इति शारीराद् भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्र पुरुषः शारीरः स्यात् तस्य वेदितृत्वात्। बाह्याभ्यन्तरवेदनप्रसङ्गे सति तत् प्रतिषेधसंभवात्। प्राज्ञः परमेश्वरः, सर्वज्ञत्वलक्षणया प्रज्ञया नित्यमवियोगात्। तथोत्क्रान्तावपि 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति' (बृ० ४।३।३५) इति जीवाद् भेदेन परमेश्वरं व्यपदिशति। तत्रापि शारीरो जीवः स्याच्छरीरस्वामित्वात्। प्राज्ञस्तु एव परमेश्वरः।

(शां० भा० १।३।४२ पृ० १४३)

"सुषुप्ति और उत्क्रान्ति (मृत्यु) दोनों में जीव और परमेश्वर का भेद बताया है। सुषुप्ति का उदारहरण—"यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा से मिल कर न बाहर का कुछ देखता है न भीतर का।" (बृ० ४।३।२१) यहां जीव और परमेश्वर का भेद बताया गया है। यहाँ पुरुष का अर्थ है जीव। क्योंकि जानने की क्रिया 'अर्थात् वह न बाहर की बात जानता है न भीतर की,' जीव के ही सम्बन्ध में संभव है। 'प्राज्ञ' का अर्थ है परमेश्वर क्योंकि उसका लक्षण ही यह है कि वह सर्वज्ञ है और सर्वज्ञता से कभी अलग नहीं होता। इसी प्रकार मृत्यु का भी उदाहरण—"यह शरीरी आत्मा प्राज्ञ आत्मा की सहायता से निकल कर जाता है" (बृ० ४।३।३५)। यहाँ भी जीव और परमेश्वर का भेद बताया गया है। यहां जीव का नाम शारीर है क्योंकि वह शरीर का स्वामी है और प्राज्ञ तो परमेश्वर ही है।"

यहाँ यह कहा जा सकता है कि सुषुप्ति और उत्क्रान्ति में ही जीव और ब्रह्म का भेद बताया गया है वास्तविक नहीं है। परन्तु यह कल्पना ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्म को 'प्राज्ञ' या ज्ञानी बताया है। जब ब्रह्म ज्ञानी है तो वह अविद्यावश जीव नहीं हुआ। और यदि जीव नहीं हुआ तो भेद कैसा? यदि स्वप्न का दृष्टान्त देकर यह कहा जा सकता कि जीव वस्तुतः ब्रह्म है, स्वप्न वश अपने को जीव समझता है, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि सुषुप्ति में जीव और प्राज्ञ ब्रह्म का सम्पर्क होता है। या मृत्यु में जीव प्राज्ञ परमेश्वर के आश्रय से निकलता है। यहाँ स्पष्ट कहा है कि सुषुप्ति और उत्क्रान्ति में परमेश्वर और जीव का भेद है। श्री शंकरजी भी स्वीकार करते हैं। अब प्रश्न यह रहता है कि यह भेद वास्तविक है या व्यावहारिक या प्रातिभासिक! व्यावहारिक का तो सुषुप्ति और उत्क्रान्ति में प्रश्न ही नहीं उठता। और न प्रातिभासिक का। फिर यह भेद वास्तविक ही मानना पड़ेगा।

(१५)

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ (१।४।६)

इस सूत्र का केवल इतना अर्थ है। "तीनों का ही प्रसंग है और प्रश्न भी।"

इस सूत्र से जीव ब्रह्म का अभेद लेशमात्र भी प्रतीत नहीं होता। परन्तु शं० स्वा० ने एक लम्बी व्याख्या करके कई अप्रासंगिक बातें लिखी हैं :—

(अ) इह चान्यत्र धर्मादित्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनं 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' इतिजन्ममरण प्रतिषेधेन प्रतिपाद्यमानं शारीरपरमेश्वरयोरभेदं दर्शयति। (शां० भा० पृष्ठ १५३)

"उपनिषद् में उत्तर दिया गया कि जीवन मरता है न उत्पन्न होता है। इस जन्म मरण के प्रतिषेध से जीव और ब्रह्म का अभेद प्रतिपादित होता है।"

यह युक्ति सर्वथा युक्ति-आभास है क्योंकि जन्ममरण के प्रतिषेध से जीव का नित्यत्व बताया गया है। इसको आप जीव और ब्रह्म का नित्यत्व के विषय में सादृश्य तो कह सकते हैं। परन्तु अनन्यत्व नहीं।

(आ) तथा—'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' (का० २।४।४) इति स्वप्नजागरितदृशो जीवस्यैव महत्त्व विभुत्व विशेषणस्य मननेन शोकविच्छेदं दर्शयन्न प्राज्ञादन्यो जीव इति दर्शयति प्राज्ञविज्ञानाद्धि शोक विच्छेद इति वेदान्त सिद्धान्तः।

(शां० भा० १।४।६ पृष्ठ १४३)

"कठोपनिषद् में स्वप्न और जागृत देखने वाले जीव के लिये बताया गया है कि जब वह महत्व और विभुत्व विशेषण का मनन करता है तो शोक विच्छेद हो जाता है। इसमें बताया गया कि जीव परमेश्वर ही है। वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि प्राज्ञ अर्थात् परमब्रह्म के ज्ञान से ही शोकविच्छेद होता है।"

समालोचना—यहाँ 'न प्राज्ञादन्यो जीवः' यह कहाँ से आ गया? यह तो ठीक है कि "प्राज्ञ के विज्ञान" से ही शोक दूर होता है। परन्तु

इसका यह अर्थ नहीं कि प्राज्ञ ही जीव है। उपनिषद् में तो यह बताया गया है कि ईश्वर को महान और विभु मानकर किसी को शोक नहीं होता। अर्थात् जो जीव ईश्वर पर विश्वास करेगा उसको शोक नहीं होगा। विश्वास करने वाला या न करने वाला जीव है। 'मत्वा धीरो न शोचति'। यह मानने वाला धीर ब्रह्म नहीं किन्तु ब्रह्म से इतर होना चाहिये। इसलिये शं० स्वा० की प्रतिपत्ति युक्ति संगत नहीं।

(इ) तथाग्रे—'यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। (का० २।४।१०) इति जीवप्राज्ञभेददृष्टिमपवदति।' (शां० भा० १।४।६ पृष्ठ १५३)

'जो इस लोक में है वह परलोक में। जो परलोक में है वह इस लोक में। मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है जो यहाँ भेद देखता है" इससे जीव और ब्रह्म के भेद का खण्डन किया है।

हमारी आलोचना—उपनिषद् में तो केवल इस लोक और परलोक का नैरन्तर्य (सातत्य) बताया गया है। यहाँ जीव और ब्रह्म के भेद या अभेद का तो प्रश्न ही नहीं था। यह समस्त ब्रह्माण्ड एक इकाई है। इसकी प्रत्येक वस्तु का परस्पर सम्बन्ध है। 'नाना इव पश्यति' का अर्थ है कि जो संसार की चीजों को असम्बद्ध वत् देखता है और समझता है कि इस लोक और परलोक में कोई सम्बन्ध नहीं वह अज्ञानी है और मृत्यु को प्राप्त होता है। इसको एक दृष्टान्त से देख सकते हैं। एक परिवार में कई लोग हैं। सबका एक दूसरे से सम्बन्ध है। यदि उनमें से कोई अपने को अलग समझे तो परिवार का ह्रास हो जाय। "नाना इव" देखना प्रबन्ध को तोड़ना है, और प्रबन्ध के टूटते ही ह्रास हो जाता है। इसका यह अर्थ तो नहीं कि परिवार में एक ही मनुष्य है। कई नहीं। सम्बन्ध शब्द ही बताता है कि अनन्यत्व नहीं है। यदि एक ही पुरुष होता तो परिवार ही न होता। ब्रह्म को समस्त जगत् में ओत प्रोत समझना और समस्त वस्तुओं और

क्रियाओं को सम्बद्ध समझना ही 'ज्ञान' है। और इसके बिना मुक्ति नहीं होती।

(ई) 'तं दुर्दर्शं गूढ़मनु प्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' (का० १।२।१२) इति तेनापि जीवप्राज्ञयोरभेद एवेह विवक्षित इति गम्यते"
(शां० भा० १।२।१२ पृष्ठ १५४)

कठोपनषित् के १।२।१२ से भी ब्रह्म और जीव का अभेद बताया गया है।

हमारी समालोचना—नहीं तो। उपनिषद् में तो अभेद का लवलेश भी नहीं। वहाँ तो 'धीर' और 'देव' का स्पष्ट भेद है। "देवं मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति"। अनुप्रवेश से भी जीव ब्रह्म की एकता सिद्ध नहीं होती। बहुत खींचातानीं से भी उपनिषद् का वह अर्थ नहीं निकलता जो शंकर स्वामी ने लिया है। बादरायण के सूत्र में तो कुछ भी संकेत नहीं। शंकर स्वामी को स्वयं लिखना पड़ा :—

"सूत्रं त्वविद्याकल्पितजीवप्राज्ञभेदापेक्षया योजयितव्यम्।

"अर्थात् सूत्र का अर्थ अविद्याकल्पित जीव ब्रह्म के भेद की अपेक्षा से लेना चाहिये।"

इससे स्पष्ट है कि सूत्र में भेद बताया गया है। रही यह बात कि वह अविद्या कल्पित है या नहीं सो सूत्र में तो इसका उल्लेख नहीं। यह केवल शंकर स्वामी की कल्पना है।

विचारे 'प्रधान' को तो शंकर स्वामी ने व्यर्थ ही घसीटा है।

(१६)

अपि चैवमेके शाखिनो वाजसनेयिनोऽस्मिन्नेव बालाक्यजातशत्रु संवादे स्पष्टं विज्ञानमयशब्देन जीवमाम्नाय तद् व्यतिरिक्तं परमात्मानमामनन्ति—'य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्

कुत एतदागात्'। (बृ० २।१।१६) इति प्रश्ने। प्रतिवचनेऽपि 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' इति।

(शां० भा० १।४।१८ पृष्ठ १६८)

इस बालाकी-अजात शत्रु संवाद में वाजसनेयी शाखा वाले स्पष्ट रीति से विज्ञानमय से जीव का ही अर्थ लेते हैं और परमात्मा को इससे भिन्न मानते हैं। "यह विज्ञानमय पुरुष कहाँ था और कहाँ से आया" ? (बृ० २।१।१६) इस प्रश्न के उत्तर में कहा है, "हृदय के भीतर जो आकाश है उसमें सोता है"।

यहाँ जीव-ब्रह्म का भेद स्पष्ट है। परन्तु शं० स्वा० ने दो पंक्तियाँ आगे "उपाधिमतां आत्मनाम्" अपनी ओर से लिख दिया अर्थात् यहाँ उपाधिकृत जीवों का विषय है। इस कथन की पुष्टि न तो उपनिषद् से होती है न सूत्र से।

(१७)

वृहदारण्यक के ४।५।६ में मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य संवाद है। श्री शंकर स्वामी ने वेदान्त १।४।१९ के भाष्य में प्रश्न उठाया :—

'विज्ञानात्मानमेवेहोपदिष्टं दर्शयति' (पृष्ठ १६९)

इसका उत्तर देते हैं :—

'परमात्मोपदेश एवायम्' (पृष्ठ १६९)

अर्थात् यहाँ विज्ञानात्मा जीवका सम्बन्ध नहीं किन्तु परमात्मा का है।

कस्मात्—क्यों ?

वाक्यान्वयात्—वाक्यों के पूर्वा पर सम्बन्ध से। कौन से वाक्यों का ?

"अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन' इति

'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि' इत्यमृतत्वमाशासानाया मैत्रेय्या याज्ञवल्क्य आत्मविज्ञान-

मिदमुपदिशति न चान्यत्र परमात्मविज्ञानादमृतत्वमस्तीति श्रुति स्मृति वादा वदन्ति"। (शां० भा० १।४।१६ पृष्ठ १६६)

हमारी आलोचना—वाक्यों के पूर्वा पर सम्बन्ध से विज्ञानात्मा (जीव) का खण्डन तो नहीं होता ? याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को तो यह समझाया है कि धन से अमृतत्व नहीं प्राप्त होता। अपने आत्मा पर विचार करने से होगा। यह ठीक है कि परमात्मज्ञान के लिये भी तो पहले जीव का ज्ञान आवश्यक है। जीव के अस्तित्व को भुला कर परमात्मोपदेश या अमृतत्व प्राप्ति का कोई अर्थ नहीं।

(१८)

नीचे के तीन सूत्रों में कई आचार्यों की साक्षी से शं० स्वामी ने ब्रह्म-जीव का अभेद प्रतिपादित किया है। यह आलोचनीय है। सूत्र यह है।

१—प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः।
२—उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः।
३—अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः।

(१।४।२०।२१।२२)

इसके शाब्दिक अर्थ यह है :—

१—आश्मरथ्य आचार्य का मत है कि यह प्रतिज्ञा की सिद्धि का लिङ्ग है।

२—औडुलोमि आचार्य का मत है कि मरने वाले (शरीर छोड़ने वाले) का इस प्रकार का भाव हो जाता है।

३—काशकृत्स्न आचार्य का मत है कि जीव की स्थिति ही इस प्रकार की है।

अस्त्यत्रप्रतिज्ञा 'आत्मनिविज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति च।·········यदि हि विज्ञानात्मा परमात्मनोऽन्यः स्यात् ततः परमात्मविज्ञानेऽपि विज्ञानात्मा न विज्ञात इति। (शां० भा० १।४।२० पृष्ठ १७०)

प्रतिज्ञा यह है कि आत्मा के जानने से सब जगत् जान लिया जाता है। 'यह जो आत्मा है वह सब कुछ है'। यदि विज्ञानात्मा परमात्मा से अलग होता तो परमात्मा के जानने से आत्मा का ज्ञान न होता।

हमारी समझ में यह युक्ति ठीक नहीं। उपनिषद् में जो यह कहा कि ब्रह्म के जानने से सब कुछ जान लिया जाता है उससे शांकर-अद्वैत सिद्ध नहीं होता। क्योंकि नियन्ता के जानने से उसके समस्त काम को समझ सकते हैं। ईश्वर को नियन्ता तो द्वैतवाद भी मानता है। किसी बड़े कारखाने के स्वामी के दृष्टि-कोण को समझते ही समस्त कारखाना समझ में आ सकता है। किसी शासक के दृष्टिकोण को समझते ही उसके समस्त शासन को समझ सकते हैं। यही बात यहाँ कही गई। वज्ञानात्मा (जीव) तो परमात्मा के शासन में रहता है। यद्यपि वह कर्म करने में स्वतन्त्र है तथापि वह इस जगत् के सभी नियमों से बंधा हुआ है। अतः ब्रह्म को समझ कर हम जीव को भी समझ सकते हैं। क्योंकि विज्ञानात्मा एक छोटा आत्मा है। परमात्मा बड़ा आत्मा है। सूर्य्य को समझने से दीपक का समझना या समुद्र को समझने से झील का समझना सुगम हो जाता है। उपनिषद् की उस प्रतिज्ञा में जीव-ब्रह्म के अभेद की दृष्टि नहीं है। "आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति"। यहाँ एक प्रश्न करने से ही समस्त अभेदवाद समाप्त हो जाता है। अर्थात् 'केन ?"। "केन आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ?" ब्रह्म को कौन जान ले तो उसे सब कुछ ज्ञात हो जाय ? ब्रह्म तो ज्ञेय हुआ। ज्ञाता हुआ जीव। फिर अभेद कहाँ रहा ?

आचार्य औडुलोमि और आचार्य काशकृत्स्न का जितना मत सूत्रों में दिया है उससे तो अभेद की सिद्धि नहीं होती।

श्री औडुलोमि जी कहते हैं कि शरीर छोड़ने के पश्चात् मुक्त जीव में 'एवंभाव' अर्थात् ब्रह्मरूपता हो जाती है। 'ब्रह्मरूपता' का यह अर्थ नहीं कि जीव का जीवत्व नष्ट होकर केवल ब्रह्म ही रह जाता है। काशकृत्स्न आचार्य कहते हैं कि जीव की आन्तरिक अवस्था इस प्रकार

की है कि वह मुक्ति में ब्रह्मरूपता का अनुभव करने लगता है। अर्थात् मुक्ति कोई बाहर की आरोपित वस्तु नहीं है। मुक्ति का बीज जीव की आन्तरिक अवस्था में विद्यमान है। हमारा यहाँ यह लिखने का तात्पर्य यह है कि शं॰ स्वा॰ का ब्रह्म-जीव अभेद न तो बादरायण के सूत्रों में है न आश्मरथ्य आदि आचार्यों के कथनों में और न उपनिषदों के उद्धरणों में। इसको तो 'अतस्मिँस्तद्बुद्धिः' अर्थात् भेद में अभेद की कल्पना ही कहना चाहिये।

शंकर स्वा॰ के निम्न वाक्यों पर दृष्टि डालिये :—

(१) **न च तेजः प्रभृतीनां सृष्टौ जीवस्य पृथक् सृष्टिः श्रुता, येन परस्मादात्मनोऽन्यस्तद्विकारो जीवः स्यात्।**

(शां॰ भा॰ १।४।२२ पृष्ठ १७१)

श्रुति में जैसे अग्नि आदि की उत्पत्ति वर्णन की वैसे अलग जीव की सृष्टि का वर्णन नहीं किया जिससे परमात्मा से अलग जीव उसका विकार हो सकता।

हमारी आलोचना—जीव की उत्पत्ति का अलग वर्णन इस लिये नहीं है कि जीव नित्य और अजन्मा है। इससे न तो यह सिद्ध होता है कि जीव ब्रह्म ही है। न उसका विकार। अग्नि आदि भी तो ब्रह्म का विकार नहीं है। क्योंकि ब्रह्म उपादान कारण नहीं।

(२) **काशकृत्स्नस्याचार्यस्याविकृतः परमेश्वरोजीवोनान्यइति मतम्।** (शां॰ भा॰ १।४।२२ पृष्ठ १७१)

काशकृत्स्न आचार्य तो अविकृत परमेश्वर को ही जीव मानते हैं न अन्य को।

(३) **आश्मरथ्यस्य तु यद्यपि जीवस्य परस्मादनन्यत्वमभिप्रेतं तथापि प्रतिज्ञासिद्धेरिति कार्य्यकारणभावः कियानप्यभिप्रेत इति गम्यते।**

(शां॰ भा॰ १।४।२२ पृष्ठ १७१)

यद्यपि आश्मरथ्य जी जीव का परमेश्वर से अनन्यत्व मानते हैं तो भी "प्रतिज्ञासिद्धि से" इस अपेक्षा के कथन मात्र से कुछ-कुछ कार्य्य कारण भाव की प्रतीति होती है। (नोट—यह तो अनन्यत्व नहीं है)।

(४) औडुलोमिपक्षे पुनः स्पष्टमेवावस्थान्तरापेक्षौ भेदाभेदौ गम्येते। (शां० भा० १।४।२२ पृष्ठ १७१)

"औडुलोमि के पक्ष में तो स्पष्ट ही भेद और अभेद अवस्था की अपेक्षा से हैं।" (अर्थात् बन्ध अवस्था में भेद है मुक्ति में अभेद है)।

(५) तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते।

(शां० भा० १।४।२२ पृष्ठ १७१)

यहाँ काशकृत्स्न का मत श्रुति के अनुसार है।

हमारी आलोचना—इससे इतना तो स्पष्ट है कि यह आचार्य शांकर अद्वैत के मानने वाले नहीं थे। कारण और कार्य्य का भेद अनन्यत्व नहीं हो सकता। बन्ध में भेद और मुक्ति में अभेद कुछ अर्थ नहीं रखते। यह तो कह सकते हैं कि बन्ध में जीव को ब्रह्मरूपता नहीं प्राप्त होती। मोक्ष में होती है। काशकृत्स्न का मत वही नहीं जो शंकर स्वामी का है। श्रुति के अनुसार अवश्य है क्योंकि श्रुति भी शंकर स्वामी के मत की पुष्टि नहीं करती।

(१९)

अधिकं तु भेदनिर्देशात् (वे० २।१।२२)

(१) यत् सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्म नित्य शुद्ध बुद्धमुक्तस्वभावं शारीरादधिकमन्यत्। तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः। न तस्मिन्हिताकारणादयो दोषाः प्रसज्यन्ते। नहि तस्य हितं किंचित्कर्त्तव्यमस्त्यहितं वापरिहर्तव्यम्। ।

(शां० भा० पृष्ठ २०८-९)

(२) शारीरस्त्वनेवंविधस्तस्मिन् प्रसज्यन्ते दोषाः न तु तं वयं जगतः स्रष्टारं ब्रूमः। कुत एतत्। भेदनिर्देशात्।

(शां० भा० पृष्ठ २०९)

जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म है वह नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त स्वभाव होने से *जीव से अधिक, अन्य* है। उसी को हम जगत् का रचयिता कहते हैं। उसमें यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि वह हित नहीं करता। उसको न तो अपना कोई हित करना है न अपना कोई अहित निवारण करना है। नित्य-मुक्त-स्वभाव होने के कारण।

जीव तो ऐसा नहीं है, उसमें 'हित न करना' आदि दोष लग सकते हैं। *उसको हम जगत् का रचयिता नहीं कहते।* क्यों। *भेद का निर्देश होने के कारण।*

हमारी आलोचना—यहाँ ब्रह्म और जीव का भेद स्पष्ट है।

पूर्व पक्ष—नन्वभेदनिर्देशोऽपिदर्शितः 'तत्त्वमसि' इत्येवंजातीयकः। कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ संभवेयाताम्।

'तत्वमसि' आदि वाक्यों में अभेद भी तो बताया है। भेद और अभेद दोनों कैसे मेल खायेंगे?

शां० उत्तर पक्ष—नैष दोषः। (१) आकाशघटाकाशन्यायेनोभयसंभवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्।

(२) अपि च यदा तत्त्वमसीत्येवं जातीयकेनअभेदनिर्देशेन अभेदः प्रतिबोधितो भवति, अपगतं भवति तदाजीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वं, समस्तस्य मिथ्याज्ञान विजृम्भितस्य भेदव्यवहारस्य सम्यग्ज्ञानेन बाधितत्वात्। (शां० भा० २।१।२२ पृष्ठ २०६)

यह दोष नहीं। क्योंकि (१) जैसे आकाश और घटाकाश में भेद अभेद दोनों ही ठीक हैं वैसा ही यहां भी समझना चाहिये। (२) दूसरे जब 'तत्वमसि' आदि निर्देश से अभेद की जागृति हो जायगी तो न जीव का संसारीपन रहेगा और न ब्रह्म का स्रष्टापन। यह तो सब भेद मिथ्या ज्ञान के द्वारा हैं। जब यह समाप्त हुआ तो वह भी नष्ट हो जायगा।

हमारी आलोचना—यह हम कई स्थानों पर दिखा चुके हैं कि 'तत्वमसि' जीव के लिये है ब्रह्म के लिये नहीं। और न यह वाक्य ब्रह्म और जीव का अभेद बताता है।

वादरायण के सूत्र में इस बात की गन्ध तक नहीं कि यह भेद मिथ्या ज्ञान के कारण है। सूत्र मिथ्या ज्ञान को दूर करने के लिये हैं न कि उसके आधार पर वक्तव्य देने के लिये।

आकाश और घटाकाश तो एक ही हैं और एक लक्षण वाले हैं। परन्तु जीव और ब्रह्म का भेद आप ही प्रबल भाषा में बता चुके हैं। अतः यह दृष्टान्त ठीक नहीं है।

मिथ्या ज्ञान के दूर होने पर किसी जीव की मुक्ति हो जाय तो उसका संसारीपन अवश्य छूट जायगा। परन्तु उसकी अपनी सत्ता नष्ट नहीं होगी। मुक्ति का अर्थ यह नहीं कि अस्तित्व भी नष्ट हो जाय। (देखो शां० भा० ४।४।१२, ४।४।१७)

यह कहना तो सर्वथा ही अनर्गल है कि ईश्वर का स्रष्टापन भी समाप्त हो जायगा। क्योंकि एक जीव की मुक्ति होने से समस्त जीवमंडल की मुक्ति नहीं हो सकती। आज संसार विद्यमान है और ईश्वर का स्रष्टापन भी स्थित है। क्या यह समझना चाहिये कि अब तक शंकर स्वामी, उनके गुरु अथवा किसी अन्य जीव की मुक्ति हुई ही नहीं।

(२०)

न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्तः,शास्त्रफल संबन्धोपपत्तेः। शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तरगतेष्टानिष्टप्राप्ति परिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावनर्थकौ स्याताम्। श्रूयते च—'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते,न जीवो म्रियते। (छा० ६।११।३)

(शां० भा० २।३।१६ पृष्ठ २७७)

जीव की उत्पत्ति प्रलय नहीं होते। इसी प्रकार शास्त्रोक्त कर्म-फल का सम्बन्ध हो सकता है। यदि शरीर के साथ जीव भी नष्ट हो जाय तो दूसरे शरीर में इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति या परिहार कैसे हो ? और शास्त्र में जो विधि और निषेधात्मक उपदेश है वह भी अनर्थक हो जाय। छान्दोग्य में भी कहा है कि 'जीव से त्यागा हुआ शरीर मरता है जीव नहीं मरता'।

यह भाषा जीव ब्रह्म का भेद दिखाने के लिये इतनी स्पष्ट है कि टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। १७वें सूत्र के भाष्य में शंकर स्वामी ने जो यह लिखा है :—

"प्रतिज्ञानुपरोधोऽप्यविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवभावाभ्युपगमात्। लक्षणभेदोऽप्यनयोरुपाधिनिमित्तएव।

(शां० भा० २।३।१७ पृष्ठ २७६)

अर्थात् अविकृत (विकार-रहित) ब्रह्म के जीव मानने से ही उपनिषदों का समन्वय होता है और जीव ब्रह्म का जहाँ कहीं लक्षण-भेद दिया है वह उपाधि के कारण है यह ठीक नहीं। प्रथम तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रों में जीव-ब्रह्म का लक्षण-भेद दिया है। दूसरे ब्रह्म को अविकृत भी मानना और फिर उसमें उपाधि का पचड़ा लगाना ये दोनों परस्पर विरुद्ध बातें हैं। यदि ब्रह्म अविकार्य है तो उसमें उपाधि का कुछ प्रभाव नहीं पड़ सकता और वह जीव-भाव को प्राप्त नहीं हो सकता। श्री शंकर स्वामी लिखते हैं :—

यदपि क्वचिदस्योत्पत्ति प्रलय श्रवणं तदप्यत एवोपाधिसंबन्धान्नेतव्यम्। उपाध्युत्पत्त्यस्योत्पत्तिः प्रलयेन च प्रलय इति।

(शां० भा० २।३।१७ पृष्ठ २७६)

जहाँ कहीं जीव की उत्पत्ति या प्रलय लिखी है वह उपाधि सम्बन्ध से है। उपाधि की उत्पत्ति से इसकी उत्पत्ति, उपाधि की प्रलय से इसकी प्रलय।

यहाँ यह ठीक है कि शरीर ही उत्पन्न या नष्ट होता है। जीव नहीं। जहाँ जीव की उत्पत्ति या विनाश का उल्लेख है वहाँ शरीर की अपेक्षा से है। परन्तु इसको ब्रह्म में तो नहीं घटा सकते। याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो उपदेश दिया है वहाँ भी जीव ही अभिप्रेत है। यह जो शंकर स्वामी आकाश का दृष्टान्त देते हैं :—

"आकाशस्येव घटादि संबन्ध निमित्तम्" । (पृष्ठ २७६)

अर्थात् जैसे आकाश के घट आदि के निमित्त से भाग हो जाते हैं वैसे ही ब्रह्म के भी हो जायंगे । यह ठीक नहीं । प्रथम तो उपनिषदों या सूत्रों में ऊपर के वाक्य के तुल्य एक भी ऐसा वाक्य नहीं है जहाँ बिना खींचा तानी के स्पष्ट ऐसा उल्लेख हो । दूसरे जहाँ आकाश से ब्रह्म की उपमा दी गई हैं वहाँ *विभुत्व के प्रसंग में, न कि उपाधि के प्रसंग में* । यह एक विशेष बात है जिसको लोग आँखों से ओझल कर देते हैं । दूसरी बात यह है कि आकाश जड़ है । घटाकाश को यह ज्ञान नहीं कि मैं उपाधि के कारण अब तंग या तंग सा हो गया । केवल दूसरे लोग ऐसा समझ लेते हैं । परन्तु ब्रह्म तो सर्वज्ञ तथा चेतन है । उसे स्वयं यह क्यों नहीं पता रहता कि मैं विभु हूँ केवल शरीर के कारण परिच्छिन्न हो गया हूँ ।" घड़े की दीवारें भीतर के आकाश के किसी गुण को तिरोहित करने के समर्थ नहीं हैं । फिर शरीर की उपाधि ब्रह्म के मौलिक गुण सर्वज्ञता, निष्पापता, आनन्द आदि को कैसे तिरोहित कर सकती हैं ? तीसरे घड़े की दीवारें झूठी नहीं, सच्ची हैं फिर भी वे आकाश के गुणों को दबा नहीं सकीं तो शरीर की मायावीं उपाधियाँ ब्रह्म को कैसे दबा सकती हैं ? जीव अल्प हैं शरीर के आश्रित है अतः शरीर की सीमाओं से प्रभावित हो जाता है ।

(२१)

नित्यस्वरूप चैतन्यत्वे घ्राणाद्यानर्थक्यमिति चेत् । न । गन्धादिविषय विशेषपरिच्छेदार्थत्वात् ॥ तथाहि दर्शयति 'गन्धाय घ्राणम्' इत्यादि । (शां० भा० २।३।१८ पृष्ठ २८०)

यदि यह आक्षेप करो कि यदि जीव नित्य चेतन होगा तो नाक आदि व्यर्थ हो जायंगे तो यह आक्षेप ठीक नहीं । क्योंकि नाक आदि तो गन्ध आदि विशेष विषयों के पहचानने के लिये हैं । शास्त्र भी कहता है, "गंध के लिये नाक है ।"

यह ठीक है। परन्तु इससे जीव का ब्रह्म से भेद स्पष्ट हो जाता है। ब्रह्म को किसी विषय के जानने के लिये इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं।

"पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" (श्वे० ३।१९)

जब बिना चक्षु के रूप विषय को देखता और बिना कान के शब्द विषय को सुनता है तो बिना नाक के गन्ध विषय को सूंघने में क्या संदेह ?

(२२)

वेदान्त दर्शन के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद के १९वें सूत्र से लेकर ३२वें तक जीव के अणुत्व का प्रश्न है। इन सूत्रों में स्पष्ट दिया है कि जीव अणु है विभु नहीं। परन्तु शंकर स्वामी ने १९ से २८ तक सूत्रों को पूर्व-पक्ष मान कर शेष में जीव का विभुत्व स्वीकार किया है जिससे जीव-ब्रह्म का अभेद सिद्ध हो जाय। सब सूत्रों के शब्दों पर दृष्टि डालने से शंकर स्वामी की अयुक्तता स्पष्ट हो जाती है। सूत्र ये हैं :—

(१९) उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्।

उत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात् परिच्छिन्नोऽणु परिमाणो जीव इति। उत्क्रान्तिस्तावत्—'स यदास्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति' (कौषीत० ३।३) इति गतिरपि 'ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति (कौषी०-१।२) इति। आगतिरपि 'तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४।४।६) इति

आसामुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात् परिच्छिन्न स्तावज्जीव इति प्राप्नोति। नहि विभोश्चलनमवकल्पत इति।

(शां० भा० २।३।१९ पृष्ठ २८१)

श्रुति में दिया है कि जीव *निकलता* है, *जाता* है और फिर *लौटता* है। जैसे कौषीतकि ब्रह्मण-उपनिषद् में लिखा है कि जब जीव इस शरीर से *निकलता* है तो इन सब (प्राणादि) के साथ *निकलता* है। तथा

"जो कोई इस लोक से जाते हैं वे सब चन्द्र लोक को जाते हैं' और बृहदारण्यक में है कि "उस लोक से फिर इस लोक को लौटते हैं कर्म के लिये।" निकलने, जाने और लौटने से सिद्ध है कि जीव परिच्छिन्न है। विभु होता तो चलना कैसे होता ?

(२०) स्वात्मना चोत्तरयोः।

उत्तरे तु गत्यागती नाचलतः संभवतः। स्वात्मना हि तयोः संबन्धो भवति गमेः कर्तृस्थ क्रियात्वात्। अमध्यम परिमाणस्य च गत्यागती अणुत्व एव संभवतः।............................ तस्मादप्यस्याणुत्वसिद्धिः। (शां० भा० २।३।२० पृष्ठ २८२)

जाना और लौटना अचल में नहीं हो सकता। अपने आत्मा से ही उनका सम्बन्ध होता है। गति कर्त्ता में ही होती है। जाने और लौटने के लिये जीव अणु होना चाहिये।

(२१) नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्।

अथापि स्यान्नाणुरयमात्मा। कस्मात्। अतच्छ्रुतेः। अणुत्व-विपरीत परिमाणश्रवणादित्यर्थः। 'सवा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु (बृ० ४।४।१२), 'आकाशवत् सर्वगश्च नित्यः, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवं जातीयका हि श्रुतिरात्मनोऽणुत्वे विप्रतिषिध्येतेति चेत् नैष दोषः। कस्मात्। इतराधिकारात्। परस्य ह्यात्मनः प्रक्रियायामेषा परिमाणान्तर-श्रुतिः। (शां० भा० २।३।२१ पृष्ठ २८२)

यदि यह कहा जाय कि आत्मा अणु नहीं। क्यों ? श्रुति के विरुद्ध होने से। अर्थात् श्रुति में लिखा है कि आत्मा अणु नहीं। जैसे बृहदारण्यक में है 'वह महान् अज, विज्ञानमय है,' या तैत्तिरीय में है "वह आकाशवत् सर्वत्र है,' "ब्रह्म सत्य, ज्ञान, और अनन्त है"। तो यह आक्षेप ठीक नहीं। क्योंकि यहाँ प्रकरण ब्रह्म का है। यह श्रुतियाँ ब्रह्म के परिच्छिन्नत्व का खण्डन करती हैं जीव का नहीं।

(२२) स्वशब्दोन्मानाभ्यांच ।

इतश्चाणुरात्मा यतः साक्षादेवास्याणुत्ववाची शब्दः श्रूयते 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' (मु० ३।१।९) इति……तथोन्मानमपि जीवस्याणिमानं गमयति 'बालाग्रशत भागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः सविज्ञेयः (श्वे० ५।८) इति । आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः । (श्वे० ५।८) इति चोन्मानान्तरम् ।　　　(शां० भा० २।३।२२ पृष्ठ २८२-८३)

मुण्डक उपनिषद में स्वयं 'अणु' शब्द आया है। श्वेताश्वतर में बाल के सिर के सौवां हिस्सा ऐसा परिमाण भी लिखा है।

अतः जीव अणु है ।

(२३) अविरोधश्चन्दनवत् ।

यथा हि हरिचन्दन विन्दुः शरीरैकदेश संबद्धोऽपि सन् सकल देहव्यापिनमाह्लादं करोति एवमात्मापि देहैकदेशस्थः सकल देहव्यापिनीमुपलब्धिं करिष्यति ।　　　(शां० भा० २।३।२३ पृष्ठ २८३)

जैसे चन्दन का एक विन्दु एक अंग में लगा हुआ सब शरीर को आनन्द देता है (त्वचा के द्वारा) इसी प्रकार आत्मा भी एक देश में ठहरा हुआ सब शरीर का ज्ञान करता है। इससे जीव का अणुत्व सिद्ध है।

(२४) अवस्थिति वैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि ।

अभ्युपगम्यते ह्यात्मनोऽपि चन्दनस्येव देहैकदेशवृत्तित्वमवस्थिति वैशेष्यम् । कथमित्युच्यते । हृदि ह्येष आत्मा पठ्यते वेदान्तेषु 'हृदि ह्येष आत्मा' (प्रश्न ३।६) 'सवा एष आत्मा हृदि' (छा० ८।३।३)　　　(शां० भा० २।३।२४ पृष्ठ २८३)

चन्दन की बूँद के समान आत्मा को भी एक देश में स्थित बताया गया है। प्रश्न और छान्दोग्य दोनों में लिखा है कि आत्मा हृदय में रहता है।

(२५) गुणाद् वा लोकवत् ।

यथा लोके मणिप्रदीपप्रभृतीनामपवरकैकदेशावर्त्तिनामपि प्रभाऽपवरकव्यापिनी सती कृत्स्नेऽपवरके कार्यं करोति तद्वत् ।

(शां० भा० २।३।२५ पृष्ठ २८४)

लोक में देखते हैं कि एक देश में रक्खा हुआ मणि या दीपक सभी स्थानों में प्रकाश करता है इसी प्रकार जीव भी एक देश में ठहरा हुआ समस्त शरीर में काम करता है ।

(२६) व्यतिरेको गन्धवत् ।

अप्राप्तेष्वपि कुसुमादिषु गन्धवत्सु कुसुमगन्धोपलब्धेः । एवमणोरपि सतो जीवस्य चैतन्यगुणव्यतिरेको भविष्यति ।

(शां० भा० २।३।२६ पृष्ठ २८४)

जैसे फूल न मिलने पर भी दूर से फूल की गन्ध मिल जाती है इसी प्रकार अणु जीव का चैतन्य गुण भी दूर देश में काम कर सकता है ।

(२७) तथा च दर्शयति ।

'आलोमभ्य आ नखाग्रेभ्यः' (छा० ८।८।१)

(शां० भा० २।३।२७ पृष्ठ २८४)

छान्दोग्य उपनिषद् में भी कहा है "बालों तक, नाखूनों के अन्त तक" ।

(२८) पृथगुपदेशात् ।

'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य' (कौषी० ३।६) इति चात्मप्रज्ञयोः कर्तृकरणभावेन पृथगुपदेशाच्चैतन्यगुणेनैवास्य शरीरव्यापिता गम्यते ।...................तस्मादणुरात्मेति ।

(शां० भा० २।३।२८ पृष्ठ २८४)

कौषीतकी में लिखा है कि जीव प्रज्ञा के द्वारा शरीर में रहता है ।

यहाँ कर्त्ता और करण को अलग-अलग दे दिया है। इस लिये आत्मा अणु है।

हमने इन १० सूत्रों का भाष्य शंकर स्वामी के शब्दों में ही दे दिया है। इससे जीव का परिच्छिन्न होना और इस लिये ब्रह्म से भिन्न होना भी सिद्ध है। उपनिषदों के भी पुष्कल प्रमाण इस पक्ष में हैं।

परन्तु शंकर स्वामी ने इन को पूर्वपक्ष कर दिया है। यद्यपि इनमें कोई शब्द भी ऐसा नहीं जिससे इनका पूर्वपक्षत्व सिद्ध हो सके।

आगे के चार सूत्रों के भाष्य में शंकर स्वामी ने ऊपर के पूर्व पक्ष का खण्डन किया है। और जीव-ब्रह्म के अनन्यत्व का प्रतिपादन। परन्तु सूत्रों के शब्दों से ऐसा ज्ञात नहीं होता। दूसरे अध्याय के पहले पाद का २२वां सूत्र 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' भी भेद को स्पष्ट बताता है। अतः जीव के अणुत्व को भी।

तथापि हम यहाँ अगले चारों सूत्रों और उन पर शांकर भाष्य की आलोचना करते हैं :—

(२९) तद्गुणसारत्वात् तु तद्-व्यपदेशः प्राज्ञवत्।

शां० भा०—(१) तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्त्यणुरात्मेति।

'तु' शब्द पूर्वपक्ष का परिहार करता है। आत्मा अणु नहीं है।

(२) उपाधि गुणसारत्वज्जीवस्याणुत्वादि व्यपदेशः प्राज्ञवत्। यथा प्राज्ञस्य परमात्मनः सगुणेषूपासनेषूपाधिगुणसारत्वादणीयस्त्वादिव्यपदेशः 'अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद् वा' (छा० ३।१।१४।२) 'मनोमयः प्राणशरीरः सर्वगन्धः सर्वरसः सत्यकामः सत्य सकल्पः (छा० ३।१।१४।२) इत्येवं प्रकारस्तद्वत्।

(शां० भा० २।३।२६ पृष्ठ २८५-२८७)

उपाधि गुण के सार के कारण जीव को अणु कहा है। प्राज्ञ के समान। जैसे सगुण उपासना में उपाधि गुण सारत्व के कारण प्राज्ञ

ब्रह्म को अणु कहा, 'जैसे छान्दोग्य में चावल और जौ से भी छोटा कहा है। अथ मनोमय, प्राण शरीर, सर्वगंध, सर्वरस, सत्यकाम और सत्य संकल्प बताया है। उसी प्रकार यहाँ भी।

हमारी आलोचना—श्री आनन्द तीर्थ (मध्वाचार्य) के अणु भाष्य में 'तु' नहीं है। अन्य पुस्तकों में है। आनन्द तीर्थ कहते हैं :—

भिन्ना जीवाः परोभिन्नस्तथापिज्ञानरूपतः।
प्रोच्यन्ते ब्रह्मरूपेण वेद वादेषु सर्वथा। (अणु भाष्य)

अर्थात् जीव भिन्न है। परब्रह्म भिन्न है परन्तु ज्ञानरूपता के कारण जीव को ब्रह्मरूप से वर्णन किया गया है तथा :—

चेतनत्वादि सादृश्यं यद्यभेद इतीष्यते।
अङ्गीकृतं तदस्माभिर्न स्वरूपैक्यता क्वचित्॥ (अणु व्याख्यान)

चेतनता आदि के सादृश्य से यदि अभेद मानों तो हम को स्वीकृत है। परन्तु स्वरूप से एकता नहीं।

परन्तु यदि 'तु' को मान भी लिया जाय तो भी शंकर मत की पुष्टि नहीं होती। क्योंकि २८वें सूत्र 'पृथगुपदेशात्' के पश्चात् २६वें सूत्र का 'तु' पृथक् उपदेश का खण्डन करता हुआ प्रतीत नहीं होता। यदि कहो कि पिछले दसों सूत्र के खण्डन में है तो भी ठीक नहीं क्योंकि उन सूत्रों के शब्दों से स्पष्ट है कि समस्त बातों का खण्डन 'गुण सारत्व' मात्र से नहीं होता। यदि बादरायण को ऐसा अभीष्ट होता तो एक एक युक्ति का क्रमशः खण्डन करते।

इसकी अपेक्षा तो स्वामी हरि प्रसाद ने वैदिकवृत्ति में अच्छा कहा है। बुद्धि सत्व का आत्मा से व्यतिरेक बताकर वह शङ्का उपस्थित करते हैं। श्वेताश्वतर में जीव को 'अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः" (श्वे० ५।८) बताया गया है, शङ्का होती है कि अंगूठे के परिमाण वाला अणु कैसे हो सकता है, इसके उत्तर में २६वां सूत्र कहता है कि—

( ) न खलु श्रुत्या स्वरूप तोऽङ्गुष्ठपरिमाणो जीवात्मा व्यपदिश्यते किन्तु बुद्धि गुण प्रधान्यात् ।

जीवात्मा स्वरूप से अंगूठे के बराबर नहीं । बुद्धि गुण की प्रधानत के कारण है ।

(२) हृदयं च मनुष्याणां प्रायेणाङ्गुष्ठ परिमाण मिति ।

मनुष्यों का हृदय प्रायः अंगूठे के बराबर माना जाता है ।

(३०) यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद् दर्शनात् ।

नेयमनन्तर निर्दिष्ट दोषप्राप्तिराशङ्कनीया । कस्मात् । यावदात्म भावित्वाद् बुद्धिसंयोगस्य । यावदयमात्मा संसारी भवति, यावदस्य सम्यग्दर्शनेन संसारित्वं न निवर्तते. तावदस्य बुद्धया संयोगो न शाम्यति । (शां० भा० २।३।३० पृष्ठ २८७)

पहले एक शङ्का उठाई कि जब बुद्धि और आत्मा भिन्न है तो इनका संयोगान्त (अवसान) भी अवश्य होगा । बुद्धि के वियोग होने पर जीव का अलक्ष्यत्व होगा अर्थात् लक्षण न कर सकोगे । अतः या जीव का अभाव मानना पड़ेगा या असंसारीपन ।

इस शङ्का का उत्तर देते हैं । जब तक आत्मा संसारी रहता है, जब तक समयक् ज्ञान से संसारित्व छूटता नहीं तब तक बुद्धि का संयोग भी नहीं छूटता ।

शंकर स्वामी के इस अर्थ से भी जीव के अणुत्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । केवल दूसरा प्रश्न उठ जाता है । जीव के अणु होने पर भी यह ठीक ही हो सकेगा कि जब तक जीव की मुक्ति न होगी शरीर में आना जाना (संसारीपन) लगा रहेगा । परन्तु इससे ब्रह्म और जीव का अनन्यत्व सिद्ध नहीं होता ।

(३१) पुंस्त्वादिवत् त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ।

यथा लोके पुंस्त्वादीनि बीजात्मना विद्यमानान्येव बाल्यादिष्वनुपलभ्यमानान्यविद्यमानवदभिप्रेयमाणानि यौवनादिष्वा-

विर्भवन्ति, नाविद्यमानान्युत्पद्यन्ते षण्ढादीनामपि तदुत्पत्ति प्रसङ्गात्, एवमयमपि बुद्धिसम्बन्धः शक्त्यात्मना विद्यमान एव सुषुप्ति प्रलययोः पुनः प्रबोधप्रसवयोराविर्भवति ।

(शां० भा० २।३।३१ पृष्ठ २८६)

बालकों में पुंस्त्व (मर्दानापन) बीज मात्र होता है । प्रकट नहीं होता । और युवावस्था में प्रकट होता है । होता अवश्य है । अभाव से भाव नहीं हो जाता । अन्यथा नपुंसक में पुंस्त्व आ जाता । इसी प्रकार सुषुप्ति और प्रलय में भी आत्मा का बुद्धि से सम्बन्ध शक्तिमात्र रहता है । और जगने पर आविर्भूत हो जाता है ।

इस व्याख्या से जीव के अणु होने का खण्डन नहीं होता किन्तु जीव का ब्रह्म से भेद प्रकट होता है । क्योंकि प्रलय या सुषुप्ति में ब्रह्म तो एक सा ही रहता है । उसमें बीज-अंकुर की उपमा नहीं घट सकती ।

(३२) नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि प्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ।

(१) तच्चैवंभूतमन्तः करणमवश्यमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् ।

(२) अन्यथा ह्यनभ्युपगम्यमाने तस्मिन्नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि प्रसङ्गः स्यात् । आत्मेन्द्रियविषयाणामुपलब्धि साधनानां संनिधाने सति नित्यमेवोपलब्धिः प्रसज्येत । अथसत्यपि हेतु समवधाने फलाभावस्ततो नित्यमेवानुपलब्धिः प्रसज्येत ।

(शां० भा० २।३।३२ पृष्ठ २८६)

(१) हमको ऐसे अन्तःकरण को मानना ही चाहिये ।

(२) न मानने से या तो नित्य ज्ञान होगा या नित्य अज्ञान । आत्मा इन्द्रिय और विषयों के सम्पर्क से सदा ज्ञान ही होगा । और यदि इनके सम्पर्क से भी ज्ञान न हुआ तो कभी नहीं होगा ।

(३) नचैवं दृश्यते ।

ऐसा देखा नहीं जाता ।

(४) अथवान्यतरस्यात्मन इन्द्रियस्य वा शक्ति प्रतिबन्धोऽभ्युपगन्तव्यः।

या यह मानो कि आत्मा या इन्द्रिय की शक्ति में कोई बाधा पड़ गई।

(५) न चात्मनः शक्तिप्रतिबन्धः संभवति अविक्रियत्वात्।

आत्मा की शक्ति में बाधा नहीं हो सकती। वह अविकारी है।

(६) नापीन्द्रियस्य। न हि तस्य पूर्वोत्तरयोः क्षणयोरप्रतिबद्धशक्तिकस्य सतोऽकस्माच्छक्तिः प्रतिबध्येत।

इन्द्रियों में भी बाधा नहीं हो सकती। क्योंकि पहले और पीछे कोई बाधा होती नहीं।

तात्पर्य यह है कि आत्मा इन्द्रियों के द्वारा विषयों से संनिकर्ष करता है तो ज्ञान होता है। दीवार विषय है, आंख इन्द्रिय है। मैं देखने वाला आत्मा हूँ। जब तक आंख खुली है आत्मा का आंख के द्वारा दीवार को प्रत्यक्ष करना चाहिये। ऐसा नहीं होता। आंख खुली रहने पर भी हम चीज़ों को नहीं देखते। इससे पता चलता है कि आत्मा और आंख के बीच में एक अन्तःकरण या मन भी है। यदि मन को न मानें तो या तो सदा दीवार का ज्ञान होगा या कभी न होगा। परन्तु कभी होता है कभी नहीं होता। इससे सिद्ध है कि मन भी है।

हमारी आलोचना—ऊपर के इस कथन से जीव का अणु होना सिद्ध तो है असिद्ध नहीं। और न इससे जीव के ब्रह्म होने का कोई प्रसङ्ग उठता है।

हमने यहाँ १२ सूत्र दिये हैं। जो जीव के अणु होने को प्रकट करते हैं।

अब आगे हम कुछ युक्तियों की भी आलोचना करेंगे जो पिछले सूत्रों के अन्तर्गत शांकर-भाष्य में भाष्यकार की ओर से उठाई गई हैं। और जिनके लिये बादरायण को उत्तरदाता नहीं बनाया जा सकता।

शां० स्वा०—न चाणोर्जीवस्य सकलशरीरगता वेदनोपपद्यते। त्वक् संबन्धात् स्यादिति चेत्। न। कण्टकतोदनेऽपि सकलशरीर गतैव वेदना प्रसज्येत। त्वक् कण्टकयोर्हि संयोगः कृत्स्नायां त्वचि वर्तते त्वक् च कृत्स्नशरीरव्यापिनीति। पादतल एव तु कण्टकनुन्नो वेदनां प्रतिलभते। (शां० भा० २।३।२९)
(पृ० २८५-२८६)

यदि जीव अणु होता तो समस्त शरीर की वेदना को न अनुभव कर सकता। यदि कहो कि त्वचा का समस्त शरीर से सम्बन्ध है इस लिये त्वचा के द्वारा वेदना का ज्ञान हो जायगा। तो यह ठीक नहीं। क्योंकि यदि पैर कांटे पर पड़ जाय तो समस्त शरीर में पीड़ा होनी चाहिये थी। क्योंकि कांटे और त्वचा का सम्बन्ध समस्त देह से है। त्वचा समस्त देह में व्यापक है। परन्तु ऐसा होता नहीं। पीड़ा केवल पैर के तलवे में ही होती है।

हमारी आलोचना—इस युक्ति को युक्ति कहने में बड़ा संकोच होता है। यदि यह युक्ति शांकर भाष्य में न होती तो हम इसकी ओर संकेत करना भी उचित न समझते। शरीर-शास्त्र का सामान्य ज्ञान रखने वाला विद्यार्थी भी जानता है कि पैर में कांटा लगने से पैर में ही क्यों पीड़ा होती है। समस्त शरीर में नहीं होती। त्वचा एक अखण्ड अविभाज्य वस्तु नहीं है। शरीर के भिन्न-भिन्न भागों से मस्तिष्क तक नस नाड़ियों का तांता लगा हुआ है। अतः पैर में कांटा लगते ही आत्मा को सूचना मिल जाती है कि शरीर के अमुक स्थान में कांटा लगा है। तार घर में एक स्थान पर बैठे हुये तार बाबू को पता चल जाता है कि तार लखनऊ से खटखटाया जा रहा है या कलकत्ते से। इससे तो जीव के अणुत्व का खण्डन नहीं होता अपितु नाड़ी संस्थान के उत्तम प्रबन्ध का परिचय होता है।

जब पक्षाघात (लकवा) हो जाता है तो तन्तु सम्बन्ध में विका

आने से कांटे का चुभना भी अनुभव नहीं होता। यदि आत्मा विभु होता तो पक्षाघात होने का कोई प्रभाव न होना चाहिये था।

कांटे के पैर में लगने से 'पैर में पीड़ा है' ऐसा ज्ञान जीव को अपने मस्तिष्क में होता है शरीर के अन्य स्थानों पर नहीं। इससे सिद्ध है कि जीव अणु ही है।

यद्यपि त्वग् इन्द्रिय समस्त शरीर में है तो भी कांटा जितनी पीड़ा आंख में उत्पन्न कर सकता है उतनी पैर के तलवे में नहीं। बिना जूते के चलने वाले ग्रामीण पुरुषों की तलवे की खाल इतनी कठोर हो जाती है कि साधारण कांटे का लगना अनुभव भी नहीं होता।

(२) **शंकर स्वामी—न चाणोर्गुणव्याप्तिरुपपद्यते, गुणस्य गुणिदेशत्वात्। गुणत्वमेव हि गुणिनमनाश्रित्य गुणस्य हीयेत। प्रदीप प्रभायाश्च द्रव्यान्तरत्वं व्याख्यातम्। गन्धोऽपिगुणत्वाभ्युपगमात् साश्रय एवं संचरितुमर्हति। अन्यथा गुणत्वहानिप्रसङ्गात्।**

(शां० भा० २।३।२६ पृष्ठ २८६)

(१) जहाँ गुणी रहेगा वहीं गुण रहेगा। यदि जीव अणु है तो उसकी चेतनता भी अणु होनी चाहिये। फिर वह एकदेशीय होगी और शरीर के अन्य भागों में विदित न होगी। गुणी का आश्रय छोड़ कर गुण नहीं रह सकता।

(२) दीपक का प्रकाश तो गुण नहीं अपितु एक और द्रव्य है।

(३) गन्ध का दृष्टान्त भी ठीक नहीं। क्योंकि गन्ध को गुण मानो तो गन्ध अपने गुणी के बाहर नहीं जा सकता।

अतः जीव अणु नहीं है।

हमारी आलोचना—शं० स्वा० के मत में गुण और गुणी का भेद नहीं। वैशेषिक मत के खण्डन में वे इसको स्पष्ट लिख चुके हैं। ... गुणगुणी का भेद मान कर विपक्षी की युक्ति का खण्डन करना उचित नहीं।

इसके अतिरिक्त युक्ति सर्वथा निस्सार है। यह ठीक है कि जहाँ गुणी रहेगा वहीं गुण भी रहेगा। उसके बाहर नहीं जा सकता। परन्तु उस गुण की सहायता से उत्पन्न हुई शक्ति का प्रभाव तो बहुत दूर तक जा सकता है। यदि मैं अपने कमरे में कुर्सी पर बैठा हूँ तो मेरे गुण कुर्सी से बाहर नहीं जा सकते। परन्तु उन गुणों की सहायता से मैं कलम, लाठी, विद्युत्तार आदि में जो क्रिया उत्पन्न कर देता हूँ वह तो सैकड़ों मील तक जा सकती है। श्री शंकर स्वा० की विद्वत्ता उनके आश्रित थी। वह उनसे बाहर नहीं जा सकती थी। परन्तु उस विद्वत्ता का प्रकाश अन्य भौतिक साधनों द्वारा पुस्तक रूप में देश और काल दोनों की सीमा से बाहर चला जा रहा है। गुण तो द्रव्य में ही रहेगा परन्तु कर्म के लिये यह नियम नहीं है। अतः जीव का अणु होना शरीर की चेतनता-युक्त प्रवृत्तियों का बाधक नहीं।

प्रकाश और गन्ध पर भी वही बात लागू होती है।

प्रकाश को द्रव्यान्तर कह देने से तो उपमा निरर्थक नहीं ठहर सकती।

(३) शां० स्वा०—**यदि च चैतन्यं जीवस्य समस्तं शरीरं व्याप्नुयान्नाणुर्जीवः स्यात्। चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपमग्नेरिवौष्ण्य-प्रकाशौ। नात्र गुणगुणिविभागो विद्यत इति। शरीरपरिमाणत्वं च प्रत्याख्यातम्। परिशेषाद् विभुर्जीवः।**

(शां० भा० २।३।२६ पृष्ठ २८६)

जब जीव का चैतन्य समस्त शरीर में व्याप्त है तो जीव अणु नहीं हो सकता। चैतन्य ही इसका स्वरूप है। जैसे अग्नि का गर्मी और प्रकाश। गुण और गुणी अलग तो हो ही नहीं सकते।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि जीव का वही परिमाण नहीं है जो देह का है। (देखो वेदान्त २।२।३४)

अतः यही सिद्ध है कि जीव विभु है।

हमारी आलोचना—जीव की चेतनता शरीर भर में कैसे व्याप्त होती है? इसका हम अभी ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। शरीर के सभी अवयवों में चेतनता का समान प्रकाश नहीं होता। यदि समस्त शरीर में चेतनता बराबर होती और जीव विभु होता तो अन्तःकरण के मानने की आवश्यकता न थी। एक ही साथ आँख से देख और कान से सुन सकते। परन्तु ऐसा नहीं होता। उँगली के कट जाने से चेतनता नहीं कट जाती।

अभी शं० स्वा० प्रकाश को द्रव्यान्तर बताते थे और अभी उसी पृष्ठ में उसी सूत्र के भाष्य में उसी प्रसंग में प्रकाश को अग्नि का स्वभाव माना।

प्रदीपप्रभायाश्च द्रव्यान्तरम्।
स्वरूपमग्नेरिवोष्ण्यप्रकाशौ॥

यदि आप कहें कि प्रदीप और प्रभा में द्रव्यान्तरत्व है तो ठीक नहीं। क्योंकि उपमा में प्रदीप से मिट्टी, काँच या पीतल के पात्र से अभिप्राय नहीं है अपितु दीप-शिखा या अग्नि से।

एक बात बहुत ही विचित्र कही। शं० स्वा० कहते हैं कि जीव शरीर के परिमाण वाला नहीं है। इसलिए विभु है। हमको देखना है कि इस सूत्र में क्या है? सूत्र यह है:—

एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम्।

(२।२।३४)

इसका अर्थ हुआ "इसी प्रकार आत्मा का अकार्त्स्न्यम्" भी।

श्री शंकर स्वामी का कथन है कि यह सूत्र जैनियों के इस सिद्धान्त का खण्डन करता है कि जीव का परिमाण शरीर के परिमाण के बराबर होता है। क्योंकि यह जीव का परिमाण शरीर के परिमाण के बराबर हो तो बच्चे का जीव छोटा और युवा का बड़ा होना चाहिये क्योंकि बच्चे का शरीर छोटा और युवा का बड़ा होता है। दूसरे हाथी

के शरीर से निकल हुआ जीव चींटी की योनि में कैसे प्रवेश करे और चींटी के शरीर से निकला हुआ हाथी के शरीर में कैसे ?

परन्तु जीव के शरीर-परिमाणी न होने से विभुत्व कैसे सिद्ध हुआ ? यह तो अणुत्व का हेतु है। जीव अणु होने से चींटी और हाथी दोनों के शरीर में प्रवेश कर सकता है। शरीर घटता बढ़ता है जीव नहीं। मैं एक छोटे कमरे में भी रह सकता हूँ और एक विशाल भवन में भी। शर्त केवल एक है। मेरे रहने के कमरे से मेरा शरीर छोटा होना चाहिये। इससे जीव का अणुत्व सिद्ध है। इससे भी आगे चलिये। इस युक्ति से जीव का विभुत्व प्रतिषिद्ध (खण्डित) भी है। क्योंकि यदि जीव विभु होता तो चींटी के शरीर से हाथी के या हाथी के शरीर से चींटी में जाने की न आवश्यकता होती न संभव ही था। देखो "उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्" (वे० २।३।१९)।

(४) शां० भा०—(क) तथा च—"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते" (श्वे० ५।९) इत्यणुत्वं जीवस्योक्त्वा तस्यैव पुनरानन्त्यमाह।

(ख) तदेवमेव समञ्जसं स्याद् यद्यौपचारिकमणुत्वं जीवस्य भवेत् पारमार्थिकं चानन्त्यम्। न ह्युभयं मुख्यमवकल्पेत।

(ग) न चानन्त्यमौपचारिकमिति शक्यं विज्ञातुम्, सर्वासूप-निषत्सु ब्रह्मात्मभावस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात्।

(घ) तथेतरस्मिन्नप्युन्माने 'बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्र-मात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः' (श्वे० ५।८) इति च बुद्धिगुणसंबन्धे-नैवाराग्रमात्रतां शास्ति न स्वेनैवात्मना।

(शां० भा० २।३।२९ पृष्ठ २८६)

(क) श्वे० ५।९ में जीव को अणु भी कहा है और अनन्त भी। (ख) यह तभी ठीक हो सकता है कि अणुत्व को उपचार की भाषा मानें और अनन्तत्व को परमार्थ की भाषा। दोनों को मुख्य नहीं मान

सकते। (ग) अनन्तत्व को उपचार की भाषा नहीं मान सकते क्योंकि सब उपनिषदों में जीव को ब्रह्म बताया है। (घ) श्वे० ६।८ में बुद्धि गुण के सम्बन्ध से ही आत्मा का अणुत्व बताया है स्वयं अपने स्वरूप से नहीं।

हमारी आलोचना—आपने यह तो मान लिया कि श्वेताश्वतर में जीव को अणु माना है। केवल आपका कहना यह है कि अनन्त भी माना है। अतः अणुत्व को उपचार की भाषा समझनी चाहिये। हमारा कहना है कि आप किसी को भी औपचारिक न मानिये। केवल 'अनन्त' के अर्थ पर विचार कीजिये। 'अनन्त' और 'विभु' में भेद है। उपनिषत् 'विभु' नहीं बताती, अनन्त बताती है। प्रत्येक अणु अनन्त होता है क्योंकि उसका न आदि होता है न अन्त। वह अमर होता है। आपने श्वेताश्वतर उपनिषत् के ५।८ को उद्धृत तो ठीक किया परन्तु अर्थ मूल से सर्वथा विपरीत किया। उपनिषत् कहती है :—

"बुद्धिगुणेन आत्मगुणेन चैव"

अर्थात् बुद्धि के गुण से तथा आत्मगुण से। आप अर्थ करते हैं "बुद्धिगुण संबन्धेनैव" "न स्वेनैवात्मना"। आपने 'न' अपनी ओर से जोड़ कर अर्थ का अनर्थ कर दिया।

जब अर्थ करने का यह हाल है तो अन्य उपनिषदों की बात क्यों छेड़ते हैं। वे तो आपके हाथ में मोम की नाक हैं। जोड़ दो, घटा दो, खींच दो, सिकोड़ दो, मुख्य को उपचार कह दो, उपचार को मुख्य कह दो।

सर्वथा व्यवहर्त्तव्यं कुतोऽह्यवचनीयता।

(५) शां० स्वा०—मिथ्याज्ञानपुरः सरोऽयमात्मनो बुद्ध्युपाधि-संबन्धः॥

(शां० भा० २।३।३० पृष्ठ २८८)

आत्मा का यह बुद्धि-उपाधि-सम्बन्ध मिथ्याज्ञान के कारण है।

हमारी आलोचना—किसके मिथ्याज्ञान के? जीव के या ब्रह्म के? ब्रह्म तो सर्वज्ञ है। इसको मिथ्याज्ञान कैसा? 'जीव के' कहो तो जीव

और ब्रह्म का भेद सिद्ध होता है। यदि कहो कि मिथ्याज्ञान एक तीसरी (द्रव्यान्तर) है जो जीव या ब्रह्म को पकड़ती फिरती है। तो द्वैत से भी आगे त्रैत सिद्ध हो जायगा। यदि कहो कि मिथ्याज्ञान मिथ्या कल्पना है तो हम आपके ही शब्दों को दुहरा देंगे :—

कल्पितानामवस्तुत्वादवस्त्वेव संयोगः"

(शां० भा० २।२।१२ पृष्ठ २३२)

आपने अपने शस्त्रालय में अनेक ऐसे शस्त्रों का संचयन कर दिया है जिनसे स्वयं आपके सिद्धान्तों का खण्डन हो जाता है।

(१) कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्। (२।३।३३)

कर्त्ता चायं जीवः स्यात्। कस्मात्। शास्त्रार्थवत्त्वात्। एवं च 'यजेत' 'जुहुयात्'. 'दद्यात्' इत्येवंविधं विधि शास्त्रमर्थवद् भवति। अन्यथा तदनर्थकंस्यात्॥ (शां० भा० २।३।३३ पृष्ठ २६०)

यह जीव कर्त्ता है। अर्थात् इसमें कर्तृत्व है। क्यों? यदि कर्तृत्व शून्यजीव हो तो शास्त्र के ऐसे विधिवाक्य अनर्थक हो जायं यज्ञ करो,' "आहुति दो', 'दान करो' आदि!

(२) विहारोपदेशात् (२।३।३४)

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यज्जीवं प्रक्रियायां संध्ये स्थाने विहार-मुपदिशति।—'स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' (बृ० ४।३।१८) इति, 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' (बृ० २।१।१८) इति च।

(शां० भा० २।३।३८ पृष्ठ २६०)

यहाँ भी जीव का कर्तृत्व सिद्ध है क्योंकि जीव विषय में कहा है कि वह स्वप्न में फिरता है, वह अमर इच्छा पूर्वक विचरता है, 'अपने शरीर में इच्छा पूर्वक विचरता है।

(३) उपादानात् (२।३।३५)

इतश्चास्य कर्तृत्वं यजजीव प्रक्रियायामेव करणानामुपादानं

संकीर्तयति 'तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' (बृ० २।१।१७) इति 'प्राणान् गृहीत्वा' (बृ० २।१।१८) इति च

इन्द्रिय आदि उपकरणों का 'लेना' पाया जाता है। 'प्राणों को लेकर' ऐसा आया है।

(४) व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देश विपर्ययः। (२।३।३६)

इतश्च जीवस्य कर्तृत्वं, यदस्य लौकिकीषु वैदिकीषु च क्रियासु कर्तृत्वं व्यपदिशति शास्त्रं—'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' (तै० २।५।१) इति

जीवका कर्तृत्व लौकिकी और वैदिकी क्रियाओं में लिखा हुआ है।

पूर्व पक्ष—विज्ञान शब्दो बुद्धौ ˆ । कथमनेन जीवस्य कर्तृत्वं सूच्यते। इति

विज्ञान शब्द तो यहाँ बुद्धि के लिये आया है। फिर जीव का कर्तृत्व कैसे सूचित हुआ?

उत्तर पक्ष—नेत्युच्यते। जीवस्यैवैष निर्देशो न बुद्धेः। न चेज्जीवस्य स्यान्निर्देश विपर्ययः स्यात्। तथा

(शां० भा० २।३।३६ पृष्ठ २६०)

नहीं। जीवका ही है। बुद्धि का नहीं। यदि जीव का न होता तो शब्द अन्यथा होते।

(५) उपलब्धिवदनियमः। (२।३।३७)

यथा यमात्मोपलब्धिं प्रति स्वतन्त्रोऽप्यनियमेनेष्टमनिष्टं चोपलभत एवमनियमेनैवेष्टमनिष्टं च संपादयिष्यति।

(शां० भा० २।३।३७ पृष्ठ २६१)

जैसे यह आत्मा आँख द्वारा इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकार के रूप ——है उसी प्रकार इष्ट और अनिष्ट फल वाले कामों को भी कर है।

न च सहायापेक्षस्य कर्तुः कर्तृत्वं निवर्तते । भवति ह्येधोदकाद्यपेक्षस्यापि पक्तुः पक्तृत्वम् । सहकारि वैचित्र्याच्च चेष्टानिष्टार्थ क्रियायामनियमेन प्रवृत्तिरात्मनो न विरुध्यते ।

(शां० भा० २।३।३७ पृष्ठ २६१)

सहायता लेने से कर्त्ता का कर्तृत्व नहीं जाता। इंधन, जल आदि की सहायता लेता हुआ भी पाचक पाचक ही है। सहकारी पदार्थों की विचित्रता से कर्त्ता के कर्तृत्व में कोई भेद नहीं आता चाहे क्रिया अनिष्ट हो या इष्ट।

(६) शक्तिविपर्ययात् (२।३।३८)

यदि पुनर्विज्ञान शब्द वाच्या बुद्धिरेव कर्त्री स्यात् ततः शक्तिविपर्ययः स्यात् । (शां० भा० २।३।३८ पृष्ठ २६१)

यदि विज्ञान शब्द वाची बुद्धि में ही कर्तृत्व माना जाय तो स्थान में कर्तृकारक बुद्धि के साथ लाना पड़ेगा। फिर बुद्धि के लिये 'मैं' शब्द प्रयुक्त होगा।

(७) समाध्यभावाच्च। (२।३।३९)

योऽप्ययमौपनिषदात्मप्रतिपत्तिप्रयोजनः समाधिरुपदिष्टो वेदान्तेषु 'आत्मावा अरे द्रष्टव्य' इत्यादि (बृ० २।४।५)……… ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम् । (मु० २।२।६) इत्येवं लक्षणः, सोऽप्यसत्यात्मनः कर्तृत्वे नोपपद्येत ।

(शां० भा० २।३।३९ पृष्ठ २६२)

यदि जीव में कर्तृत्व न माना जाय तो उपनिषदों की 'ध्यान' की व्यवस्था अनर्थक हो जाय।

हमारी आलोचना—इन सात सूत्रों में जीव का कर्तृत्व सिद्ध किया गया है। शां० भा० में इस का सुन्दर प्रतिपादन है। परन्तु इससे जीव का ब्रह्म से भेद ही पुष्ट होता है। यदि हम केवल इतने ही भाष्य

को देखते तो कभी न समझते कि शांकर मत में जीव-ब्रह्म का अभेद है। शकर स्वामी इस स्पष्ट भेद का प्रतिख्यान नहीं कर सके।

यदि इन सूक्तियों को सूत्र १।१।४ के भाष्य से मिलाया जाय तो आकाश पाताल का भेद प्रतीत होता है। वहाँ तो 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात' आदि विधि परक वाक्यों की अवहेलना की गई है :— (देखो पृष्ठ १०) ब्रह्म-उपासना का भी खण्डन है :—

न तु तथा ब्रह्मण उपासना विधिशेषत्वं संभवति, एकत्व हेयोपादेय शून्यतया क्रिया कारकादि द्वैत विज्ञानोपमर्दोपपत्तेः।

(पृष्ठ ११)

अर्थात् जब द्वैत है ही नहीं तो कौन किसकी उपासना करे ?

बादरायण के २।३।३३ का जैमिनि के १।२।१ सूत्र से मिलान हो जाता है। परन्तु शंकर स्वामी बीच में बाधक होते हैं। (पूरी चतुः सूत्री पढ़िये)।

इसके अतिरिक्त एक और बात है। अब तक तो आत्मा की प्रवृत्ति बुद्धि सत्व की उपाधि के कारण मानते थे। अब २।३।३७ के भाष्य में कितनी प्रबलता के साथ जीव का 'कर्तृत्व' स्वीकार किया। यहाँ स्पष्ट कह दिया कि अन्तः करण करण है और जीव कर्त्ता। न उपाधि है न अध्यास ! न घटाकाश मठाकाश का दृष्टान्त।

(२५)

यथा च तक्षोभयथा। (२।३।४०)

शं० स्वा०—त्वर्थे चायं चः पठितः। नैवं मन्तव्यं स्वभाविकमेवात्मनः कर्तृत्वमग्नेरिवौष्ण्यमिति। यथा तु तक्षा लोके वास्यादिकरणहस्तः कर्ता दुःखी भवति स एव स्वगृहंप्राप्तो विमुक्तवास्यादिकरणः स्वस्थो निर्वृतो निर्व्यापारः सुखी भवति एवं अविद्याप्रत्युपस्थापित द्वैतसंपृक्त आत्मा स्वप्नजागरितावस्थयोः कर्ता दुःखी भवति। इत्यादि (शां० भा० २।३।४ पृष्ठ २६३)

यहाँ 'च' 'तु' के अर्थ में आया है। ऐसा नहीं मानना चाहिये कि आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक है जैसे अग्नि में उष्णता। जैसे बढ़ई उसी समय तक कर्त्ता और दुःखी है जब तक हाथ में औजार हैं। जब औजार रख कर घर चला आया तब न दुःखी है न कर्त्ता है। इसी प्रकार आत्मा जब तक अविद्या के कारण द्वैत से मिला हुआ है तब तक कर्त्ता भी है और दुःखी भी।

हमारी आलोचना—यहाँ 'च' का अर्थ 'तु' करके पिछले सूत्रों में कही बातों का खण्डन करना सर्वथा अनुचित है। सूत्र में 'चकार' से पिछली बातों की पुष्टि की गई है। सूत्र का शाब्दिक अर्थ यह है :—

"और जैसे तक्षा दोनों प्रकार से"

इसमें न तो अविद्या का उल्लेख है। न स्वाभाविक कर्तृत्व के खण्डन का। यहाँ तो केवल यह बताया है कि जैसे बढ़ई चाहे तो मेज बनावे चाहे न बनावे। इसी प्रकार जीवात्मा 'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथा वा कर्त्तुम्' सभी बातों में समर्थ है। करे, न करे, उल्टा करे। इसी से तो उसका कर्तृत्व पाया जाता है। भाव या अभाव क्रिया का होता है कर्तृत्व का नहीं। यदि मैं लिखना बन्द कर दूँ तो लेखन-शक्ति का नाश प्रकट नहीं होता। इसी प्रकार जीव का कर्तृत्व तो स्वाभाविक ही है जैसा पिछले सूत्रों में वर्णन किया गया है। उस कर्त्तृत्व का आविर्भाव परिस्थिति के अनुसार होता है। शंकर स्वामी को अपने इन वचनों की स्मृति नहीं रही :—

(१) जीवस्यैवैष निर्देशो न बुद्धेः।

(२) न च सहायापेक्षस्य कर्तुः कर्तृत्वं निवर्तते।

(शां० भा० २।३।३६।३७ पृष्ठ २६०, २६१)

बढ़ई के औजार तो अविद्या कल्पित नहीं हैं। इसी सूत्र के भाष्य में शंकर स्वामी ने कुछ अप्रासांगिक शंकायें भी उठाई इनको हम यहाँ देते हैं :—

शां० स्वा० न स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मनः संभवति अनिर्मोक्ष प्रसङ्गात् । इत्यादि (शां० भा० २।३।४० पृष्ठ २९२)

यदि आत्मा का कर्तृत्व स्वाभाविक हो तो मोक्ष न हो सकेगी। जैसे अग्नि से गरमी नहीं दूर हो सकती उसी प्रकार आत्मा से कर्तृत्व दूर न होगा। जब तक कर्तृत्व दूर न होगा पुरुषार्थ सिद्धि न होगी। क्यों? "कर्तृत्वस्य दुःख रूपत्वात्"। कर्तृत्व दुःखरूप है।

पूर्व पक्ष—स्थितायामपि कर्तृत्वशक्तौ कर्तृत्वकार्य्य परिहारात् पुरुषार्थः सेत्स्यति। (पृष्ठ २९२)

कर्तृत्व शक्ति रह जायगी। कार्य्य न रहेगा। इससे पुरुषार्थ की सिद्धि हो सकेगी। जैसे काठ में अग्नि रहती है पर जलाती नहीं।

शां० स्वा०—न। निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन संबन्धेन संबद्धानामत्यन्त परिहारासंभवात्। (पृष्ठ २९२)

नहीं। अत्यन्त परिहार तो न होगा। शक्ति तो बनी ही रही।

पूर्व पक्ष—मोक्षसाधन विधानान्मोक्षः सेत्स्यति। (पृष्ठ २९२)

मोक्ष साधन के विधान से मोक्ष हो जायगा।

शां० स्वा०—न। साधनायत्तस्यानित्यत्वात्। (पृष्ठ २९२)

नहीं, साधन तो अनित्य होते हैं फिर उनका फल मुक्ति भी अनित्य होगी।

पूर्व पक्ष—पर एव तर्हि संसारी कर्त्ता भोक्ता च प्रसज्येत। परस्मादन्यश्चेच्चितिमाञ्जीवः कर्ता बुद्धयादिसंघातव्यतिरिक्तो न स्यात्। (पृष्ठ २९२)

परब्रह्म से भिन्न तथा बुद्धि आदि संघात से अलग यदि कोई जीव नहीं है तो मानना पड़ेगा कि परब्रह्म ही संसारी होकर कर्त्ता भोक्ता है।

शां० स्वा०—न। [illegible] कर्तृत्वभोक्तृ-[illegible]गोः। (शां० भा० २।३।४० पृष्ठ २९२)

नहीं। यह कर्तृत्व भोक्तृत्व तो अविद्या के कारण हैं।

हमारी आलोचना—(१) पहली बात तो प्रसंग की है। सूत्र में मोक्ष का कोई प्रसंग नहीं। पिछले सूत्रों में भी नहीं। केवल ध्यान का है।

(२) दूसरी बात यह है कि कर्तृत्व को दुःख रूप बताना भूल है। दुःख फल है दुष्टकर्म का। दुष्टकर्म कर्तृत्व का अनिष्ट आविर्भाव है। उसी के इष्ट आविर्भाव को पुण्य कहते हैं जिसका फल सुख होता है। ऐसा न मानोगे तो कुछ कर्मफल की व्यवस्था भी न रहेगी।

(३) मोक्ष में यदि कर्तृत्व का विनाश माना जाय तो मुक्त और जड़ पदार्थ में क्या भेद रहेगा? ऐसा मोक्षानन्द तो आलसियों के लिये ही ठीक होगा। यदि दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति को ही मोक्ष माना जाय तो प्रत्येक जड़ पदार्थ को मुक्ति स्वयं प्राप्त है। मेरी मेज़ मुझसे बहुत अच्छी है। वह नित्य मुक्त है मैं बद्ध हूँ।

(४) मोक्ष के अनित्य मानने में क्या हानि? यदि बन्ध के पीछे मोक्ष हुआ। तो मोक्ष अनादि न ठहरा। अनन्त कैसे होगा?

(५) अविद्या के कारण कर्तृत्व भोक्तृत्व है तो बताइये किस की अविद्या के। इसकी मीमांसा हम पूर्व कर चुके हैं। पीसे को क्या पीसा जाय?

(२६)

परात्तु तच्छ्रुतेः। (२।३।४१)

शं० स्वा०—अविद्यावस्थायां कार्य्यकरणसंघाताविवेकदर्शिनो जीवस्याविद्यातिमिरान्धस्य सतः परस्मादात्मनः कर्माध्यक्षात् सर्वभूताधिवासात् साक्षिणश्चेतयितुरीश्वरात् तदनुज्ञया 'कर्तृत्व-भोक्तृत्व लक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः। तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्ष सिद्धिर्भवितुमर्हति। कुतः। तच्छ्रुतेः।

(शां० भा० २।३।४१ पृष्ठ २६५-२६७)

अविद्या अवस्था में कार्य्य-करण-संघात द्वारा उत्पन्न हुये अविवेक के कारण अन्धकार में अंधे के समान जीव के प्रपंच की सिद्धि सत्, कर्माध्यक्ष, सब भूतो में व्यापक साक्षी, चेतन ईश्वर के द्वारा ही होती है और उसी के अनुग्रह से ज्ञान उत्पन्न होकर मुक्ति होती है। ऐसा ही वेद में कहा है इत्यादि।

हमारी आलोचना—कितना सुन्दर वर्णन है ब्रह्म और जीव के भेद का। जीव अविवेकी है, ईश्वर सत् है, पर (बड़ा) है, कर्माध्यक्ष है, सर्व भूताधिवासी है, साक्षी है उसकी कृपा से ज्ञान उत्पन्न होता है। इससे अच्छा निरूपण ब्रह्म और जीव के भेद का कोई द्वैतवादी भी न करेगा! अविद्या के विषय में पहले कह चुके हैं।

अगले सूत्र में इसका और अच्छा निरूपण है। परन्तु है पूरा द्वैत। अभेद का नाम नहीं। देखिये।

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहित प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः। (२।३।४२)

शां० भा०—जीवकृतधर्माधर्म वैषम्यापेक्ष एव तत् तत् फलानि विषम विभजेत् पर्जन्यवदीश्वरो निमित्तत्वमात्रेण। (पृ० २६६)

जीव के किये हुये धर्म अधर्म भेद की अपेक्षा से ही फल भी भिन्न-भिन्न होते हैं। बादल सभी पेड़ों पर बरसता है परन्तु भिन्न-भिन्न वृक्ष अपने भेदों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न फल लाते हैं। इसी प्रकार ईश्वर भी सब को प्रेरणा करता है परन्तु निमित्त मात्र।

यदि जीव कर्म करने में सर्वथा ईश्वर के आधीन होता तो विधि और निषेध व्यर्थ हो जाते।

(२७)

अंशांशीभाव

(१) जीव ईश्वरस्यांशो भवितुमर्हति, यथाऽग्नेर्विस्फुलिङ्गः। अंश इवांशः। नहि निरवयवस्य मुख्योंऽशः संभवति।

(शां० भा० २।३।४३, पृष्ठ २६७)

जीव ईश्वर का अंश कहा जा सकता है जैसे अग्नि की चिनगारियां। अंश के समान अंश। वास्तविक अंश नहीं। क्योंकि ईश्वर तो निरवयव है। उसके टुकड़े नहीं हो सकते। इसलिये उसके वास्तविक अंश नहीं हो सकते।

(२) यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवं पर ईश्वरोऽनुभवतीति प्रति जानीमहे। (शां० भा० २।३।४६ पृष्ठ २६६)

जैसे जीव संसार के दुःख का अनुभव करता है। ईश्वर नहीं करता। अविवेक के कारण।

(३) आभास एव च। (२।३।५०)

आभास एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादि वत् प्रतिपत्तव्यः। न स एव साक्षात्। नापि वस्त्वन्तरम्। अतश्च यथा नैकस्मिञ्जलसूर्यके कम्पमाने जलसूर्यकान्तरं कम्पते, एवं नैकस्मिञ्जीवे कर्मफलसंबन्धिनि जीवान्तरस्य तत्संबन्धः। एवमप्यव्यतिकरः एव कर्मफलयोः। आभासस्य चाविद्याकृतत्वात्तदाश्रयस्य संसारस्याविद्याकृतत्वोपपत्तिरिति।

(शां० भा० २।३।५० पृष्ठ ३०२)

जीव को ईश्वर का आभास मानना चाहिये जैसे जल में सूर्य्य की छाया। *वह साक्षात् ऐसा नहीं है*। न अन्य वस्तु है। जैसे एक जल में सूर्य्य की छाया के कंपाने से दूसरे जल में सूर्य्य की छाया नहीं कंपती। ऐसे ही एक जीव में कर्म फल का जो सम्बन्ध है वह दूसरे में नहीं। आभास तो अविद्याकृत होता है। इसलिये संसार भी अविद्या कृत है।

हमारी आलोचना—यहाँ अंश और आभास दो शब्द हैं जो बहुधा लोक में भी प्रयुक्त होते हैं। और प्रायः लोगों में भ्रान्ति फैली हुई है कि जीव ब्रह्म का अंश है या आभास है। यहाँ 'अंश इव अंशः' और 'न स एव साक्षात्' कह कर बता दिया गया कि जीव ईश्वर क

न तो वास्तविक अंश है न छाया। क्योंकि ईश्वर अखण्ड है। और विभु है, अंश होता है किसी अवयवी का। और छाया पड़ती है किसी पदार्थ की किसी दूसरे दूरस्थ पदार्थ में। ईश्वर से दूरस्थ कोई पदार्थ नहीं जिसमें ईश्वर की छाया पड़ सके। इससे प्रतिबिम्बवाद का भी खण्डन हो गया। हाँ, एक अर्थ में जीव को ईश्वर का अंश भी मान सकते हैं और आभास भी। वह है समानता में। दोनों चेतन हैं। जल में सूर्य की किरणों का आभास भी चकाचौंध उत्पन्न कर देती है। लोक में रिवाज भी है कि जब कोई किसी दूसरे के समान होता है तो कहते हैं यह उसकी छाया है। यह अंशत्व और आभासत्व बौद्धिक तथा औपचारिक है वास्तविक नहीं।

श्री शंकर स्वामी ने अविद्या का पचड़ा यहाँ भी लगा दिया। यह पुरानी बात है। पहले कही भी जा चुकी है।

(४) सत्यपि जीवेश्वरयोरंशांशिभावे प्रत्यक्षमेव जीवस्येश्वरविपरीतधर्मत्वम्। किं पुनर्जीवस्येश्वरसमानधर्मत्वं नास्त्येव। न नास्त्येव। विद्यमानमपि तत् तिरोहितमविद्यादिव्यवधानात्।

(शां० भा० ३।२।५ पृष्ठ ३४७)

जीव और ईश्वर में अंश-अंशी भाव होने पर भी जीव और ईश्वर का विपरीत-धर्मत्व प्रत्यक्ष ही है।

प्रश्न—क्या जीव और ईश्वर में समान धर्मत्व है ही नहीं ?

उत्तर—ऐसा नहीं कि न हो। समान धर्मत्व विद्यमानता है परन्तु अविद्या के परदे में छिपा हुआ है।

हमारी आलोचना—जीव ब्रह्म का अंश किस अर्थ में है यह ऊपर दे चुके। यहाँ ब्रह्म-जीव भेद स्पष्ट शब्दों में वर्णित है। समानधर्मत्व का अर्थ अनन्यत्व नहीं है। शां० स्वामी भी 'समानधर्मत्व' शब्द का प्रयोग करते हैं 'अनन्यत्व' का नहीं। समानधर्मत्व द्वैत का बोधक है। अद्वैत का नहीं। जैसे गाय और नील गाय में। जीव में ईश्वर के

समान बहुत से गुण हैं जो अविद्या के कारण जीव को विदित नहीं होते।

(२८)

(१) स एव तु जीवः सुप्तः स्वास्थ्यंगतः पुनरुत्तिष्ठति नान्यः। कस्मात्। कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः।

(शां० भा० ३।२।६, पृष्ठ ३५२)

(२) विभज्य हेतुं दर्शयिष्यामि। कर्मशेषानुष्ठानदर्शनात् तावत् स एवोत्थातुमर्हति नान्यः। (पृ० ३५२)

(३) नह्यन्यदृष्टमन्योऽनुस्मर्तुमर्हति। (पृ० ३५२)

(४) शब्देभ्यश्च तस्यैवोत्थानमगम्यते। तथाहि 'पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्या द्रवति बुद्धान्तायैव। (बृ० ४।३।१६)

(५) कर्मविद्याविधिभ्यश्चैवमेवावगभ्यते। अन्यथाहि कर्म विद्याविधयोऽनर्थकाः स्युः। (पृ० ३५३)

(६) अपि चान्योत्थानपक्षे यदि तावच्छरीरान्तरे व्यवहरमाणो जीव उत्तिष्ठत् तत्रत्यव्यवहारलोपप्रसङ्गः स्यात्।

(७) अथ मुक्त उत्तिष्ठेदन्तवान्मोक्ष आपद्येत।

(८) एतेनेश्वरस्योत्थानं प्रत्युक्तम्। नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात्।

(९) युक्तं तत्रविवेककारणाभावाज्जलबिन्दोरनुद्धरणम्। इह तु विद्यते विवेक कारणं कर्म चाविद्या चेतिवैषम्यम्॥

(शां० भा० ३।२।६ पृष्ठ ३५३)

प्रश्न यह था कि जो जीव सुषुप्ति अवस्था में जाता है। क्या जागने पर वही जीव फिर जाग्रति में वापिस आ जाता है? यदि समुद्र में एक बूँद मिल जाय तो फिर वही बूँद बाहर निकले ऐसा आवश्यक नहीं है। इस पर शंकराचार्य जी उत्तर देते हैं कि—

(१) वही जीव जो सोया था स्वस्थ होकर फिर जाग उठता है दूसरा नहीं। इसकी पुष्टि में चार हेतु हैं—कर्म, अनुस्मृति, शब्द और विधि।

(२) एक एक करके हेतु देते हैं। कल आधा काम समाप्त करके सो गया। आज जागने पर शेष आधे को समाप्त कर देता है। यदि दूसरा कोई जीव उठा होता तो उसे क्या मालूम था कि कौन काम किस अवस्था में छूटा हुआ है। रात को किसी किताब के १८ पृष्ठ पढ़ कर सो गये तो प्रातःकाल १६वें से आरम्भ कर देते हैं। (कर्म)

(३) एक का देखा हुआ दूसरे को याद नहीं रह सकता। परन्तु सोने से पूर्व देखी हुई चीजें याद रहती है। (अनुस्मृति)

(४) बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में भी यह लिखा है कि वही जीव उठता है। (शब्द)

(५) यदि कोई दूसरा ही उठ बैठता न कि सोने वाला तो केवल सोने मात्र से मुक्ति हो जाती। विधि के उपदेश की क्या आवश्यकता थी ? कर्मफल की पूरी व्यवस्था नष्ट हो जाती।

(६) यदि यह माना जाय कि एक शरीर में काम करता हुआ जीव सोने के पश्चात् दूसरे शरीर में जाग उठता है तो पहले शरीर में किया हुआ काम अधूरा रह जायगा।

(७) यदि कहो कि मुक्त जीव उठ सकता है तो मोक्ष अन्त वाली हो जायगी। मुक्त होकर भी जीव बद्ध हो सकेगा। जो अविद्या से निवृत्त हो गया वह फिर क्यों प्रपंच में फँसे ?

(८) यदि कहो कि ईश्वर उठ बैठता है तो वह भी ठीक नहीं। क्योंकि वह तो सदा अविद्या से मुक्त है।

(६) जल बिन्दुओं में विवेक नहीं। अतः वहाँ कोई एक बूँद उठ खड़ी हो। परन्तु जीव तो विवेक वाला है। और अविद्या (मिथ्या-ज्ञान) भी लगी हुई है। इसलिये उदाहरण विषम है।

हमारी आलोचना—यदि जीव ही ब्रह्म होता तो पहले तो यह कहना असंगत था कि सुषुप्ति में जीव ब्रह्म से मिलता है। दूसरे ऊपर के सभी विकल्प और उनकी मीमांसा निरर्थक हो जाती।

(८९)

(१) न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपपद्यते न ह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात्।

(२) अस्तु तर्हि स्थानतः पृथिव्याद्युपाधियोगादिति। तदपि नोपपद्यते। नह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति।

(३) नहि स्वच्छः सन् स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति भ्रममात्रत्वादस्वच्छताभिनिवेशस्य।

(शां० भा० ३।२।११ पृष्ठ ३५५ ५६)

(१) परब्रह्म में स्वतः दोनों प्रकार के लिंग नहीं हो सकते। यह नहीं हो सकता कि किसी वस्तु में रूपादि हों भी और न भी हों। क्योंकि यह परस्पर विरुद्ध हैं।

(२) पृथिवी आदि की उपाधि के कारण भी विरुद्ध धर्म नहीं आ सकते। उपाधि के भेद से किसी वस्तु में विपरीत स्वभाव नहीं आ सकते।

(३) स्वच्छ स्फटिक लाख के संसर्ग से अस्वच्छ नहीं हो जाता। अस्वच्छता तो भ्रम मात्र है।

हमारी आलोचना—यहाँ स्पष्ट कह दिया कि उपाधि के कारण ब्रह्म के स्वभाव में भेद नहीं पड़ता। फिर जीव का जीवत्व कहाँ से आया? क्योंकि शांकरमत में जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं। इन सब की तुलना कीजिये शंकर स्वामी के दूसरे कथन से। देखिये कितना विरोध हैं :—

एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधि संबन्धं निरस्तोपाधि संबन्धं च उपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदान्तेषूपदिश्यते।

(शां० भा० १।१।१२ पृष्ठ ३५)

एक ही ब्रह्म उपास्यत्व और ज्ञेयत्व के कारण वेदान्त में उपाधि सहित और उपाधि रहित दोनों प्रकार का बताया गया है।

(४) उपाधीनां चाविद्या प्रत्युपस्थापितत्वात् ।।

(शां० भा० ३।२।११ पृष्ठ ३५६)

स्फटिक के साथ लाल लाख की उपाधि तो सच्ची है। परन्तु ब्रह्म की तो उपाधि भी अविद्या के कारण है।

हमारी आलोचना—शंकर स्वामी का तात्पर्य है कि स्फटिक में जो लाख की छाया पड़ने से स्फटिक लाल दिखाई देता है। इसमें स्फटिक तथा लाख दोनों सत्य हैं। मिथ्या लाख सत्य स्फटिक में लाली उत्पन्न नहीं कर सकती। परन्तु ब्रह्म की उपाधि तो अविद्या वश है। हमारा यह कहना है कि यदि ब्रह्म से इतर कोई वस्तु नहीं और अविद्या कोई वस्तु नहीं तो उपाधि का प्रश्न ही नहीं उठता। और जीव की जो स्वप्न, सुषुप्ति आदि में अवस्थायें होती हैं वे जीव ब्रह्म के भेद को सिद्ध करती हैं। इसी प्रकार का कथन शां० भा० के ३।२।१५ के अन्त में किया गया है। परन्तु वह भी आपत्ति जनक ही है।

(३०)

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्। (३-२-२५)

वेदान्तेष्वभ्यासेनासकृज्जीवप्राज्ञयोरभेदः प्रतिपाद्यते।

(शां० भा० पृष्ठ ३६७)

शंकर स्वामी ने यहाँ ब्रह्म-जीव का अभेद माना है। सूत्र में तो केवल इतना है कि समाधि में जीव को ब्रह्म रूपता प्राप्त हो जाती है। इसको सूत्रकार ने 'अवैशेष्यं' कहा है। क्योंकि उपासना आदि कर्म में अभ्यास करता है, और इस प्रकार जीव का अन्धकार नष्ट होकर प्रकाश की उपलब्धि हो जाती है। यदि स्वाभाविक अभेद होता तो कर्म में अभ्यास की आवश्यकता न थी। शंकर स्वामी ने कर्म का अर्थ 'कर्मसूपाधिभूतेषु' किया है। यह कैसे ? उपाधि का सूत्र में गन्ध भी नहीं।

कई पिछले सूत्रों से प्रकरण भी यही चला आता है कि ब्रह्म का उपासक ब्रह्म को 'अव्यक्त', अनन्त' आदि रूप में अनुभव करता है।

(३१)

परमतः सेतून्मानसंबन्ध भेदव्यय देशेभ्यः। (३-२-३१)

पूर्व पक्ष—परमतो ब्रह्मणोऽन्यत् तत्वं भवितुमर्हति कुतः—सेतु व्यपदेशात्, उन्मान व्यपदेशात्, संबन्ध व्यपदेशात्, भेद व्यपदेशाच्चेति। (शां० भा० पृष्ठ ३६६)

परम ब्रह्म से भी इतर एक तत्व है। क्यों ? इस लिये कि श्रुति में ब्रह्म के साथ सेतु, उन्मान, संबन्ध और भेद शब्दों का प्रयोग किया है।

सेतु अर्थात् पुल तो तभी होगा जब पुल के पार भी कोई चीज़ हो, उन्मान अर्थात् माप तोल भी तभी होगी। संबन्ध और भेद भी उसी समय।

शां० स्वा० का उत्तर पक्ष—सामान्यात् तु। (३।२।३२)

(१) सेतु व्यपदेशादात्मनो लौकिक सेतुनिदर्शनेन सेतुवाह्य वस्तुतां प्रसञ्जयता मृद् दारुमयतापि प्रासज्येत। न चैतन्न्याय्यम्। अजत्वादि श्रुतिविरोधात् ··············सेतुरिव सेतुरिति प्रकृत आत्मा स्तूयते। सेतुं तीर्त्वेत्यपि तरतेरतिक्रमासंभवात् प्राप्त्यर्थ एव वर्तते। यथा व्याकरणं तीर्ण इति प्राप्त इत्युच्यते।

(शां० भा० पृष्ठ ३७०)

यदि सेतु का लौकिक सेतु से अत्यन्त सादृश्य लोगे तो ब्रह्म को मिट्टी और लकड़ी का बनाहुआ भी मानना पड़ेगा। परन्तु ब्रह्म तो अजन्मा है··········सेतु का अर्थ है सेतु के समान आत्मा ! सेतु को तरने का अर्थ है प्राप्त करना। जैसे व्याकरण तीर्थ होते हैं।

(२) बुद्ध्यर्थः पादवत्। (३।२।३३)

उन्मानव्यपदेशोऽपि न ब्रह्म व्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्व प्रतिपत्त्यर्थः किमर्थस्तर्हि ? बुद्ध्यर्थः, उपासनार्थ इति यावत्। (पृ० ३७१)

तात्पर्य यह है कि ब्रह्म को 'चतुष्पात्' इसलिये कहा है कि साधारण पुरुष उपासना कर सकें।

क्योंकि सभी तो परमात्मा को पूर्णरीत्या समझ नहीं सकते।

(३) स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्। (३।२।३४)

उपाधिभेदापेक्षयोपचर्यते न स्वरूपभेदापेक्षया प्रकाशादिवदित्युपमोपादानम्। (शां० भा० पृष्ठ ३७१)

भेद और संबन्ध भी उपाधि के भेद से हैं स्वरूप भेद से नहीं। प्रकाश के समान।

(४ तथान्यप्रतिषेधात्। (३।२।३६)

तथान्यप्रतिषेधादपि न ब्रह्मणः परं वस्त्वन्तरमस्तीति गम्यते। (शां० भा० पृष्ठ ३७२)

अन्य का निषेध किया गया है। इससे भी सिद्ध है कि ब्रह्म से इतर कोई वस्तु नहीं।

हमारी आलोचना—आपकी सेतु, उन्मान आदि की व्याख्या से यह सिद्ध नहीं होता कि ब्रह्म से इतर कोई अन्य वस्तु नहीं। यदि सेतु का अर्थ प्राप्ति है और उन्मान उपासना के लिये है तो भी अन्य वस्तु का अस्तित्व तो मानना ही पड़ेगा। हाँ। केवल यह कहा जा सकता है कि परम ब्रह्म से भी परम और कोई वस्तु नहीं।

यदि ३१वें सूत्र को पूर्व पक्ष न माना जाय और अगले सूत्र ३१वें सूत्र की व्याख्या मानें जाय तो भी कुछ हानि नहीं।

'स एवाधस्तात्' 'अहमेवाधस्तात्' 'आत्मैवाधस्तात्' (पृष्ठ ३७२) (छान्दोग्य ७।२५।१-२) से भी दूसरी वस्तु का अस्तित्व स्पष्ट होता है। अन्यथा 'अधः' का क्या अर्थ होगा। एक ही वस्तु हो तो क्या ऊपर और क्या नीचे? इसका स्पष्टीकरण तो बादरायण के अगले सूत्र से हो जाता है :—

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः। (३।२।३७)

अर्थात् 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्', 'अहमेवाधस्तात्' आदि वाक्यों से ब्रह्म

का 'सर्वगतत्व' या व्यापक होना पाया जाता है। शंकर स्वामी स्वयं लिखते हैं :—

'आयामशब्दो व्याप्तिवचनः शब्दः' (शां० भा० पृष्ठ ३७२)

'आयाम' शब्द का अर्थ है व्यापक होना। व्यापक के लिये व्याप्य भी तो हो। जब व्याप्य ही नहीं तो व्यापक कैसा ?

(३२)

धर्मं जैमिनिरत एव।

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्। (वेदान्त ३-२-४०-४१)

यह दो सूत्र कर्म-फल के सम्बन्ध में हैं। ३८वें सूत्र में कहा गया है 'फलमत उपपत्तेः'। अर्थात् कर्मों का फल स्वयं ईश्वर देता है। कर्म स्वयं फल नहीं देते। श्री शंकर स्वामी ४१वें सूत्र की व्याख्या में स्वयं लिखते हैं :—

कर्मापेक्षादपूर्वापेक्षाद्वा यथातथास्त्वीश्वरात् फलमिति सिद्धान्तः'। (शां० भा० ३।२।४१ पृष्ठ ३७४)

अर्थात् ईश्वर जीवों के कर्मों के अनुकूल या अपूर्व की अपेक्षा से फल देता है।

यह ठीक है। परन्तु इससे कर्म के करने वाले जीव और फल के देने वाले ईश्वर का भेद सिद्ध हो जाता है। यदि ब्रह्म और जीव एक ही हो तो कौन पाप करे और कौन दुःख रूपी दण्ड देवे ?

परन्तु शंकर स्वामी ने ४०वें सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है मानो जैमिनि जी को इससे विरोध है। वस्तुतः यह बात नहीं है। जैमिनि यह तो कहते हैं कि धर्म फल का दाता है। परन्तु यह नहीं कहते कि 'ईश्वरस्तु फलं ददातीत्यनुपपन्नम्'। यह श्री शंकर स्वामी के शब्द हैं जैमिनि जी के नहीं। धर्म को फलदाता मानना उपचार की भाषा है। क्योंकि धर्म के ही अनुकूल तो फल मिलेगा। 'अपूर्व' कहो, 'धर्म' कहो, बात एक ही है। ईश्वर बिना कर्म की अपेक्षा के तो फल देता नहीं।

अन्यथा उस पर निर्दयता का दोष लगेगा। यह कहना ठीक नहीं कि ईश्वर ही साधु या असाधु कर्म कराता है।

(३३)

उपचितापचित गुणत्वं हि सति भेद व्यवहारे सगुणे ब्रह्मण्युपपद्यते न निर्गुणे परस्मिन् ब्रह्मणि ॥

(शां० भा० ३।३।१२ पृ० ३८५)

बढ़ना, घटना आदि तो सगुण ब्रह्म में हो सकता है, निर्गुण परब्रह्म में नहीं।

हमारी आलोचना—सूत्र में सगुण और निर्गुण दो प्रकार के ब्रह्मों का उल्लेख नहीं है। वहाँ तो केवल यह प्रसंग था कि 'आनन्द' आदि गुणों का तो ब्रह्म के साथ सर्वत्र ही संबन्ध है। परन्तु 'प्रियशिरस्त्व' आदि का नहीं। यह तो उपासक अपनी अपेक्षा से प्रयुक्त करता है। ब्रह्म तो एक ही है। उपस्थित गुणों के अस्तित्व की भावना से सगुण और अनुपस्थित गुणों के नास्तित्व की भावना से निर्गुण। शांकराचार्य जी सगुण ब्रह्म और अपर ब्रह्म को व्यर्थ ही बीच में लाते हैं।

(नोट—ऊपर 'प्रियशिरस्त्व' का संकेत तैत्तिरीय उपनिषद् २।५ से है—'तस्य प्रियमेव शिरः, मोदोदक्षिणः पक्षः, प्रमोदः उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छप्रतिष्ठा।")

(३४)

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत्। (वे० ३।३।३७)

व्यतिहारोऽयमाध्यानायाम्नायते इतरवत्। यथेतरे गुणाः सर्वात्मत्वप्रभृतय आध्यानायाम्नायते तद्वत्। तथाहि विशिषन्ति समाम्नातार उभयोच्चारणेन 'त्वमहमस्म्यहं त्वमसि' इति तच्चोभयरूपायां मतौ कर्त्तव्यामर्थवद्भवति। अन्यथा हीदं विशेषेणोभयाम्नानमनर्थकंस्यात्। एकेनैव कृतत्वात् ॥

(शां० भा० ३।३।३७ पृष्ठ ४११)

जीवेशयोर्मिथोविशेषणविशेष्यभावो व्यतिहारः ।

जीव और ईश्वर के परस्पर एक दूसरे के विशेषण विशेष्य भाव को व्यतिहार कहते हैं।

जैसे सर्वात्मत्व आदि अन्य गुण ध्यान के लिये हैं इसी प्रकार यह व्यतिहार भी ध्यान के लिये है। जैसे कहा है "मैं तू हूँ और तू मैं है"। ध्यान के दोनों रूपों को मान कर ही यह कथन सार्थक हो सकता है। अन्यथा यह सब अनर्थक हो जायगा यदि एक ही माना जाय तो।

हमारी आलोचना—कुछ श्रुतियों में उल्लेख है कि 'मैं तू हूँ और तू मैं है'। इन कथनों से लोग जीव और ब्रह्म की एकता को मान बैठते हैं। परन्तु बादरायण इस सूत्र में स्पष्ट करते हैं कि ऐसा 'व्यतिहार' अर्थात् बदला केवल ध्यान के लिए है। अर्थात् ध्यान करने वाला ध्येय में इतना तन्मय हो जाता है कि वह अपने को भूल जाता है। शंकर स्वामी इसी प्रकार का अर्थ करते हैं। आगे चल कर वे लिखते हैं:—

न वयमेकत्वदृढीकारं वारयामः किं तर्हि व्यतिहारेण द्विरूपा मतिः कर्तव्या वचनप्रामाण्यान्नैक रूपेत्येतावदुपपादयामः।

(पृ० ४११)

जब शंकर जी से कहा गया कि ऐसा अर्थ करने से तो आप एकत्व के सिद्धान्त को ही मिटा देंगे तो उन्होंने यह कथन कह दिया कि—

"हम एकत्व को हटाना नहीं चाहते। हमारा तात्पर्य तो यह है कि व्यतिहार से द्विरूप मति होनी चाहिये। प्रमाण से एक रूपा मति सिद्ध नहीं होती।"

इस विचार श्रेणी पर विचार कीजिये। अन्य अनेकों स्थानों पर शा० स्वामी यही कहते हैं कि भेद भाव मिटा दो। यही सोचो कि तुम ब्रह्म हो। परन्तु यहाँ स्पष्ट कह दिया कि ध्यान हो ही नहीं सकता जब ध्यान करने वाला और जिसका ध्यान किया जाय वह भिन्न भिन्न न हों। जब मैं कहता हूँ कि 'मैं तू हूँ और तू मैं' तो मैं और तू का भाव भी

अलग अलग रहता है। अकेला बैठा हुआ मैं तो 'तू' का प्रयोग कर ही नहीं सकता।

(३५)

संकल्पादेव तु केवलात् पित्रादिसमुत्थानमिति।

(शां० भा० ४।४।८ पृष्ठ ५०७)

मुक्त पुरुष के संकल्पमात्र से ही पितर आदि उठ बैठते। (देखो छा० ८।२।१)

हमारी आलोचना—इससे स्पष्ट है कि सम्यक् ज्ञान होने और मुक्ति प्राप्त करने पर भी जीव और ब्रह्म में एकता नहीं होती। अन्यथा संकल्प और पितृ-समुत्थान का कोई भी अर्थ न होगा। बद्ध अवस्था में तो कह सकते थे कि अविद्या के कारण भेद है। परन्तु जब मुक्ति मिल गई तो फिर भी संकल्प आदि के लिये उसी समय स्थान रह सकता है जब जीव और ब्रह्म में वास्तविक भेद हो। इससे तो शंकर स्वामी की इस बात का भी खण्डन होता है :—

ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था न च ब्रह्मणोऽनेकाकारयोगोस्ति।

(शां० भा० ३।४।५२ पृष्ठ ४५८)

अर्थात् ब्रह्म में कई आकार नहीं होते। इसलिये ब्रह्म ही मुक्ति अवस्था है।

शां० स्वा०—अविभागेन दृष्टत्वात्। (वे० ४।४।४)

परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते यः स किं परस्मादात्मनः पृथगेव भवत्युताविभागेनैवावतिष्ठत इति वीक्षायाम् ....अविभक्त एव परेणात्मना मुक्तोऽवतिष्ठते। कुतः दृष्टत्वात्। (शां० भा० पृष्ठ ५०५)

अर्थात् सूत्र में दिया है कि मुक्त जीव परमात्मा में अविभक्त होकर ठहरता है। इससे ब्रह्म और जीव का अभेद सिद्ध है।

हमारी आलोचना—नहीं। यहाँ अविभाग से केवल यही तात्पर्य कि जीव और ब्रह्म के बीच में अज्ञान का व्यवधान नहीं रहता।

शां० स्वा०—'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेवभवति । एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम' (क० ४।१५) इति चैवमादीनि मुक्तस्वरूप निरूपण पराणि वाक्यान्यविभागमेव दर्शयन्ति । नदी समुद्रादि निदर्शनानि च ।

(शां० भा० ४।४।४ पृष्ठ ५०५)

कठोपनिषत् का वचन है कि जैसे शुद्ध जल में शुद्ध जल मिल जाता है इसी प्रकार मुक्त आत्मा ब्रह्म में मिल जाता है। इसी प्रकार के अन्य वचन भी मुक्ति के स्वरूप को बताते हैं। समुद्र और नदी का दृष्टान्त भी इसी का निरूपण करता है।

हमारी आलोचना—उपनिषद् के इस वचन से ब्रह्म जीव का भेद सिद्ध होता है न कि अभेद। शुद्ध जल शुद्ध में मिल गया। इसका क्या अर्थ? क्या वह मिलने वाला जल नष्ट हो गया? नहीं! जल में जल मिलकर बढ़ता है। यदि अभेद होता तो मिलने का प्रश्न भी न उठता। 'तादृगेव भवति' (वैसा ही होता है) यह शब्द ही बताते हैं कि उपमा भेद को दर्शाती है।

समुद्र और नदी का संकेत मुण्डक उपनिषद् के निम्न श्लोक की ओर है :—

यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।

(मु० ३।२।८)

'जैसे नदियां नाम और रूप को छोड़कर समुद्र में मिल जाती हैं इसी प्रकार विद्वान् नाम और रूप से मुक्त होकर परमात्मा की दिव्य ज्योति को प्राप्त होता है'।

इस श्लोक से जीव ब्रह्म का अभेद सिद्ध नहीं होता। गंगा जब बंगाल की खाड़ी में गिरती है तो अपने जल के अस्तित्व को नहीं खो देती। न उसका और पुराने जल का अभेद हो जाता है। गंगा का जल समुद्र के जल में आधिक्य उत्पन्न कर देता है। केवल गंगा का

रूप बदल जाता है। बनारस की गंगा की जो अलग धारा थी वह नहीं रहती और न उसका अलग नाम रहता है। इसी प्रकार बद्ध अवस्था में जीव के शरीर था। इसलिये रूप था। और इसीलिये नाम भी था। पुरुष, स्त्री, बालक, आदि का रूप शरीर की अपेक्षा से है। इसी प्रकार नाम भी शरीरों की पहचान के लिये हैं। जब जीव मुक्त हो गया तो शरीर नहीं रहा। इस लिये रूप से छुटकारा हो गया। और जो लोग शरीर भेद के कारण पुकारने के लिये नाम रखते थे उनको भी आवश्यकता नहीं रही अतः नाम भी नहीं रहा। परन्तु जीव तो रहा। यह है उपनिषत् के इस श्लोक का अर्थ।

मुक्ति का जो वर्णन वेदान्त के तीसरे और चौथे अध्याय में आता है उसके शांकर भाष्य से भी जीव-ब्रह्म का अभेद स्पष्ट नहीं होता।

शां० स्वा०—भेदनिर्देशस्त्वभेदेऽप्युपचर्यते। 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति। 'आत्मरतिरात्मक्रीडः' (छा० ७।२५।२) इति। (शां० भा० ४।४।४ पृष्ठ ५०५)

'अभेद होने पर भी उपचार की भाषा में भेद दिखाया गया है जैसे 'वह किसमें प्रतिष्ठित होता है? अपनी महिमा में'। अपने में ही रत रहता है। अपने में ही खेलता है।

हमारी आलोचना—हर स्थान पर तो उपचार की भाषा नहीं हो सकती। उपचार की भाषा स्वयं द्वैत की बोधक है। अद्वैत की नहीं।

शां० स्वा—अतएव चानन्याधिपतिः। (वे० ४।४।९)

'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इति। (छा० ८।१।६)

(शां० भा० पृष्ठ ५०७)

मुक्त पुरुष का कोई अधिपति नहीं होता क्योंकि सब लोकों में उनका कामचार (इच्छापूर्ति) होता है।

हमारी आलोचना—यह भी द्वैत को ही बताता है। तात्पर्य केवल

यह है कि बद्ध अवस्था में अनेक विघ्न उपस्थित होते थे। मुक्त अवस्था में वे दूर हो जाते हैं। जीव अदीन हो जाता है।

(३६)

(अ) अभावं बादरिराह ह्येवम्। (वे० ४।४ १०)

तत्र बादरिस्तावदाचार्यः शरीरस्येन्द्रियाणां चाभावं महीयमानस्य विदुषो मन्यते। (शां० भा० पृष्ठ ५०८)

बादरि आचार्य मुक्ति में शरीर और इन्द्रियों का अभाव मानते हैं।

(आ) भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्। (वे० ४।४ ११)

जैमिनिस्त्वाचार्यो मनोवच्छरीरस्यापि सेन्द्रियस्य भावं मुक्तं प्रति मन्यते। यतः स एक धा भवति त्रिधा भवति (छा० ७।२६।२) इत्यादिनाऽनेकधाभावविकल्पमामनन्ति। न ह्यनेकविधता विना शरीरभेदेनाञ्जसी स्यात्। (पृ० ५०८)

जैमिनि आचार्य मन के समान शरीर और इन्द्रियों का भाव भी मानते हैं जिससे वह अनेक प्रकार का हो जाता है। विना शरीर के अनेक प्रकार का कैसे हो सकता है?

(इ) द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः। (वे० ४।४।१२)

बादरायणः पुनराचर्योऽत एवोभयलिङ्ग श्रुति दर्शनादुभयविधत्वं साधु मन्यते यदा सशरीरतां संकल्पयति तदा सशरीरो भवति यदा त्वशरीरतां तदाऽशरीर इति। सत्यसंकल्पत्वात्। संकल्प वैचित्र्याच्च। द्वादशाहवत्। यथा द्वादशाहः सत्रमहीनश्च भवति। उभयलिङ्गश्रुति दर्शनादेवमिदमपीति।

(शां० भा० पृष्ठ ५०८)

बादरायण आचार्य दोनों मानते हैं। जैसे द्वादशाह सत्र को बारह दिन का सत्र भी कहते हैं और अहीन भी। इसी प्रकार मुक्त जीव जब शरीर का संकल्प करता है तो शरीरी हो जाता है और अशरीरता का संकल्प करता है तो अशरीरी।

हमारी आलोचना—मुक्ति के इस स्वरूप से जीव और ब्रह्म की एकता की जड़ ही उखड़ जाती है। संसारी बातों में तो व्यावहारिक और पारमार्थिक अर्थ लिये जा सकते थे। परन्तु मुक्ति में पारमार्थिक अर्थ ही लेने होंगे। मुक्ति तो लौकिक नहीं होती।

(३७)

जगद् व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च। (वे० ४।४।१७)

जगदुत्पत्त्यादि व्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति जगद् व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य।

(शां० भा० पृष्ठ ५१०)

मुक्त जीवों को अणिमा आदि अन्य सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं जगद् व्यापार को छोड़ कर। अर्थात् जगत् का बनाना, स्थित रखना तथा नाश करना केवल नित्य ईश्वर के ही हाथ में है। मुक्त आत्माओं के नहीं।

हमारी आलोचना—इससे सिद्ध है कि मुक्त आत्मा भी ब्रह्म नहीं हो जाते। इतना मान कर शंकर स्वामी ब्रह्म और जीव के अभेद को कैसे मान सकते हैं? यहाँ एक प्रश्न उठता है। जगद् व्यापार में न केवल सूर्य पृथ्वी आदि का ही निर्माण है अपितु शरीरों का भी। मुक्त आत्मा अनेक शरीर धारण कर लेते हैं ऐसा शंकर स्वामी ने ४।४।१५ के भाष्य में लिखा है। जिन पाँच भूतों से शरीर बनते हैं उनके भौतिक नियम हैं जिनका उल्लंघन करना किसी बद्ध या मुक्ति आत्मा की शक्ति के बाहर है। इसका हमारे विचार से यह समाधान है कि मुक्त आत्माओं के सांकल्पिक शरीर होते हैं न कि भौतिक। स्वप्न के समान। इसीलिये उनका व्यापार भी भौतिक शरीरों के समान नहीं होता।

सातवाँ अध्याय

शंकराचार्य और पौराणिक मत

यह एक प्रसिद्ध बात है कि पौराणिक मत वैदिक धर्म का एक बिगड़ा हुआ रूपान्तर है। मूर्ति पूजा, देवी देवते, जाति पांति के बंधन इत्यादि बीसियों बुराइयाँ जिन्होंने हिन्दू जाति को नष्ट कर डाला वैदिक धर्म में विहित न थीं। पुराणों में इनका समावेश हो गया। वेदान्त दर्शन आदि में पुराण तथा पौराणिक सिद्धान्तों के विषय में कुछ भी नहीं पाया जाता। परन्तु शंकर स्वामी के समय में वातावरण पौराणिक बातों से भरा हुआ था। अतः उसके प्रभाव में आकर शंकर स्वामी ने अपने भाष्य में भी उन बातों को तद्वत् मान लिया। वह वैदिक धर्म और पौराणिक मत में कोई विवेक नहीं कर सके। हम यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं :—

(१)

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात्। (१।३।२५)

इस सूत्र का सम्बन्ध 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति' से है (शां० भा० १।३।२४) यहाँ प्रश्न उठा कि 'अंगूठे' तो भिन्न भिन्न प्राणियों के भिन्न भिन्न होंगे। इस पर उत्तर देते हैं :

"मनुष्याधिकारत्वादिति। शास्त्रं ह्यविशेष प्रवृत्तमपि मनुष्यानेवाधिकरोति। शक्तत्वात्, अर्थित्वात्, अपर्युदस्तत्वात्, उपनयनादि शास्त्राच्च। (शां० भा० पृष्ठ ११६)

अर्थात् मनुष्य को ही शास्त्र पढ़ने का अधिकार है। इसलिये मनुष्य के अंगूठे से ही नापना चाहिये। इसके आगे का सूत्र है—

"तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्" (१,३,२६)

इसका सीधा अर्थ यह है कि 'अंगुष्ठमात्र' से भी ब्रह्म ऊपर है। अर्थात् वह सब प्राणियों के भीतर है। परन्तु शंकराचार्य जी ने "देवादयः" अर्थात् पौराणिक देवताओं का अर्थ लिया है जिसका मूल सूत्र में कुछ उल्लेख नहीं। इसकी युक्ति देते हैं :—

तत्राथत्व तावन् मोक्ष विषयं देवादीनामपि संभवति विकार विषय विभूत्यनित्यवालोचनादि निमित्तम् ।

(शां० भा० पृष्ठ १२०)

अर्थात् देवतों को भी मोक्ष की इच्छा है। क्योंकि सांसारिक विकार, विषय, विभूति आदि अनित्य हैं।

तथा सामर्थ्यमपि तेषां संभवति, मंत्रार्थवादेतिहास पुराण लोकेभ्यो विग्रहवत्त्वाद्यवगमात् । (शां० भा० पृष्ठ १२०)

पुराण आदि में बताया है कि देवतों में मूर्त्तिमान् होने की भी शक्ति है।

देवतों को उपनयन आदि संस्कारों की आवश्यकता नहीं। क्यों ?

उपनयनस्य वेदाध्ययनार्थत्वात् । तेषां च स्वय प्रतिभात-वेदत्वात् । (शां० भा० पृष्ठ १२०)

उपनयन तो वेद पढ़ने के लिये होता है। देवता तो वेदों को जानते ही हैं।

अपि चैषां विद्याग्रहणार्थं ब्रह्मचर्यादि दर्शयति ।

अर्थात् देवतों को विद्याग्रहण आदि के लिये ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के पालने का भी उपदेश है।

इन सबसे विदित होता है कि श्री शंकराचार्य जी के देवतों के विषय में कितने अनिश्चित विचार थे। एक ओर तो देवताओं को स्वयं ही वेदों का ज्ञान है (स्वयं प्रतिभातवेदत्वात्) दूसरी ओर उनको पढ़ने और ब्रह्मचर्य रखने की भी आवश्यकता है। शंकराचार्य जी के देवते 'अमर' नहीं है। उनको मोक्ष की अभिलाषा है। वह 'मोक्ष'

क्या है ? इस पर भी शंकर जी विचार नहीं करते ? मनुष्यों के बन्ध-मोक्ष और देवों के बन्ध-मोक्ष में क्या अन्तर है । इत्यादि इत्यादि ।

क्या इन्द्रादि देव व्यक्तियाँ हैं या जातियाँ । यह भी निश्चित नहीं ।

स्थानविशेषसंबन्धनिमित्ताश्चेन्द्रादिशब्दाः सेनापत्यादिशब्दवत् । (शां० भा० १।३।२८ पृ० १२३)

जैसे सेनापति आदि किसी व्यक्ति विशेष के नाम नहीं किन्तु पदों के नाम हैं ऐसे ही इन्द्र आदि भी ।

तथा देवादिव्यक्तिप्रभवाभ्युपगमेऽप्याकृतिनित्यत्वान्न कश्चिद् वस्वादिशब्देषु विरोध इति द्रष्टव्यम् ।

(शां० भा० १।३।२८ पृ० १३३)

देवादि व्यक्तियों का तो जन्म होता है । परन्तु आकृति तो नित्य ही होती है । इसलिये वसु आदि शब्दों का वसु आदि देवों की आकृति से सम्बन्ध है व्यक्ति से नहीं ।

यहाँ देवों को मनुष्यों की ही एक जाति लिया गया । वे अमर नहीं रहे । वह व्यक्ति भी नहीं रहे केवल पदवियों के नाम रह गये । इससे तो देवतों का देवतापन ही नष्ट हो गया । यह है पौराणिक देवतों की लीला जिसको श्री शंकर स्वामी ने बिना विश्लेषण किये मान लिया है ।

(२)

सत्यपि सर्वव्यवहारोच्छेदिनि महाप्रलये परमेश्वरानुग्रहादीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां कल्पान्तरव्यवहारानुसंधानोपपत्तेः ।

(शां० भा० १।३।३० पृ० १२९)

ईश्वर के अनुग्रह से हिरण्यगर्भ आदि का एक कल्प से दूसरे कल्प तक व्यवहार जारी रहता है ।

यद्यपि महाप्रलय में व्यवहार का उच्छेद हो जाता है तो भी यहाँ ब्रह्म से इतर हिरण्यगर्भ आदि देवताओं की कल्पना की गई है जो वेदों के मत के विरुद्ध है ।

(३)

तथाहि प्राणित्वाविशेषेऽपि मनुष्यादिस्तम्बपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्यादि प्रतिबन्धः परेण परेणभूयान्भवन् दृश्यते, तथा मनुष्यादिष्वेव हिरण्यगर्भपर्यन्तेषु ज्ञानैश्वर्याद्यभिव्यक्तिरपिपरेण परेण भूयसीभवति। (शां० भा० १।३।३० पृष्ठ १२६)

जिस प्रकार यद्यपि कीट पतंग आदि से लेकर मनुष्य तक सब में प्राण हैं तो भी ज्ञान की अवनति का तारतम्य है इसी प्रकार मनुष्यादि से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त तक ज्ञान की वृद्धि का तारतम्य है।

यहाँ यह मान लिया गया कि देवता केवल जीवों की ही उत्कृष्ट योनियाँ हैं।

(४)

स्मर्यते च—"आदित्यः पुरुषोभूत्वा कुन्तीमुपजगाम ह" इति।

(शां० भा० १।३।३३ पृष्ठ १३३)

स्मृति में कहा है कि 'सूर्य्य ने पुरुष का रूप धारण करके कुन्ती के साथ प्रसङ्ग किया।"

(५)

तथा च व्यासादयो देवादिभिः प्रत्यक्षं व्यवहरन्तीति स्मर्यते।

(शां० भा० १।३।३४ पृष्ठ १३५)

स्मृति में लिखा है कि व्यास आदि देवताओं से प्रत्यक्ष बात करते थे।

(६)

तस्मादुपपन्नो मन्त्रादिभ्यो देवादीनां विग्रहवत्त्वाद्यवगमः।

(शां० भा० १।३।३३ पृष्ठ १३५)

इसलिये मन्त्रादि से सिद्ध है कि देव मूर्त्तिमान् होते हैं।

(७)

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न शूद्रस्याधिकारः, वेदाध्ययनाभावात्। वेदो हि विदितवेदार्थो वेदार्थेष्वधिक्रियते। न च शूद्रस्य-

वेदाध्ययनमस्ति, उपनयनपूर्वकत्वाद् वेदाध्ययनस्य। उपनयनस्य च वर्णत्रयविषयत्वात्। तत्त्वर्थित्वं न तदसति सामर्थ्योऽधिकारकारणं भवति। सामर्थ्यमपि न लौकिकं केवलमधिकार कारणं भवति। शास्त्रीयेऽर्थे शास्त्रीयस्य सामर्थ्यस्यापेक्षितत्वात्।

(शां० भा० १।३।३४ पृष्ठ १३६)

"हमारा उत्तर है कि शूद्रों को अधिकार नहीं। क्योंकि उन्होंने वेद नहीं पढ़ा। जिसने वेद पढ़ा हो और वेद को समझता हो वही वैदिक कर्मों का अधिकारी है। शूद्र वेद नहीं पढ़ता। वेद पढ़ने के लिये उपनयन आदि संस्कार चाहिये और उपनयन आदि तीन उच्च वर्णों का ही होता है। जब तक सामर्थ्य न हो केवल इच्छामात्र से किसी को अधिकार नहीं हो सकता। सामर्थ्य भी यदि केवल लौकिक हो तो पर्य्याप्त नहीं हैं, शास्त्रीय बातों में शास्त्रीय सामर्थ्य चाहिये"।

यहाँ शंकर स्वामी शूद्र को अधिकार नहीं देते। यह वेद के विरुद्ध है। 'यथेमांवाचं' इति आदि मन्त्र में वेद पढ़ने की आज्ञा सबको है।

नोट—इस सूत्र में कोई ऐसा शब्द नहीं जिससे शूद्र का वेद पढ़ने का अनधिकार पाया जावे। क्योंकि इसी सूत्र के भाष्य में शूद्र की व्युत्पत्ति की है :—

शुचमभिदुद्राव, शुचावाभिदुद्रवे।

जो शोक से भर जाय, या शोक को भर ले।

(८)

भवति च वेदोच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद इति।

(शां० भा० १।३।३८ पृष्ठ १३८)

शूद्र वेद का उच्चरण करे तो जीभ छेद दी जाय, वेद को धारण करे तो शरीर का भेद किया जाय।

शंकर जैसे अद्वैतवादी के लिये यह सिद्धान्त कैसे सह्य हुआ? पौराणिक मत के प्रभाव से ही।

(९)

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने। (छा० ५।२।९)

(शां० भा० २।१।१४। पृष्ठ १९९)

यदि काम्य कर्म करते हुये स्वप्न में स्त्री देखे तो समझ ले कि काम में अवश्य सफलता होगी।

तथा प्रत्यक्षदर्शनेषु केषुचिदरिष्टेषु जातेषु 'न चिरमिव जीविष्यतीति विद्यात्' इत्युक्त्वा 'अथ स्वप्नाः पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति' इत्यादिना तेन तेनासन्येनैव स्वप्नदर्शनेन सत्यं मरणं सूच्यत इति दर्शयति।

(शां० भा० २।१।१४ पृष्ठ १९९)

यदि स्वप्न में कोई काले तथा कालेदांत वाले पुरुष को देखे कि मार रहा है तो अवश्य ही समझे कि मृत्यु निकट है।

प्रसिद्धं चेदं लोकेऽन्वय व्यतिरेक कुशलानामीदृशेन स्वप्नदर्शनेन साध्वागमः सूच्यत ईदृशेनासाध्वागम इति।

(शां० भा० २।१।१४ पृष्ठ १९९)

लोक में प्रसिद्ध है कि ऐसा स्वप्न शुभ होता है और ऐसा अशुभ।

नोट—शां० भा० ३।२।४, पृष्ठ ३४५-४६ में भी ऐसी ही बातें दी हुई हैं।

(१०)

यथा लोके देवाःपितर ऋषयइत्येवमादयो महाप्रभावाश्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किंचिद्बाह्यं साधनमैश्वर्य विशेषयोगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नानासंस्थानानि शरीराणि प्रासादादीनि च रथादीनि च निर्मिमाणा उपलभ्यन्ते मन्त्रार्थवादेतिहास पुराण प्रामाण्यात्। (शां० भा० २।१।२५ पृष्ठ २११)

जैसे लोक में देव, पितर, ऋषि आदि महा प्रभावशाली व्यक्ति चेतन होते हुये भी बिना किसी बाहरी साधन की अपेक्षा के ध्यान मात्र

से स्वयं ही बहुत से भिन्न-भिन्न संस्थान, शरीर राजमहल आदि तथा रथ आदि को बनाते पाये गये हैं। मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण आदि इस बात में प्रमाण हैं।

हमारी आलोचना—सूत्र में ध्यान आदि से विना साधनों के महल, रथ आदि बनाने का कोई प्रमाण नहीं है। पौराणिक कल्पना मात्र है। श्री शंकर स्वामी का भी अपना अनुभव नहीं है। अन्यथा पुराण आदि की साक्षी न देते।

सूत्र का वास्तविक अर्थ यह है :—

देवादिवदपि लोके। (२।१।२५)

लोक में अग्नि, वायु आदि देव (भौतिक देव) विना किसी अन्य साधन के ही कार्य करते हैं। जैसे दूध में गाय की चेतन शक्ति काम करती है इसी प्रकार इन भौतिक देवों में ईश्वरीय शक्ति काम करती है। बाहर के साधन की आवश्यकता नहीं।

'लोके' शब्द में स्पष्ट हैं कि किसी ऐसी चीज़ की ओर संकेत नहीं है जो लोक में देखी न जाती हो और जिसकी साक्षी के लिये पुराणों के पन्ने पलटने पड़ें। ध्यान से महल वनते न हम देखते हैं न श्री शंकर ने देखे थे और न श्री शंकर ने स्वयं ध्यान से महल बना दिये। यह सूत्र वस्तुतः उस सिद्धान्त के खण्डन में है कि अग्नि स्वभाव से जलता है, पानी स्वभाव से बहता है, ईश्वर की क्या आवश्यकता? यदि ईश्वर के द्वारा यह काम करते होते तो 'उपसंहार' दिखाई पड़ता। जैसे कुम्हार घड़ा बनाने के लिये चाक आदि का प्रयोग करता है। सूत्रकार ने दूध का दृष्टान्त (२।१।२४) देकर बताया कि वहां भी चेतन शक्ति विना उपसंहार के काम करती है। और अग्नि आदि देवों में भी उपसंहार की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(११)

अपि च सप्त नरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः।ताननिष्टादिकारिणः प्राप्नुवन्ति।

(शां० भा० ३।१।१५ पृष्ठ ३३७)

पुराणों में दुष्कर्मियों के भोग के लिये सात रौरव आदि नरक बताये गये हैं। फिर चन्द्रलोक में उनके जाने की क्या आवश्यकता है।

तेष्वपि सप्तसु नरकेषु तस्यैव यमस्याधिष्ठातृत्व व्यापाराभ्युपगमादविरोधः। यम प्रयुक्ता हिते चित्रगुप्तादयोऽधिष्ठातारः स्मर्यन्ते। (शां० भा० ३।१।१६ पृष्ठ ३३७)

उन सात नरकों में भी यम ही मुख्य अधिष्ठाता है। चित्रगुप्त आदि तो उसके बनाये हुये अभिद्रष्टा (Superintendents) मात्र हैं।

हमारी आलोचना—सूत्रों में न तो यम का नाम है, न चित्रगुप्त का। और न नरकों का। केवल 'सप्त' शब्द से सात नरक नहीं लिये जा सकते। इससे तो श्री स्वामि हरिप्रसाद का भाष्य अधिक युक्ति संगत है देखो :—

सप्तकिल चक्षुरादयः प्राणाः सप्तर्षय इह निगद्यन्ते "प्राणा वा ऋषयः" (शत० ९।१।१।१) ते चास्मिन् पाट्कौषिके जीवात्मशरीरे यथा स्थानं प्रति धीयन्ते। यत्रैतच्छ्रुते भवति "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, सप्तरक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।

(यजु० ३४।५५)

अर्थात् चक्षु आदि सात प्राण हैं। उल्लेख शतपथ और यजुर्वेद में है।

(१२)

अपि च स्मर्यते लोके। द्रोणधृष्टद्युम्न प्रभृतीनां सीता द्रौपदी प्रभृतीनां चायोनिजत्वम्। तत्र द्रोणादीनां योषिद् विषयैकाहुतिर्नास्ति। धृष्टद्युम्नादीनां तु योषित् पुरुष विषये द्वे अप्याहुती न स्तः। यथा च तत्राहुतिसख्यानादरो भवत्येवमन्यत्रापि भविष्यति। बलाकाप्यन्तरेणैव रेतः सेकं गर्भं धत्त इति लोकरूढिः।

(शां० भा० ३।१।१६ पृष्ठ ३३८-३३९)

लोक में प्रसिद्ध है कि द्रोण, धृष्ट द्युम्न, सीता द्रौपदी आदि अयोनिज हैं (योनि से उत्पन्न नहीं हुये)। द्रोण आदि के विषय में तो एक आहुति का अभाव था (जो पुरुष स्त्री की योनि में गर्भ के रूप में देता है)। और धृष्टद्युम्न आदि के विषय में दो आहुतियों का अभाव था (अन्न द्वारा जो पुरुष के शरीर में छोड़ी जाती है अर्थात् अन्न से वीर्य बनता है)। जैसे यहां पांच आहुतियों का नियम नहीं है वैसे अन्यत्र भी समझना चाहिये। लोक में प्रसिद्ध है कि बलाकी (सारसी) बिना नर के संग के गर्भ धारण करती है।

हमारी आलोचना—यह पुराणों की गप हैं। जैसे हजरत ईसा मसीह बिना बाप के उत्पन्न हुये। 'अयोनिज' उत्पत्ति भी होती है जैसे वैशेषिक दर्शन में आया है "सन्त्ययो निजाः" (वै० ४।२।११)

परन्तु यहाँ अमैथुनी सृष्टि की ओर संकेत हैं। सृष्टि के आरम्भ में बिना माता पिता के उत्पत्ति होती है। जूँ, खटमल आदि में पहले मैल से ही पैदा हो जाते हैं। चार प्रकार की योनियाँ हैं :—

जरायुज—(जैसे मनुष्य, भैंस, गाय आदि) जो जरायु से उत्पन्न होते हैं।

अण्डज—(जैसे सांप, पक्षी आदि) यह अंडों से उत्पन्न होते हैं।

स्वेदज—(जैसे जूँ, आदि) जो पसीने या शरीर के मल से उत्पन्न होते हैं।

उद्भिज—बीरबहुटी आदि जो भूमि से फोड़ कर उत्पन्न हो जाती हैं।

इनमें पहली दो 'योनिज' हैं और दूसरी दो 'अयोनिज' है। सृष्टि के आरम्भ में सभी अयोनिज होते हैं।

(१३)

ननु 'नहिंस्यात् सर्वा भूतानि' इति शास्त्रमेव भूतविषयां हिंसामधर्म इत्यवगमयति । बाढम् । उत्सर्गस्तु सः । अपवादः 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत इति । (शां० भा० ३।१।२५ पृष्ठ ३४२)

पूर्व पक्ष—शास्त्र में लिखा है कि किसी की हिंसा मत करो, पशु याग में पशु की हिंसा होती है अतः वह कर्म अशुद्ध है।

शां० स्वा०—वह उत्सर्ग है (सामान्यनियम), यह अपवाद है कि अग्नि-सोम के लिये पशु की आहुति दो। अपवाद अशुद्ध नहीं होता।

शंकर स्वामी पूर्वमीमांसा का इतना खण्डन करने (देखो १।१।४) के पश्चात् भी यज्ञ में पशु हिंसा को विहित मानते हैं।

(१४)

यथा प्राणिहिंसा प्रति षेधस्य पशुसंज्ञपनविधिना बाधः।

(शां० भा० ३।४।२८ पृष्ठ ४४७)

'हिंसा न करनी चाहिये' इस निषेध का बाध पशु यज्ञ से होता है।

शंकर स्वामी यज्ञों में पशु-बध का निषेध नहीं करते। यद्यपि ऊपर की उक्ति पूर्व पक्ष में है परन्तु इसका खण्डन नहीं किया गया। इस आक्षेप को आक्षेप सं० १२ से मिला कर पढ़िये। 'अपवाद' विहित क्यों समझा जावे? इस अपवाद ने तो लाखों प्राणियों का बध करा के बौद्ध जैसे अवैदिक धर्म को जन्म दिया।

(१५)

सर्वगतस्यापि ब्रह्मण उपलब्ध्यर्थं स्थानविशेषो न विरुध्यते शालग्राम इव विष्णोरिति। (शां० भा० १।२।१४ पृष्ठ ७६

सर्व व्यापक ब्रह्म का उपलब्धि के लिये एक कोई स्थान मा[न] लेना विरोध नहीं है। जैसे शालग्राम की बटिया में विष्णु का।

उपनिषदों या वेदों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। यह पुराणों [का] प्रभाव है।

(१६)

यथा वा प्रतिमादिषु विष्ण्वादि बुद्ध्यध्यासः।

(शां० भा० ३।३।६ पृष्ठ ३८[?]

[...] आदि में विष्णु आदि बुद्धि का अध्यास होता है"

[...] है, उपनिषद् आदि में इनका उल्लेख नहीं।

आठवाँ

शंकर और जादू

शांकर भाष्य में 'मायावी' अर्थात् जादूगर का उल्लेख बहुत आता है। श्री शंकराचार्य जी जादू की उपमा देकर इस संसार को मिथ्या सिद्ध करते हैं। आज कल किसी का जादूगर के जादू पर विश्वास नहीं है। बाजारों में नित्य जादू का खेल हुआ करता है। और जादूगर हाथ की चालाकी से कुछ का कुछ दिखा कर लोगों का मनोविनोद किया करते हैं। परन्तु कोई उनसे धोखा नहीं खाता। जादूगर रेत की चुटकी हाथ में लेकर कुछ मन्तर पढ़ कर रेत की घड़ी बना देता है। लोग चकित रह जाते हैं। परन्तु किसी को यह विश्वास नहीं होता कि वस्तुतः रेत की घड़ी बना दी गई है। श्री शंकराचार्य जी के समय में जादूगरों के विषय में लोगों की क्या धारणा थी इसका कुछ नमूना भाष्य से मिल जाता है। हम यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं।

(१)

यथा मायाविनश्चर्मखड्गधरात् सूत्रेणाकाशमधिरोहतः स एव मायावी परमार्थरूपो भूमिष्ठोऽन्यः।

(शां० भा० १।१।१७ पृष्ठ ३९)

अर्थ—जैसे असली जादूगर तो जमीन पर खड़ा रहता है और एक झूठा जादूगर हाथ में ढाल तलवार लिये रस्सी पर चढ़ता हुआ प्रतीत होता है इसी प्रकार जीव ब्रह्म से अलग है। ब्रह्म तो वास्तविक सत्ता है और जीव की केवल प्रतीति होती है। यहाँ श्री शंकराचार्य जी समझते हैं कि वस्तुतः एक मायावी ऊपर चढ़ जाता है। इसीलिये उन्होंने यह उपमा दी। बात यह नहीं है। रस्सी पर चढ़े हुये जादूगर

भी असली ही होते हैं। उनको इस प्रकार खेल का अभ्यास रहता है कि वह शीघ्र ही उतर चढ़ सकते हैं। यह उपमा ब्रह्म के विषय में विषम ठहरती हैं। बादरायण के सूत्र में न तो यह उपमा है न इस सिद्धान्त का गन्धमात्र है।

(३)

यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते अवस्तुत्वात्, एवं परमात्मापि संसारमायया न संस्पृश्यत इति। (शां० भा० २।१।६ पृष्ठ १६१)

जैसे अपनी फैलायी हुई माया से जादूगर तीन कालों में भी दूषित नहीं होता क्योंकि वह अवस्तु है इसी प्रकार परमात्मा भी संसार की माया से दूषित नहीं होता।

यहाँ शां० स्वा० मान लेते हैं कि जादूगर में यह शक्ति है कि अवस्तु को वस्तु करके दिखा दे। आजकल जादू पर बहुत साहित्य उपस्थित है। उसके देखने से ज्ञात हो जाता है कि केवल धोखा है। जादू की उपमा ब्रह्म को देनी सर्वथा असंगत और अनुचित है।

नवाँ अध्याय

प्रलय का क्रम

शं० स्वा०—एवं क्रमेण सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं चानन्तरमनन्तरं कारणमपीत्य सर्वं कार्यजातं परमकारणं परमसूक्ष्म च ब्रह्माप्यतीति वेदितव्यम्। (शां० भा० २।२।१४ पृष्ठ २७५)

इस प्रकार क्रम पूर्वक सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, एक कार्य्य से उसके कारण में, फिर उसके कारण में, फिर उसके कारण में अन्त को सभी जगत् अन्त्य कारण परमसूक्ष्म ब्रह्म में लय हो जाता है ऐसा जानना चाहिये।

हमारी आलोचना—यदि सृष्टि मिथ्या और अविद्या जन्य होती तो क्रम कैसे हो सकता था? क्रम विद्या का सूचक है न कि अविद्या का। क्रम-भंग के कारण ही तो स्वप्न विश्वसनीय नहीं होते। स्वप्नों में कहीं न कहीं कोई न कोई क्रम भंग ऐसा होता है जिससे स्वप्न का अतथ्यत्व प्रकट हो जाता है। सृष्टि-रचना की प्रक्रिया में तो अविद्या और माया को स्थान दिया गया है परन्तु प्रलय की प्रक्रिया में नहीं। यह क्यों? वहाँ तो केवल यह कह दिया गया :—

भूतानामुत्पत्तिप्रलयावनुलोम प्रतिलोम क्रमाभ्यां भवतः
(शां० भा० २।३।१५ पृष्ठ २७५)

भूतों की उत्पत्ति और प्रलय अनुलोम प्रतिलोम क्रम से होती है। यहाँ प्रतिलोम में न कहीं अविद्या है न माया न अध्यास। उपनिषद् में भी जहाँ उत्पत्ति का उल्लेख है वहाँ अनुलोम क्रम में कहीं अविद्या या माया का उल्लेख नहीं। देखो :—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० २।१)

यहाँ एक बात और याद रखनी चाहिये। यद्यपि माया द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति में यह कहा का सकता है कि कुछ क्रम तो होता है चाहे वह उलटा ही हो परन्तु यह बात प्रलय में कैसे घट सकती है? 'माया-वाद' से प्रलय की व्याख्या कठिन है। प्रलय और सृष्टि में क्या भेद है? यदि सृष्टि को स्वप्न माना जाय तो क्या प्रलय भी स्वप्न में ही शामिल है? यदि स्वप्न ही है तो भेद क्या हुआ? और यदि स्वप्न नहीं, जाग्रत अवस्था है तो क्रम कैसा? कल्पना कीजिये कि मैंने स्वप्न में देखा कि मैंने व्यापार किया, धन कमाया, गाय खरीदी, दूध दूहा, दही जमाया, रायता बनाया। यह था स्वप्न का क्रम। आँख खुल गई तो व्यापार, धन, गाय, दूध, दही, रायता रूपी सृष्टि एक क्षण में समाप्त हो गई। वहाँ प्रतिलोम प्रलय के लिये स्थान ही नहीं। यदि सृष्टि और प्रलय वास्तविक है तो अनुलोम और प्रतिलोम क्रम ठीक है। परन्तु यदि सृष्टि माया या अविद्या के कारण है तो अनुलोम प्रतिलोम क्रम का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

———

दसवाँ अध्याय

परस्पर विरोध

श्री शंकराचार्यजी महाराज मायावाद और ब्रह्म के अभिन्न-निमित्त उपादान कारणवाद को सिद्ध करना चाहते थे जो उपनिषदों, वेदान्त तथा वैदिक सिद्धान्त के विरुद्ध है। अतएव कई स्थानों पर परस्पर विरोध हो गया है। यहाँ कुछ उद्धरण दिये जाते हैं।

१—(अ) **'अविकार्योऽयमुच्यते।'** **(शां० भा० १।१।४ पृष्ठ १७)** वह ईश्वर अविकारी है।	(क) **प्राणानां ब्रह्मविकारत्व सिद्धिः।** (शां० भा० २।४।४ पृष्ठ ३०८) इससे सिद्ध है कि प्राण ईश्वर के विकार हैं।
२—(अ) **प्रदीप प्रभायाश्च द्रव्यान्तरत्वं व्याख्यातम्।** **(शां० भा० २।३।२६ पृष्ठ २८६)** दीपक का प्रकाश एक द्रव्य ही दूसरा है।	(क) **अग्नेरिवौष्ण्य प्रकाशौ।** (शां० भा० २।३।२६ पृष्ठ २८६) जैसे गरमी और प्रकाश अग्नि के *गुण* हैं।
३—(अ) **अविद्यावद् विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च।** (शा० भा० १।१।१ पृष्ठ ३) शास्त्र आदि अविद्यावत् हैं। शास्त्र में वेद भी आ गया।	(क) **महतऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेक विद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म।** (शां० भा० १।१।३ पृष्ठ ६) वेद प्रदीप के समान स्वयं सिद्ध हैं क्योंकि ब्रह्म ही उसकी योनि है।

४—(अ) शरीर संबन्धस्य धर्माधर्मयोस्तत् कृतत्वस्य चेतरेतराश्रयत्वप्रसङ्गादन्धपरम्परैषाऽनादित्वकल्पना ।

(१।१।४ पृष्ठ २२)

यदि शरीर कर्म के आधीन और कर्म शरीर के आधीन मानें जायँ तो यह अनादित्व की कल्पना अन्ध परम्परा हो जायगी ।

(क) नैष दोषः । अनादित्वात् संसारस्य ।

(२।१।४५ पृष्ठ २१८)

यह दोष नहीं । क्योंकि संसार अनादि है ।

५—(अ) तत् कृतधर्माधर्मनिमित्तं सशरीरत्वमितिचेन्न । शरीरसबन्धस्यासिद्धत्वाद् धर्माधर्मयोरात्मकृतत्वासिद्धेः ।

(शां० भा० १।४।४ पृष्ठ २२)

आत्मा के किये हुये धर्म-अधर्म के कारण शरीर नहीं है । शरीर का सम्बन्ध तो सिद्ध ही नहीं, और धर्म अधर्म आत्म कृत हैं यह भी सिद्ध नहीं ।

(क) सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते । किमपेक्षत इति वदामः

(२।१।३४ पृष्ठ २१७)

ईश्वर की बनाई हुई सृष्टि की विषमता अपेक्षा के कारण है । किसकी अपेक्षा से ? धर्म और अधर्म की अपेक्षा से । ऐसा हमारा कथन है ।

६—(अ) ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम् । (१।४।४ पृ० १८)

ज्ञान प्रमाणों द्वारा होता है ।

(क) अविद्यावत् विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि ।

(१।१।१ पृष्ठ २)

प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अविद्यावत् हैं ।

७—(अ) द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूप विकारभेदोपाधि विशिष्टं, तद् विपरीतं च सर्वोपाधि विवर्जितम् ।

(१।१।१२ पृ० ३४)

ब्रह्म के दो रूप जाने गये हैं एक नामरूप विकार भेद उपाधि विशिष्ट और दूसरा उपाधि रहित ।

८—(अ) परस्माद्धि ब्रह्मणो भूतानामुत्पत्तिरिति वेदान्तेषु मर्यादा । (१।१।२२ पृष्ठ ४७)

परब्रह्म से ही भूतों की उत्पत्ति हुई ऐसी वेदान्त वाक्यों की मर्यादा है ।

९—(अ) न ह्येकस्मिन्धर्मिणि युगपत् सदसत्त्वादि विरुद्धधर्मसमावेशः संभवति शीतोष्णवत् ।

(शां० भा० २।२।३३ पृष्ठ २५३)

एक ही धर्मी में एक ही समय सत् और असत् दो विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते जैसे सर्दी और गर्मी दोनों ।

(क) समस्त विशेष रहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद् विपरीतम् ।

(३।२।११ पृष्ठ ३५६)

ब्रह्म को सब विशेषणों से मुक्त निर्विकल्प ही मानना चाहिये अन्यथा नहीं ।

(क) उपाधीनां चाविद्या प्रत्युपस्थापितत्वात् ।

(३।२।११ पृष्ठ ३५५-३५६)

ब्रह्म में उपाधि तो अविद्या के कारण है ।

(क) तत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीये नामरूपे ।

(१।१।५ पृष्ठ २७)

नाम और रूप न तत्व हैं न अतत्व । अनिर्वचनीय हैं ।

१०—(अ) अविद्यावत् विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि ।

(शां० भा० १।१।१ पृष्ठ २)

प्रत्यक्षादि प्रमाण अविद्यावत् हैं ।

(क) यद्धि प्रत्यक्षादीनामन्यतमेन प्रमाणेनोपलभ्यते तत् संभवति । यत् तु न केनचिदपि प्रमाणेनोपलभ्यते तन्न संभवति । (२।२।२८ पृष्ठ २४८)

जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध हो वह संभव है जो किसी प्रमाण से न सिद्ध हो वह असंभव ।

११—(अ) मायेव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थ गन्धोऽप्यस्ति ।

(३।२।३ पृ० ३४४)

माया के समान स्वप्न की सृष्टि में परमार्थ का गंध भी नहीं है ।

(क) स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम् । (२।२।२९ पृष्ठ २५०)

स्वप्न में स्मृति की चीज़ें ही प्रतीत होती हैं ।

१२—(अ) द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते नामरूप विकार भेदोपाधि विशिष्टं, तद् विपरीतं च सर्वोपाधि विवर्जितम् ।

(शां० भा० १।१।१२ पृ० ३४)

ब्रह्म के दो रूप हैं एक नामरूप उपाधि वाला, दूसरा उपाधि रहित ।

(क) समस्त विशेषरहितं निर्विकल्पमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद् विपरीतं ।

(३।२।११ पृष्ठ ३५६)

विशेष रहित, निर्विकल्प ही ब्रह्म है । इससे विपरीत नहीं ।

न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिंगत्वमुपपद्यते ह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादि विशेषोपेतं तद् विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात् ।

(पृष्ठ ३५६)

परब्रह्म में स्वतः ही उभय लिंगत्व नहीं हो सकता । यह नहीं हो सकता कि एक वस्तु ही स्वतः रूप आदि विशेषता वाली भी हो और इसके विपरीत भी ।

१३—(अ) अयमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः ।

(१।१।१ पृष्ठ ४)

यह अध्यास अनादि अनन्त नैसर्गिक है ।

(क) अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्व विद्या प्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते

(पृष्ठ ४)

इसी अनर्थ के प्रहाण के लिये सब वेदान्त यत्न करते हैं ।

नोट—नैसर्गिक अनादि अनन्त का प्रहाण कैसा ?

१४—(अ) क्रियासमवायाभावाच्चात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तेः ।

(१।१।४ पृष्ठ २२)

आत्मा का कर्त्ता होना सिद्ध नहीं क्योंकि आत्मा और क्रिया में समवाय सम्बन्ध का अभाव है ।

(क) अनादौ तु संसारे बीजांकुरवद्धेतुमद्भावेन कर्मणः सर्गवैषम्यस्य च प्रवृत्तिर्न विरुध्यते । (२।१।३५ पृष्ठ २१८)

अनादि संसार में बीज और अंकुर के समान कर्म और विषमता की प्रवृत्ति में कोई विरोध नहीं । अर्थात् ईश्वर जीवों के कर्मों के अनुकूल शरीर आदि देता है ।

१५—(अ) इदं तु पारमार्थिकं, कूटस्थनित्यं, व्योमवत् सर्वव्यापि, सर्व विक्रियारहितं, नित्यतृप्तं, निरवयवं स्वयं ज्योतिः स्वभावम् ।

(१।१।४ पृष्ठ १४)

यह तो परमार्थ में कूटस्थ, नित्य, आकाश के समान सर्वव्यापक, सब क्रियाओं से शून्य नित्य तृप्त, अवयव रहित स्वयं ज्योति है ।

(क) अभिध्योपदेशाच्चात्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे गमयति ।

(१।४।२४ पृष्ठ १७६)

अभिध्या के उपदेश से ब्रह्म का कर्ता और उपादान होना सूचित होता है ।

नोट—-जो विक्रिया रहित हो वह उपादान कैसा ?

१६—(अ) **ब्रह्मणोऽपितर्हि सत्तालक्षणः स्वभाव आकाशादिष्वनुवर्तमानो दृश्यते।**

(२।१।६ पृष्ठ १८७)

कारण ब्रह्म और कार्य्य आकाश दोनों में सत्तालक्षण मिलता है।

१७—(अ) **सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इव**

(२।१।१४ पृष्ठ २०१)

सर्वज्ञ ईश्वर के ही आत्मभूत।

१८—(अ) **यथा च कारणं ब्रह्म त्रिषु कालेषु सत्वं न व्यभिचरति एवं कार्यमपि जगत् त्रिषु कालेषु सत्त्वं न व्यभिचरति।**

(२।१।१६ पृष्ठ २०३)

जैसे कारण ब्रह्म तीनों कालों में सत्य है इसी प्रकार कार्य्य जगत् भी तीनों कालों में सत्य है।

(क) **कार्य्यस्य तद्धर्मांणां चाविद्याध्यारोपितत्वान्न तैः कारणं संसृज्यत इति।**

(२।१।६ पृष्ठ १६१)

कार्य्य और उसके धर्म सत्य नहीं, अविद्या के आरोपित मात्र हैं।

(क) **अविद्या कल्पिते नामरूपे।** (२।१।१४ पृष्ठ २०१)

अविद्या कल्पित नाम रूप हैं।

नोट—यहाँ एक ही वाक्य में दो परस्पर विरुद्ध बातें हैं :—

(१) सर्वज्ञ ईश्वर के आत्म भूत।

(२) अविद्या कल्पित नामरूप।

सर्वज्ञ ईश्वर के अविद्या कल्पित नाम रूप आत्म भूत कैसे हुये ?

(क) जगत् मिथ्या है।

१९—(अ) अनिर्वचनीये नाम रूपे । (१।१।५ पृष्ठ २७)

नाम और रूप न सत् हैं न असत् । अनिर्वचनीय हैं ।

(क) अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरम् । उच्यन्ते चावक्तव्यश्चेति विप्रतिषिद्धम् ।

(२।२।३३ पृष्ठ २५३)

अवक्तव्य हैं तो कहना नहीं चाहिये था । कहे भी जाते हो । और अवक्तव्य भी कहते हो । यह तो परस्पर विरोध है ।

२०—(अ) दृश्यतेहि लोके चेतनत्वेन प्रसिद्धेभ्यः पुरुषादिभ्यो विलक्षणानां केशनखादीनामुत्पत्तिः । अचेतनत्वेन च प्रसिद्धेभ्यो गोमयादिभ्यो वृश्चिकादीनाम् ।

(२।१।६ पृष्ठ १८७)

(क) विलक्षण कार्य्योत्पत्त्यभ्युपगमात् समानः प्रागुत्पत्तेरसत्कार्य्यवादप्रसङ्गः ।

(२।१।१२ पृष्ठ १६२)

विलक्षण कार्य्य की उत्पत्ति से तो असत्कार्य्य वादी हो जाओगे ।

नोट—शंकर स्वामी असत्कार्य्य वादी नहीं । तो भी विलक्षण उत्पत्ति मानते हैं ।

२१—(अ) न ब्रूमो यस्मिन्नचेतने प्रवृत्तिर्दृश्यते न तस्य सा इति । भवतु तस्यैव सा । सा तु चेतनाद् भवतीति ब्रूमः । (२।२।२, पृष्ठ २२२)

हम यह नहीं कहते कि जिस अचेतन में प्रवृत्ति देखी जाती है वह उसकी नहीं । उसी की हो । परन्तु हम यह कहते हैं कि यह प्रवृत्ति चेतन से आती है ।

(क) देहेन्द्रियादिष्वहं ममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वानुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्यनुपपत्तेः ।

(१।१।१ पृष्ठ २)

देह और इन्द्रिय आदि में 'अहं' 'मम' रहित प्रमाता की उपपत्ति नहीं हो सकती । अतः प्रमाण की भी प्रवृत्ति नही ।

नोट—यहाँ यह क्यों नहीं मानते कि यह प्रवृत्ति आत्मा जो चेतन है उसके कारण है ?

२२—(आ) यथा सुप्तस्य प्राकृतस्यजनस्य स्वप्न उच्चावचान्भावान्पश्यतो निश्चितमेव प्रत्यक्षाभिमतं विज्ञानं भवति प्राक्प्रबोधनात् न च प्रत्यक्षाभासाभिप्रायस्तत्काले भवति, तद्वत्।

(२।१।१४, पृष्ठ १६८)

जैसे स्वप्न में मनुष्य अतथ्य देखता है ऐसे ही जाग्रत में भी अतथ्य ही है।

२३—(अ) गायत्री वा इदं सर्वमिति'। न ह्यक्षरंनिवेशमात्राया गायत्र्याः सर्वात्मकत्वं संभवति। तस्माद् यद् गायत्र्याख्य विकारेऽनुगतं जगत्कारणं ब्रह्म तदिह सर्वामित्युच्यते।

(१।१।२५, पृष्ठ ५४)

(क) न स्वप्नादि प्रत्ययवज् जाग्रत् प्रत्यया भवितुमर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्। वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। किं पुनर्वैधर्म्यम्। बाधाबाधाविति ब्रूमः।

(२।२।२१ पृष्ठ २५०)

स्वप्न के प्रत्यय और जाग्रत् के प्रत्ययों में भेद है स्वप्न के प्रत्ययो का बाध हो जाता है जाग्रत के प्रत्ययों का बाध नहीं होता।

(क) विक्रियारहितम्।

(१।१।४ पृष्ठ १४)

ब्रह्म विकार रहित है।

२४—(अ) नहि जीवना-मात्यन्तभिन्नो ब्रह्मणः।

(१।१।३१ पृष्ठ ६१)

ब्रह्म से *भिन्न* जीव *नहीं*।

(क) नन्वीश्वरोऽपिशरीरे भवति,सत्यम्। शरीरे भवति न तु शरीर एव भवति।.........
जीवस्तु शरीरएव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृ-
।

(१।२।३, पृ० ६६)

ईश्वर भी शरीर में है। यह ठीक है। परन्तु शरीर में ही है ऐसा नहीं। जीव तो शरीर में ही है। शरीर से बाहर उसकी वृत्ति नहीं जाती। शरीर उसके भोग का अधिष्ठान है।

नोट—यहाँ जीव और ईश्वर का स्पष्ट भेद है।

२५—(अ) कर्तृत्वानुपपत्तेः। (१।१।४, पृष्ठ २२)

(क) सर्व वेदान्तेषु सृष्टि-स्थिति संहारकारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्।

(१।२।६, पृ० ७०)

सब वेदान्तों में प्रसिद्ध है कि ईश्वर सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाला है।

२६—(अ) नशारीरस्य तनुमहिम्नः।

(१।२।२३ पृष्ठ ८५)

जीव अल्पशक्ति है। वह सब भूतों की योनि नहीं हो सकता।

(क) नहि जीवनामात्यन्तभिन्नो ब्रह्मणः।

(१।१।३१, पृ० ६१)

२७—(अ) परमार्थावस्थायां सर्वव्यवहाराभावं वदन्ति वेदान्ताः सर्वे।

(२।१।१० पृष्ठ २०१)

परमार्थ अवस्था में सब व्यवहारों का अभाव होता है। ऐसा वेदान्त मानता है।

(क) व्यवहारावस्थायां तूक्तः श्रुतावपि ईश्वरादिव्यवहारः।

(२।१।१० पृष्ठ २०१)

व्यवहार अवस्था में तो वेद में भी ईश्वरादि का व्यवहार किया है।

नोट—व्यवहार परमार्थ से भिन्न क्यों है? यदि व्यवहार परम अनर्थ है तो वेद में इसका प्रतिपादन क्यों है? वेद को तो सूर्य्यवत् कहा है।

२८—(अ) यत् सर्वज्ञं सर्वशक्ति ब्रह्मनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं शारीराद्धिकमन्यत्, तद्वयं जगतः स्रष्टृ ब्रूमः।

(२।१।२२ पृष्ठ २०८)

जो सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान, नित्य शुद्ध बुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है और जीव से बड़ा है, उसी को हम जगत् का स्रष्टा कहते हैं।

(क) जीवस्य संसारित्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वं·····सम्यग्ज्ञानेन बाधितत्वात्।

(२।१।२२, पृष्ठ २०६)

सम्यग् ज्ञान से जीव का संसारीपन और ब्रह्म का स्रष्टा होना बाधित हो जाता है।

नोट—जब बाधित हो गया तो ब्रह्म का स्रष्टा होना भी झूठा रहा।

२९—(अ) सामान्याद्धि विशेषा उत्पद्यमाना दृश्यन्ते मृदादेर्घटादयो न तु विशेषेभ्यः सामान्यम्।

(२।३।९ पृष्ठ २७१)

सामान्य से ही विशेष उत्पन्न हुये देखे जाते हैं जैसे मिट्टी से घड़े आदि। विशेष से सामान्य नहीं।

नोट—यहाँ शंकर स्वामी सामान्य विशेष का भेद स्वीकार करते हैं।

(क) न च वैशेषिकैःकल्पितेभ्यः षड्भ्यः पदार्थेभ्योऽन्येऽधिकाः शतं सहस्रं वार्था न कल्पयितव्या इति निवारको हेतुरस्ति।

(२।२।१७, पृष्ठ २३७)

वैशेषिक ने छः पदार्थों की कल्पना की है। सौ और हजार की भी हो सकती है। कोई हेतु तो है नहीं।

नोट—यहाँ वैशेषिकों के छः पदार्थों का मखौल उड़ाया है और आगे स्वयं इन्हीं को माना है।

ग्यारहवाँ अध्याय

शांकर-सूक्तियाँ

यद्यपि शांकर-भाष्य में मौलिक भूलें हैं तथापि जैसा हम पहले कह चुके हैं श्री शंकराचार्य महाराज के भाष्य में अनेक ऐसी सूक्तियां पाई जाती हैं जिन से वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति के उत्थान में बड़ी सहायता मिलती है। यदि मायावाद, छायावाद, स्वप्नवाद, ब्रह्मैक-वाद, जीव-ईश्वर-अभेद वाद, प्रकृति-विरोधवाद को छोड़ दिया जाय या आँख से ओझिल कर दिया जाय तो शांकर-भाष्य अर्णव में बहुत से रत्न हैं जो वेद तथा वैदिक ग्रन्थों से मथ कर ही निकाले गये हैं। उनसे पाठकों को बहुत लाभ हो सकता है। हम यहाँ कुछ नमूने के तौर पर देते हैं :—

(१)

वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिति रूप विषये ।

(२।१।१ पृष्ठ १८२)

वेद स्वतः प्रमाण है। इसके प्रमाणत्व में किसी अन्य को अ[illegible] नहीं। जैसे सूर्य्य की रूप विषय में।

(२)

ब्रह्म जिज्ञासा के लिये चार बातें चाहियें :—

(अ) नित्यानित्य वस्तु विवेकः

नित्य और अनित्य की पहचान !

(आ) इहामुत्रार्थभोगविरागः ।

लोक और परलोक के भोग से विरक्ति !

(इ) शमदमादि साधन संपत् ।

शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान रूपी छः मानसिक वृत्तियां।

(ई) मुमुक्षुत्व।

मोक्ष की इच्छा!

(१।१।१ पृष्ठ ५)

(३)

महतः ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थविद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञ गुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोस्ति। (१।२।३ पृष्ठ ६)

ऋग्वेद आदि बड़े शास्त्र हैं। उनमें अनेक विद्यायें हैं। दीपक के समान वे सब अर्थों के द्योतक हैं। ऐसे सर्वगुण सम्पन्न शास्त्रों का प्रकाश सर्वज्ञ ईश्वर के सिवाय और किसी से नहीं हो सकता।

(४)

तच्च सम्यग् ज्ञानमेकरूपं वस्तुतन्त्रत्वात्। एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः। लोके तद्विषयं ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमित्युच्यते यथाग्निरुष्ण इति। (शां० भा० २।१।११ पृष्ठ १६४)

जो ज्ञान एक रूप रहे वह सम्यक् है, क्योंकि वह वस्तु के आश्रित है। परमार्थ वही है जो एक रूप में स्थित रहे, जैसे अग्नि की उष्णता।

(५)

ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसं तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यं, पुरुषतन्त्रत्वात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं प्रमाणं च यथाभूत वस्तु विषयमतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथावा कर्तुमशक्यं केवलं वस्तु तन्त्रमेव तत्। (१।१।४ पृष्ठ १८)

ध्यान यद्यपि मानस व्यापार है तो भी वह पुरुष के आधीन है, करे, न करे, या अन्यथा करे। ज्ञान प्रमाण जन्य है प्रमाण वस्तु

विषय के आश्रित है। इसलिये ज्ञान में करने, न करने, या उल्टा करने का प्रश्न नहीं। वह वस्तु के आधीन है।

(६)

ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानक्रियां प्रति स्वातंत्र्यं ब्रह्मणो हीयते। अथानित्यं तदिति ज्ञानक्रियाया उपरमेतापि ब्रह्म, तदा सर्वज्ञान शक्तिमत्त्वेनैव सर्वज्ञत्वमापतति। (१।१।५ पृष्ठ २५)

यदि ब्रह्म सर्वज्ञ है और उसका ज्ञान नित्य है तो संसार में जो क्रियायें हुआ करती हैं उनके जानने के लिये ब्रह्म स्वतन्त्र न रहेगा। क्योंकि उसका ज्ञान बदलेगा नहीं। और यदि वह ज्ञान अनित्य है तो ब्रह्म कभी ज्ञान क्रिया से उपरत भी हो जायगा। अर्थात् ब्रह्म कभी ज्ञान क्रिया को नहीं भी करेगा। इसलिये यही मानना चाहिये कि ब्रह्म की सर्वज्ञता से "सर्वज्ञान-शक्ति" ही अभिप्रेत है।

(७)

"प्राण" के चार अर्थ :—

[१] वायुमात्र [२] देवतात्मा [३] जीव [४] परंब्रह्म।

(१।१।२८ पृष्ठ ५६)

(८)

न ह्यन्यत्र परमात्मज्ञानाद्धिततम प्राप्तिरस्ति।

(१।१।२८ पृष्ठ ५७)

परमात्मा के ज्ञान से इतर और कोई परम हितकारी प्राप्ति नहीं है।

(९)

क्रतुः संकल्पो ध्यानमित्यर्थः। (१।२।१ पृष्ठ ६३)

'क्रतु' का अर्थ है संकल्प या ध्यान!

(१०)

यद्यपि अपौरुषेये वेदे वक्तुरभावान् नेच्छार्थः संभवति तथाप्युपादानेन फलेनोपचर्यते। लोके हि यच्छब्दाभिहितमुपादेयं

भवति तद् विवक्षितमित्युच्यते, यदनुपादेयं तदविवक्षितमिति तद् वद् वेदेऽप्युपादेयत्वेनाभिहितं

विवक्षितं भवति इतरदविवक्षितम्। (१।२।२, पृ० ६४-३५)

वेद अपौरुषेय है। कोई उसका वक्ता नहीं। इस लिये 'कहने की इच्छा का प्रश्न नहीं उठता। तथापि उपादान फल के उपचार से ऐसा कहा जाता है। लोक में देखते हैं कि जो उपादेय है उसको विवक्षित (कहने योग्य) कहते हैं। जो उपादेय नहीं उसको 'अविवक्षित'। ऐसे ही वेद में भी है।

(११)

नन्वीश्वरोपि शरीरे भवति। सत्यम्। शरीरे भवति न तु शरीर एव भवति, 'ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्' 'आकाशवन् सर्वगतश्च नित्यः' इति च व्यापित्वश्रवणात्। जीवस्तु शरीर एव भवति, तस्य भोगाधिष्ठानाच्छरीरादन्यत्र वृत्त्यभावात्।

(शां० भा० १।२।३ पृ० ६६)

जीव को 'शारीर' (शरीर वाला) कहते हैं। ईश्वर को नहीं। इस पर प्रश्न करते हैं कि जब ईश्वर भी शरीर में रहता है तो वह भी शारीर क्यों नहीं? इसका उत्तर देते हैं। यह ठीक है कि ईश्वर शरीर में है। परन्तु 'शरीर में ही है' ऐसा नहीं। श्रुति में कहा है कि 'वह पृथ्वी से भी बड़ा है', ।अन्तरिक्ष से भी बड़ा है। आकाश के समान व्यापक है ' नित्य है। इसके विरुद्ध जीव केवल शरीर में ही है। शरीर से बाहर नहीं। शरीर ही उसके भोग का स्थान है। शरीर से बाहर उसकी वृत्ति नहीं। अतः जीव ही *"शारीर"* है। ईश्वर नहीं।

(१२)

कर्मफल भोगस्य प्रतिषेधकमेतद् दर्शनं, तस्य संनिहितत्वात्। न विकारसंहारस्य प्रतिषेधकं, सर्ववेदान्तेषु सृष्टि स्थिति संहार कारणत्वेन ब्रह्मणः प्रसिद्धत्वात्। (१।२।६, पृ० ७०)

ईश्वर कर्मफल का भोक्ता नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि ईश्वर सृष्टि में विकार और संहार भी नहीं करता। सब वेदान्त में प्रसिद्ध है कि ईश्वर सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाला है।

(१३)

विश्वश्चायं नरश्चेति, विश्वेषां वायं नरः, विश्वे वा नरा अस्येति विश्वानरः परमात्मा, सर्वात्मत्वात्। विश्वानर एव वैश्वानरः।

अग्नि शब्दोपि अग्रणीत्वादि योगाश्रयेण परमात्म विषय एव भविष्यन्ति। (१।२।२८ पृष्ठ ६१)

परमात्मा को वैश्वानर कहते हैं क्योंकि वह विश्व-नर या विश्व का नर है। या सब नर उसी के हैं।

अग्रणी होने से अग्नि भी ईश्वर का ही नाम है।

(देखो स्वामी दयानन्द का सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास पहला)।

(१४)

सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि वारयतीति सा वरणा, सर्वाणीन्द्रियकृतानि पापानि नाशयतीति सा नासीति।

भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्यौलोकस्य परस्य च संधिर्भवति। (१।२।३२, पृ० ६३)

जो पापों को वारे वह वरणा, जो उनको नासे वह नासी। यह 'वाराणसी' की व्युत्पत्ति है। नाक के ऊपर भौंओं के बीच का भाग ईश्वर के ध्यान होने से 'वाराणसी' है। आजकल 'वाराणसी' काशी या बनारस नगर का नाम है।

(१५)

नहीदमतिगम्भीरं भावयाथात्म्यं मुक्तिनिबन्धनमागममन्तरेणोत्प्रेक्षितुमपि शक्यम्। रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः, लिङ्गाद्यभावाच्च नानुमानादीनामिति चावोचाम।

(२।१।११, पृ० १६३)

मुक्ति का विषय अति गंभीर है। इसलिये वेद से ही इसका ज्ञान होता है। मुक्ति में न तो रूप आदि है कि प्रत्यक्ष से ज्ञान हो सकता। न लिङ्ग आदि हैं कि अनुभाव आदि से ज्ञान हो सके।

(१६)

यद्यपि अस्माकमियं जगद्बिम्बविरचना गुरुतरसंरम्भेवाभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवलेयम्। अपरिमित शक्तित्वात्।

(२।१।३३, पृ० २१७)

यद्यपि जगत् की रचना हमको बड़ी भारी तैय्यारी का फल प्रतीत होती तो भी ईश्वर के लिये यह लीला के समान है क्योंकि ईश्वर की शक्ति अपरिमित है।

(१७)

यथाहि पर्जन्यो व्रीहि यवादि सृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादि वैषम्ये तु तत्तद् बीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति। देवमनुष्यादि वैषम्येतु तत्तज् जीवगतान्येवा साधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति।

(२।१।३४, पृ० २१७-२१८)

जैसे चावल जौ आदि के उत्पत्ति में वर्षा साधारण कारण है और उनका भेद उनके बीजों के भेद के कारण है इसी प्रकार देव मनुष्य आदि की उत्पत्ति में ईश्वर सामान्य कारण है और उनके भेद उन उन जीवों के भिन्न भिन्न कर्मों के कारण हैं।

(१८)

'पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते। तेन बद्ध वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन च।'

शरीर के आठ बन्धन हैं। इनसे बद्ध होता है। और इनसे जो मुक्त है वही मुक्त है।

(१) प्राणादि पञ्चकम् ।

प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान ।

(२) भूतसूक्ष्म पञ्चकम् ।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ।

(३) ज्ञानेन्द्रिय पञ्चकम् ।

आँख, कान, कान, नाक, जीभ, त्वचा ।

(४) कर्मेन्द्रिय पञ्चकम् ।

हाथ, पैर, वाणी, पायु, उपस्थ ।

(५) अन्तःकरण चतुष्टय ।

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ।

(६) अविद्या ।

(७) काम-वासना ।

(८) कर्म ।

(२।४।३ पृष्ठ ३११)

(१९)

अन्नशब्दश्चोपभोगहेतुत्व सामान्यादनन्नेऽप्युपचर्यमाणो दृश्यते । यथा विशोऽन्नं राज्ञां पशवोऽन्नं विशामिति ।

(३।१।७ पृष्ठ ३२९)

'अन्न' शब्द सब उपभोग की सामग्री के अर्थों में भी आता है। केवल खाद्य पदार्थ के अर्थ में ही नहीं। जैसे प्रजा राजा का अन्न है और पशु प्रजा के अन्न हैं।

(२०)

यथेह क्षुधिताबाला मातर पर्युपासते, एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते । (छा० २।८४।५)

(३।३।४० पृष्ठ ४१४)

जैसे भूखे बालक माता को चाहते हैं ऐसे ही सब भूत अग्निहोत्र को चाहते हैं। अर्थात् बिना अग्निहोत्र के पंचभूत अपूर्ण रहते हैं। अग्नि-पूरक है। उससे क्षीण अंश की पूर्ति हो जाती है।

(२१)

यदा प्रक्रान्तस्य विद्यासाधनस्य कश्चित् प्रतिबन्धो न क्रियते उपस्थितविपाकेन कर्मान्तरेण तदेहैव विद्योत्पद्यते, यदा तु खलु तत् प्रतिबन्धः क्रियते तदामुत्रेति। (।३।४।५१ पृ० ४५७)

यदि किसी अन्य कर्म का फल बाधक न हो तो विद्या का फल इसी जन्म में मिलता है। और यदि कोई प्रतिबन्ध आ जाय तो दूसरे जन्म में।

(२२)

उपासनं नाम समानप्रत्यय प्रवाहकारणं न च तद् गच्छते। धावतो वा संभवति गत्यादीनां चित्तविक्षेपकत्वात्। तिष्ठतोऽपि देहधारणे व्यापृतं मनोन सूक्ष्मवस्तु निरीक्षणक्षमं भवति। शयानस्याप्यकस्मादेव निद्रयाभिभूयेत। आसीनस्य त्वेवं जातीयको भूयान् दोषः सुपरिहर इति। (४।१।७, पृष्ठ ४७०)

एक ही प्रत्यय का प्रवाह करना उपासना है। उपासना चलते या दौड़ते नहीं हो सकतीं। क्योंकि चलने फिरने से चित्त विक्षिप्त होता है। खड़े होने में भी मन शरीर के रोके रखने में व्यग्र रहता है अतः सूक्ष्म वस्तु का निरीक्षण नहीं कर सकता। लेटने में निद्रा की संभावना रहती है। इसलिये बैठ कर ही उपासना करने में दोषों से बचत है।

(२३)

नहि वयं कर्मणः फलदायिनी शक्तिमवजानीमहे। विद्यत एव सा, सा तु विद्यादिना कारणान्तरेण प्रतिवध्यत इति वदामः। (४।१।१३, पृ० ४७३)

हम कर्म की फलदायिनी शक्ति का अनादर नहीं करते। वह तो होती ही है। परन्तु हमारा तो इतना कहना है कि वह विद्या आदि अन्य कारणों से दब जाती है।

नोट—इसी का नाम कर्म-क्षय है।

(२४)

स्मरति ह्यापस्तम्बः—तद् यथाम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते । इति ।

(४।३।१४, पृ० ५००)

आप स्तम्ब का कथन है कि जैसे फल के लिये आम लगाओ तो छाया और गन्ध ऊपर से लाभ में मिलती हैं इसी प्रकार धर्म का आचरण करने से अर्थ-लाभ तो ऊपर से हो जाता है ।

(२५)

जगदुत्पत्यादि व्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तनां भवितुमर्हति जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैतेश्वरस्य ।

(४।४।१७, पृ० ५१०)

अणिमा आदि शक्तियाँ तो मुक्त जीवों को भी प्राप्त हो जाती हैं परन्तु जगत् का रचना आदि तो नित्य सिद्ध ईश्वर के ही वश में है । अर्थात् मुक्त जीव सृष्टि की उत्पत्ति नहीं कर सकते ।

नोट—इससे ज्ञात होता है कि मुक्त जीव जिन्होंने अविद्या से छूट कर मुक्ति को प्राप्त किया है ब्रह्म नहीं हुये । वे जीव ही हैं, और नित्यसिद्ध ब्रह्म अलग है जो सृष्टि करता है । यहाँ शंकर स्वामी ने 'ईश्वर' शब्द अपर ब्रह्म के लिये प्रयुक्त नहीं किया जो मायावश सृष्टि-उत्पत्ति करता है । शांकर मत में ईश्वर नित्य सिद्ध नहीं । ब्रह्म ही नित्य सिद्ध है ।

